स्तवन

ॐ

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥१॥

मङ्गलम्

ॐ

अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसंततिम् ।
स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं परम् ॥१॥
अतिकल्याणरूपत्वात् सर्वकल्याणसंश्रयात् ।
स्मर्तॄणां वरदत्वाच्च ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः ॥२॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

सामार

'ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-१' अपने पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। महाराजश्रीके प्रवचनोंको संकलित कर प्रकाशित करनेमें आपने हमारा हमेशा उत्साह-वर्द्धन किया है। हमारे अन्य प्रकाशनोंकी भाँति यह ग्रन्थ भी आपके लिए अत्यधिक उपादेय सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं।

इस ग्रन्थके प्रकाशनके लिए श्री डी. एम. दहानुकर चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बईने १०,०००-०० दस हजार रुपयेका अनुदान प्रदान किया है। यह बहुत ही प्रसन्नताकी बात है। उनकी यह उदार निष्ठा अवश्य ही प्रशंसनीय है। हम उनके इस अनुकरणीय सहयोगके प्रति कृतज्ञ हैं।

—प्रकाशक

सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट

ग्रन्थके सम्बन्धमें निवेदन

सन् १९६८ के चातुर्मास्यमें बम्बईमें अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजके प्रवचन ब्रह्मसूत्रकी चतु:सूत्रीके शारीरक भाष्यपर हुए थे, जो उसी समय वहाँके भक्तजनोंने टेप कर लिये थे। उसके कोई ४½ वर्ष बाद उनको पुस्तकाकार रूप देनेका दायित्व मुझपर सौंपा गया। कार्य कठिन था क्योंकि विषय-वस्तु और ग्रन्थकी दृष्टिसे ब्रह्मसूत्र अत्यन्त दुरूह माना जाता है। परन्तु पूज्य महाराजश्रीकी कृपासे उसका प्रथम भाग पूरा हो सका है जो आपके सम्मुख है।

इस भागमें शारीरक भाष्य भूमिका, जिसको विषय-वस्तुकी दृष्टिसे अध्यास भाष्य भी कहते हैं, तथा जिज्ञासाधिकरण भाष्य (या ब्रह्मविचार भाष्य) पर कोई बासठ प्रवचनोंका संकलन है। दूसरे भागमें भी लगभग इतने ही प्रवचनोंका संकलन होगा जिसमें शेष तीन सूत्रोंके भाष्यपर व्याख्या होगी।

प्रवचनोंको उनकी विषयवस्तुके विचारसे अध्याय और अनुच्छेदोंके रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे एक तो मूल भाष्यके क्रमसे व्याख्या प्रस्तुत करनेमें सहायता हुई है और दूसरे प्रवचनोंमें स्वाभाविक रूपसे आनेवाली पुनरुक्ति भी किसी अंशमें कम हो सकी है, यद्यपि विषयकी पूर्णताकी दृष्टिसे जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ पुनरुक्तिका विचार नहीं किया गया है। इसके बावजूद प्रवचन शैलीको ज्योंका त्यों रखनेका प्रयास किया गया है।

प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें उस अध्यायकी विषय-वस्तुसे सम्बन्धित मूल भाष्य अर्थसहित दिया गया है। अर्थ तो मूल प्रवचनोंमें नहीं था, इसलिये प्रामाणिकता एवं समरूपताकी दृष्टिको ध्यानमें रखकर मैंने वे अर्थ अधिकांशतः स्वामी सत्यानन्दजी सरस्वती, गोविन्द मठ, वाराणसी

द्वारा अनुदित 'ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य' नामक ग्रन्थसे लिये हैं। एतदर्थ मैं उनका हृदयसे आभारी हूँ।

प्रवचनमें आये प्रमाणोंको खोजकर उनकी सन्दर्भ संख्या देनेका प्रयत्न मैंने किया है, तथापि सब प्रमाणोंके साथ यह नहीं बन पड़ा है। विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

यह महाराजश्रीके अगाध पाण्डित्य, हस्तामलकवत् आत्मतत्त्वकी अपरोक्षानुभूति एवं उनकी सरस प्रवचन शैलीकी ही विशेषता थी कि श्रोताओंने बहुत बड़ी संख्यामें तथा चार मास तक नित्यप्रति अत्यन्त धैर्यके साथ मंत्रमुग्ध हुए-से ये सब प्रवचन सुने थे। मुझे अब भी आशा है कि जो भी पाठक इस ग्रन्थको श्रद्धाके साथ तथा धैर्यके साथ पढ़ेंगे उनके हृदयमें आत्मतत्त्वका प्रकाश हुए बिना नहीं रहेगा।

इन प्रवचनोंमें वेदान्त-सिद्धान्तकी छोटी-बड़ी सभी आवश्यक प्रक्रियाएँ आ गयी हैं। अतः अध्यात्मके जिज्ञासुओंके लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

अन्तमें ग्रन्थमें हुई त्रुटियोंके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। वे त्रुटियाँ मेरी ही होंगी क्योंकि अपने अल्पज्ञान और अल्प सत्संगकी सीमाओंका मुझे ज्ञान है। हो सकता है कि कहीं मैं महाराजश्रीके वाक्योंको सही परिप्रेक्ष्यमें या सही शब्दोंमें भी न रख सका होऊँ। समयाभावके कारण मैं पूज्यश्रीको आद्योपान्त ग्रन्थ नहीं पढ़वा सका हूँ। आशा है विद्वान् पुरुष मुझे क्षमा करते हुए उन त्रुटियोंसे अवगत करायेंगे जिससे वे अगले संस्करणमें दूर हो सकें।

पूज्यश्रीके चरणोंमें अवनत।

फाल्गुन पूर्णिमा
१६ मार्च १९७६

विनीत
'विष्णु'

विषय-सूची

अनन्तश्री स्वामी
अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ब्रह्मसूत्र-प्रवचन

(१. १)

ब्रह्मसूत्रका प्राथमिक परिचय

भारतीय वाङ्मयमें 'वेदान्तदर्शन' अथवा 'ब्रह्मसूत्र' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शारीरक-दर्शन, पूर्णप्रज्ञ-दर्शन आदि अनेक नामोंसे यह सुप्रसिद्ध है। सम्पूर्ण वैदिक-धर्मावलम्बियों एवं सम्प्रदायों द्वारा यह ग्रन्थ मान्य है। इसके रचयिता महामहिम श्री वेदव्यास हैं। इसमें श्रुतियोंके तात्पर्यका निर्णय है और है अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका निरूपण। यह शैव, शाक्त, सौर, गाणपत, वैष्णव तथा विद्वत्समाजमें सभी साम्प्रदायिकोंके द्वारा व्याख्यात है। आजकल एक विवाद चलता है कि ब्रह्मसूत्रके रचयिता कृष्णद्वैपायन व्यास हैं अथवा बादरायण व्यास? मूलतः प्रश्न यह है कि ये दो व्यास हैं अथवा एक? यदि दो हैं तो ब्रह्मसूत्रके रचयिता कौन? हमारे प्राचीन इतिहास और पुराण-ग्रन्थोंके अनुसार कृष्णद्वैपायन व्यास तथा बादरायण व्यास दो व्यक्ति नहीं, एक ही थे और वे द्वापरान्तमें अवतीर्ण हुए थे। अतः परम्परासे श्री वेदव्यास ही इस ग्रन्थके रचयिता स्वीकार किये जाते हैं।[1]

---

१. श्री शंकराचार्य गीता-महाभारतके रचयिताको 'व्यास' नामसे तथा ब्रह्मसूत्रके रचयिताको 'बादरायण' नामसे लिखते हैं। उनके अनुयायी वाचस्पति, आनन्दगिरि आदि दोनों व्यासोंको एक ही मानते हैं, जब कि श्री रामानुज आदि अन्य विद्वान् श्री कृष्णद्वैपायन व्यासको ही स्पष्टतः ब्रह्मसूत्रके रचयिता मानते हैं।

हम वेदान्त-सम्प्रदायविद् प्रमेय-प्रधानवादी हैं। अर्थात् हम इसपर बल नहीं देते कि वक्ता कौन है ? इसपर भी बल नहीं देते कि कोई बात किस भाषामें कही गयी है और वह शुद्ध है या अशुद्ध ? हम वह व्याकरण जानते हैं, जिससे अशुद्ध भाषाको शुद्ध बनाया जा सकता है। हम यह देखते हैं कि वस्तु-दृष्टिसे बातमें कितना दम है। वह वस्तु, वह बात सर्वोपरि है या नहीं ? हमलोग वस्तुकी प्रधानतासे सिद्धान्तका निर्णय करते हैं, वक्ता या वचनकी प्रधानतासे नहीं। अतः ब्रह्म-विचारके लिए ब्रह्मसूत्रके रचयिताकी निश्चितता अथवा अनिश्चिततासे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

ब्रह्मसूत्रकी महत्ताका सूचक यह तथ्य है कि सभी वैदिक-सम्प्रदायाचार्योंने इसपर अनेक भाष्य, टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी हैं। वैष्णवोंमें रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क तथा मध्वके भाष्य हैं। चैतन्यमहाप्रभुके सम्प्रदायमें भी बलदेव विद्याभूषणकी टीका है। रामानन्दियोंमें आनन्दभाष्य-टीका प्रसिद्ध है। शैवोंमें श्रीकण्ठभाष्य, श्रीकरभाष्य है। श्री शंकराचार्यका 'शारीरक-भाष्य' तो सुप्रसिद्ध ही है और उनके अनुयायियोंकी भी लगभग ५० टीकाएँ हैं। भाष्योंपर अनेक टीकाएँ हैं। जैसे शांकरभाष्यपर भामती, भामतीपर कल्पतरु, कल्पतरुपर परिमल आदि। इधर रत्नप्रभा, न्यायनिर्णय, पंचपादिका आदि। श्री रामानुज-भाष्यपर भाव-प्रकाशिका, श्रुतप्रकाशिका, श्री वल्लभाचार्यके अणुभाष्यपर रश्मि आदि टीकाएँ हैं। टीकाओंपर भी टीकाएँ हैं। जैसे : पंचपादिकापर विवरण, तत्त्वविवेचन, विवरण-दीपन आदि। आशय यही कि आस्तिक दर्शनाचार्योंमें 'ब्रह्मसूत्र' एक अत्यन्त समादृत प्रामाणिक ग्रन्थ है।

अब हम ब्रह्मसूत्रकी शैली और स्वरूपपर विचार करते हैं। इस ग्रंथकी शैली सूत्र-शैलीमें है। श्री वल्लभाचार्यके अनुसार जैसे

मालामें मणियाँ अनेक होती हैं, परन्तु उनमें अनुस्यूत सूत्र एक होता और वही सूत्र उस मालाकी उपयोगितामें मूल सहायक होता है, वैसे ही अनेक श्रुति-मन्त्रोंको 'ब्रह्मसूत्र' एक समन्वित रूपमें प्रस्तुत कर, उनकी माला गूंथकर जिज्ञासुके उपयोगके लिए ब्रह्मविचारका एक आलम्बन प्रस्तुत करता है। **सूचनात्** सूत्रम् अर्थात् सूचित करनेके कारण यह सूत्र कहलाता है। सूत्र अर्थात् सूचक। साधारण प्रयोगमें भी हम कहते ही हैं कि 'समाचारका सूत्र मिल गया, चोरोका सूत्र मिल गया।' इसी प्रकार ब्रह्मका सूचक होनेसे यह 'सूत्र' कहलाता है।

सूत्रकी व्याख्या पद्मपुराणमें इस प्रकार बतायी गयी है :

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

'सूत्र-साहित्यके विद्वानोंका कहना है कि सूत्रमें शब्द थोड़े होने चाहिए, उसका अर्थ असंदिग्ध होना चाहिए, सारयुक्त होना चाहिए, पूर्वापरकी ठीक-ठीक परीक्षाके बाद कहा गया होना चाहिए, उसे कोई काट न सके तथा वह निर्दोष होना चाहिए।'

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र सूत्र-प्रणालीमें ग्रथित है। शांकरमतानुसार, कुल मिलाकर इस ग्रन्थमें ५५५ सूत्र हैं, जो १९१ अधिकरणों (विषयों) के अन्तर्गत हैं। [दूसरे आचार्योंके मतमें यह संख्या थोड़ी भिन्न है]। ये अधिकरण और सूत्र 'ब्रह्मसूत्र' के चार अध्यायोंमें बिखरे हैं। प्रथम **समन्वय-अध्याय** है, जिसमें उन श्रुतियोंका समन्वय किया गया है। जिनमें ब्रह्मका स्पष्ट वर्णन है। द्वितीय **अविरोध-अध्याय** है, जिसमें उन श्रुतियोंका विवरण है जिनमें विरोध प्रतीत होता है; किन्तु वास्तवमें अविरोध है। तृतीय **साधन-अध्याय** है, जिसमें ब्रह्मज्ञानकी श्रुतिप्रतिपादित

साधनाका वर्णन है। चतुर्थ **फलाध्याय** में साधनाके फल मोक्षका स्वरूप, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति आदिसम्बन्धी श्रुतियोंपर विचार है। प्रत्येक अध्याय पुनः ४-४ पादों में विभक्त है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रमें सम्पूर्ण औपनिषद दर्शन ४ अध्याय, १६ पाद, १९१ अधिकरण तथा ५५५ सूत्रोंमें ग्रथित है।

अब हम ब्रह्मसूत्रकी विषय-वस्तुपर किंचित् प्रारम्भिक विचार करते हैं। ब्रह्मसूत्रमें जिस वस्तुका वर्णन है वह है 'ब्रह्म' जो ग्रंथके नामसे ही स्पष्ट है। 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है, निरतिशय बृहद्। बृहद् अर्थात् बड़ा। जो निरतिशय बड़ा है अर्थात् जिसका कोई भी संकोचक नहीं हो सकता, उसे कहते हैं 'ब्रह्म'। ब्रह्मको देशकी कोई छोटी-बड़ी माप अथवा अन्दर-बाहरका भेद परिच्छिन्न (आच्छादित) नहीं बना सकता और न लाख-अरब वर्षोंका काल उसे परिच्छिन्न बना सकता है; क्योंकि 'ब्रह्म'शब्दके अर्थका कोई संकोचक निमित्त है ही नहीं। दूसरे शब्दोंमें परिपूर्ण, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न 'ब्रह्म' ही ब्रह्मसूत्रकी विषय-वस्तु है।

यहाँ थोड़े विनोदके लिए आपको अपने एक परिचित महात्माका मनोराज्य सुनाता हूँ। वे कहते थे कि केवल 'ब्रह्म-शब्द ही परिपूर्ण है, अन्य शब्द नहीं। उपपत्तिके लिए वे कहते थे कि यदि स्वर और व्यञ्जनोंकी गिनती की जाय (स्वर १ से १६ तक और व्यंजन १ से ३३ तक) तो 'ब्रह्म' शब्दके अक्षरोंका योग इस प्रकार होगा :

ब्रह्म = ब् + र + ह् + म = २३ + २७ + ३३ + २५ = १०८।

चूंकि १०८ संख्या पूर्णकी सूचक है, अतः 'ब्रह्म'-शब्द भी पूर्णका वाचक है। इस रीतिसे 'राम' और 'कृष्ण' शब्द पूर्णके वाचक नहीं बैठते, पर 'सीताराम' तथा 'राधिका-कृष्ण' पूर्णताके

वाचक बैठते हैं। वे हँसीमें राम और कृष्णकी अपेक्षा ब्रह्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते थे। उन्हींके अनुसार "यदि ब्रह्मको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं किया जाय, तो वही ब्रह्म तुरन्त 'भ्रम' बन जाता है।' कैसे ? तो देखिये :

ब्रह्म = ब् + र + ह् + म = (ब् + ह्) + र + म = भ् + र + म = भ्रम।

(अज्ञानसे, वर्णोंके स्थान-परिवर्तनसे)

इसलिए आइये, ब्रह्मको हम ठीक-ठीक हृदयङ्गम करें।

आपको एक सच्ची बात बताते हैं। झूठा अभिमान मत कीजिये कि आप जितना जानते हैं, उतना ही सच है। एक वस्तु ऐसी होती है जो नित्य होकर कालकी अनादि-अनन्त धाराके साथ बहती रहती है। एक वस्तु ऐसी होती है जो भरपूर होकर देशके साथ रहकर देशके निर्देशमें अपनी व्यापकता कायम रखती है। एक वस्तु ऐसी होती है, जो कार्यमें कारणरूपसे अनुस्यूत रहती है। किन्तु एक वस्तु ऐसी भी 'है', जिसमें कालकी कलना नहीं, देशका दैर्घ्य-विस्तार नहीं है और न वस्तुकी कारण-कार्यता ही है। कार्यके प्रागभावसे उपलक्षित, कालकी अनेकतामें एकरूपसे रहनेवाली, देशके अन्तर और बाह्यका भेद स्वीकार न करनेवाली, कारण-भावसे भी रहित वह कौन-सी वस्तु है ? वह कारणरूप बीज नहीं, क्योंकि बीजसे बाह्योन्मुख होता है। बीजसे अंकुर बाहर निकलता है। वह कोई अवयव-समष्टिरूप नित्य काल नहीं और न दैर्घ्य-विस्तार-समष्टिरूप परिपूर्ण देश ही है। वह परिच्छेद-सामान्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित तथा उनका विवर्ती अधिष्ठान, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न, देश-काल-वस्तुके परिच्छेदोंसे असंग,

निरतिशय बृहत्-सत्ता, सन्मात्र, चिन्मात्र तथा आनन्दमात्र अद्वितीय है और वही है ब्रह्म।

ऐसी ब्रह्मसत्ताको जानने, अनुभव करने या प्राप्त करनेकी इच्छा महान् पुण्योंके परिपाकसे ही होती है। वेदान्तियोंका कहना है कि वह अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही होती है। 'ब्रह्मसूत्र' में **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** के 'अथ' शब्दका यही अर्थ है। जो ब्रह्म कभी अनुभवका विषय नहीं बनता, जिसमें अनुभवकी विषयता भी नहीं, जो स्वयं अनुभवरूप है उसे प्राप्त करनेकी इच्छा आश्चर्यरूप ही है! जिसे परिच्छिन्न वस्तुओं से तृप्ति नहीं हुई, जो परिच्छिन्नजन्य तृप्तिकी निवृत्ति और परिच्छिन्नसे विलक्षण परमानन्दकी प्राप्तिके लिए जाग्रत् है, उसके हृदयमें ब्रह्मको जानने, अनुभव करनेकी इच्छा अथवा जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

अनन्त जन्मोंके पुण्योंके परिपाक तथा वर्तमान जन्मकी तत्परतासे प्रथम 'ब्रह्म है', यह भाव उत्पन्न होता है। मानो ब्रह्मका यही प्रथम दर्शन है। इसके अनन्तर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। अब यदि ब्रह्म ऐसी वस्तु होती जो इन्द्रियोंका विषय बनती, जिसे सूँघकर बता सकते कि उसमें चमेलीकी गन्ध है या गुलाब की जिसे चखकर बता सकते कि वह खट्टी है या मीठी, देखकर बता सकते कि लाल है या पीली, सुनकर बता सकते कि वह गालीरूप है या स्तुतिरूप, छूकर बता सकते कि कठोर है या कोमल—तब तो ब्रह्मका साक्षात्कार इन्हीं इन्द्रियोंसे हो जाता। उसके लिए किसी शास्त्र-वचन, विचार अथवा ब्रह्मसूत्रकी आवश्यकता न होती। किन्तु ब्रह्म इन्द्रियोंका अविषय है। अतः इन्द्रियाँ कथमपि ब्रह्मसाक्षात्कारमें साधन नहीं। इन्द्रियों एवं मनसे होनेवाला कोई कर्म ब्रह्म-साक्षात्कारका साधन नहीं हो सकता। तब साक्षात् साधन क्या है?

वेदान्ती कहते हैं : अपरिच्छिन्न ब्रह्मके साक्षात्कारका साधन इसकी 'जिज्ञासा' है। जिज्ञासाके अन्तर्गत ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन आ जाते हैं। मूल प्रश्न यह है कि 'क्या आप सचमुच अपरिच्छिन्न ब्रह्मको पाना चाहते हैं?' यदि हाँ, तो विचार करना होगा कि 'जो ब्रह्म मुझसे अलग होगा और मैं जिससे अलग होऊँगा, क्या वह ब्रह्म होगा? जो ब्रह्म जगत्से पृथक् होगा और जगत् जिससे पृथक् होगा क्या वह ब्रह्म होगा?' स्पष्ट है, नहीं। तब विचार करो कि 'मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है, 'मैं' और 'यह' किस एक अधिष्ठानमें प्रतीत हो रहे हैं?'

विचारकी यह प्रक्रिया क्या है, यह उपनिषदोंमें बतायी गयी है और वही क्रमपूर्वक ब्रह्मसूत्रमें प्रदर्शित है। इसीलिए श्रुतिमें कहा गया है : **यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति।** 'जिस एकके जाननेपर यह सब जाना हुआ हो जाता है, वह ब्रह्म है।' फिर कहा : **नावेदविन् मनुते तं बृहन्तम्।** 'जिसने श्रुति-मन्त्रों द्वारा ब्रह्मका मनन नहीं किया, वह ब्रह्मको नहीं जान सकता।' यदि ब्रह्मके विषयमें कहीं सुना ही नहीं, तो उसे जाननेकी इच्छा भी कैसे होगी? अतः अपरिच्छिन्न औपनिषद ब्रह्मके विषयमें सुनाने तथा औपनिषद प्रक्रियासे जिज्ञासा अथवा विचारका साधन प्रदान करनेके लिए ही ब्रह्मसूत्रकी प्रवृत्ति है।

श्रुति नानात्वका निषेध करती है : **नेह नानास्ति किञ्चन।** 'यहाँ कुछ भी नाना नहीं है।' साथ ही यह भी कहती है कि 'यह आत्मा ही ब्रह्म है' : **अयमात्मा ब्रह्म** (माण्डूक्य०, २)।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

(कठ० २.१.११)

'यह परमात्मा मनसे ही जाननेयोग्य हैं। यहाँ कुछ भी नाना नहीं है। जो यहाँ थोड़ा-सा भी नानात्व देखता है, वह मृत्युसे मृत्यु अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होता रहता है।

इस तरह ब्रह्म-जिज्ञासाका प्रयोजन 'अनर्थका समूल उच्छेद' हैं। प्रथम सूत्र है : **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** तथा अन्तिम है : **अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्**। अतः ब्रह्म-जिज्ञासाका फल है, अनावृत्ति अर्थात् जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति; राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान सभी द्वन्द्वोंसे मोक्ष तथा अपरिच्छिन्न ब्रह्मके सहज आनन्दस्वरूपमें स्थिति अथवा अस्थितिके भ्रमका उच्छेद। आप ब्रह्मको जानिये और जाननेसे ही आप देखेंगे कि आप पहलेसे मुक्त हैं। आप पायेंगे कि अज्ञानसे ही आप अपनेको बँधा मान रहे हैं, वास्तवमें आप बँधे नहीं हैं।

संसारमें कोई व्यक्ति मरा, किसीका वियोग हुआ अथवा धन-सम्पत्ति नष्ट हुई, तो मनमें दुःख होता है। यह दुःख कहाँसे आया? क्या नष्ट हुए व्यक्ति या वस्तुसे या नाशक्रियासे? नहीं, क्योंकि संसारमें प्रतिदिन व्यक्ति मरते हैं; सम्पत्ति नष्ट होती है, परन्तु हम तो दुःखी नहीं होते। तब क्या 'सम्बन्धसे, व्यक्तिके मोहसे या धनके लोभसे? निश्चय ही दुःखका हेतु वस्तु या व्यक्ति नहीं, वरन् उनके प्रति मनमें स्थित मोह ही है। दुःखका उद्गम बाहर नहीं, मनके भीतर है और चेतनके सभी सम्बन्ध अज्ञानजन्य होते हैं। तब जिस समय कोई व्यक्ति या वस्तु हमारे पास थी, उस समय भी हम उससे सम्बद्ध नहीं थे, असंग थे और आज भी, जब वे नहीं हैं, हम असंग-असम्बद्ध ही हैं। इसी ज्ञानसे दुःख निवृत्त हो जाता है।

तनिक विचार कीजिये, सुख और दुःखमें कौन सूक्ष्म है और किसमें गहराई अधिक है? दुःखकी गति केवल जाग्रत् और

स्वप्नावस्थातक ही रहती है, जब कि सुख सुषुप्तिमें भी रहता है। **सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्** 'मैं सुखसे सो रहा था, मुझे उस समय कुछ भी पता नहीं रहा'—यह सुषुप्तिकालका अनुभव है। सुषुप्तिमें सुख रहता है, किन्तु दुःख नहीं। अतः दुःख-की अपेक्षा सुख सूक्ष्म है। दुःख बाहरसे आया है, जब कि सुख भीतरकी वस्तु है। सुख आत्माका स्वरूप है। जहाँ आत्मा होगा, वहाँ सुख अवश्य होगा। बस, हम सुखको न पहचानकर बाहर-की चीजोंको ही पकड़कर दुःखी हो रहे हैं। आवश्यकता है, सुखके आत्माभिन्न स्वरूपको जाननेकी।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—'ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता', यही श्रुतिका सिद्धान्त है। ज्ञान किसका? ब्रह्मका। अतः ब्रह्म-जिज्ञासाका फल मोक्ष है। **अनावृत्तिः** अर्थात् जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति उसका उपलक्षण है। वास्तवमें समस्त अनर्थोंका समूल तथा सदैवके लिए उच्छेद ही मोक्ष है। "मैं पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, छोटा हूँ, मोटा हूँ, गोरा हूँ, काला हूँ मूर्ख हूँ, विद्वान् हूँ, धनी हूँ, निर्धन हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, ज्ञानी हूँ, अज्ञानी हूँ, आता हूँ, जाता हूँ, नारकी हूँ, स्वर्गी हूँ" आदि जितने विकल्प अपने बारेमें करके मनुष्य अवसाद या खेद करता है, सभी एक अणु-बम, ब्रह्मास्त्रसे नष्ट हो जाते हैं। उस ब्रह्मास्त्रका नाम है 'ब्रह्मज्ञान'। जो वस्तु अज्ञानसे ही होती है, ज्ञानसे नहीं, वह वास्तवमें होती ही नहीं। अतः वह 'असत्' है और असत्के निराकरणमें कौन-सी बड़ी बाधा है? सब अनर्थोंको ब्रह्मज्ञानसे निवर्त्य बतानेका अर्थ ही है, उन अनर्थोंको सत्ताशून्य या 'असत्' बताना। अनर्थ कोई वस्तु नहीं, अनर्थकी निवृत्तिसे उपलक्षित अधिष्ठान ही सत्य-वस्तु ब्रह्म है।

यहाँ यह शंका होती है कि यदि ब्रह्मज्ञानसे निवर्त्य पुनर्जन्म 'असत्' ही है, तो उसकी निवृत्तिका श्रम भी क्यों किया जाय?

इस प्रकार ब्रह्मज्ञान भी निरर्थक सिद्ध होगा। इसपर हम प्रश्न करते हैं कि यदि पुनर्जन्म सत्य हो तो क्या सत्य किसी भी प्रकारसे निवर्त्य होगा? और यदि नहीं तो मोक्षको पुरुषार्थ मानना भी निरर्थक होगा! ज्ञानसे केवल असत् ही निवर्त्य होता है, सत् नहीं। दूसरे, पुनर्जन्म क्या है? मनुष्यके धर्माधर्मसे शरीरकी उत्पत्ति तथा शरीरसे पुनः धर्माधर्मकी उत्पत्ति, यही तो पुनर्जन्म-की शृङ्खला है। किन्तु इस कारण-कार्यभावमें कौन-सा प्रमाण है? बीजाङ्कुरन्यायसे यह लोकप्रमाणसिद्ध नहीं है। खोज करने-वालोंने बताया कि यह केवल शब्द-प्रमाणसे ही सिद्ध है। यह केवल शास्त्रैकगम्य है। अतः जबतक कारण-कार्य-भ्रान्ति है, जीवनमें दुःख है, अज्ञान है, परिच्छिन्नता है, बन्धन है तबतक इस सत्यत्व-भ्रान्तिके उच्छेदकी भी आवश्यकता है। ब्रह्मज्ञानसे पूर्व पुनर्जन्म आदि सब प्रतीतियाँ सत्य होती हैं और ब्रह्मज्ञानके अनन्तर सब बाधित।

यावद् हेतुफलावेशस्तावद् हेतुफलोदयः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारो न प्रवर्तते॥

(मा. का.)

पुनर्जन्म ही क्या, ब्रह्ममें संसारका बीजत्व भी शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध है, लोक-प्रमाण (बीजांकुरन्याय)से नहीं। क्योंकि ब्रह्मको यदि बीजवत् मानें तो उसमें ये बातें स्वीकार करनी होंगी: (१) वास्तविक उपादानता, (२) पूर्व-कर्मोंके संस्कार, (३) बीजको फूटनेके लिए काल, (४) बीजके आधारके लिए स्थान, (५) पौष्टिक खाद—स्थानीय सहकारी परिस्थितियाँ और (६) बीजवत् ब्रह्ममें विकारित्व। किन्तु ऐसा माननेसे ब्रह्मका ही संकोचन हो जायगा। अतः ब्रह्ममें बीजत्व केवल शास्त्रद्वारा

ब्रह्मज्ञानकी प्रक्रियाके अन्तर्गत अध्यारोपित है। उसकी उपयोगिता भी ब्रह्मज्ञानपर्यन्त ही है।

अन्तमें, ब्रह्म-जिज्ञासाके सम्बन्धमें एक बात और ज्ञातव्य है। जिज्ञासा'का अर्थ इच्छा नहीं, 'विचार' है। ब्रह्म-विचार करना कर्तव्य है, ब्रह्मकी इच्छा नहीं। कारण, इच्छा कृतिसाध्य या कर्ताके अधीन नहीं होती, केवल कर्म ही कर्ताके अधीन होता है। कोई नहीं कह सकता कि अगले क्षण हम क्या इच्छा करेंगे। इच्छा उदयके अनन्तर ज्ञात होती है, पहले नहीं। पूर्व-पूर्व वासनाओंके कारण समय-समयपर अन्तःकरणमें अनेक इच्छाएँ उठती रहती हैं। कोई भी इच्छा इच्छारूपमें न पाप है और न पुण्य। इच्छाके अनुसार विहित कर्म होनेपर 'पुण्य' होता है तथा निषिद्ध कर्म होनेपर 'पाप'। इनमें जो विहित-अविहितका निर्णायक है, वह 'शास्त्र' है। इच्छा स्वयंमें न कर्म है और न बुद्धि। आप इच्छाके उठनेमें स्वतन्त्र नहीं, पर उसका औचित्य निर्णय करने तथा तदनुसार कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं। पापसे बचनेका तरीका भी यही है कि निषिद्ध इच्छाका बुद्धिसे समर्थन न करें तथा उसे कर्म-पर्यन्त न ले जायँ। इस प्रकार कर्तव्यता इच्छामें नहीं, विचार या कर्ममें होती है। अतः जब सूत्रकार 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'की प्रतिज्ञा करते हैं, तो जिज्ञासासे उनका तात्पर्य 'ब्रह्मविचार'से है। अर्थात् 'अब हम ब्रह्मका विचार करते हैं।'

शांकर-दर्शनमें ब्रह्मसूत्रका नाम 'शारीरक-दर्शन' है। **शरीरे भवः शारीरः** अर्थात् शरीरमें जो 'अहमर्थ' आपका आत्मा है, वह शरीरके हिसाबसे छोटा नहीं, निरतिशय बृहत्तर ब्रह्म है — यही शारीरक-दर्शनका अर्थ है। अन्य आचार्य इसे वेदान्त-दर्शन कहते हैं, क्योंकि इसमें वेदान्तों या श्रुतियोंके अर्थका विचार है।

उपनिषद्को ही 'वेदान्त' कहा जाता है; क्योंकि वे वेदके अन्तिम भाग हैं। श्री मध्वाचार्य इसे 'पूर्ण-प्रज्ञ-दर्शन' कहते हैं; क्योंकि ब्रह्म-विचारका फल प्रज्ञाकी पूर्णता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानके अनन्तर जाननेको कुछ शेष नहीं रहता :

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

जिज्ञासा-अधिकरण

ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादका प्रथम सूत्र है :

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१.१.१.)*

सूत्रार्थ :

अथ=इसके अनन्तर अब; **अतः**=सम्पूर्ण अनर्थोंकी समूल निवृत्ति तथा परमानन्द परमात्माकी प्राप्तिके लिए; **ब्रह्मजिज्ञासा**= ब्रह्मका विचार करते हैं।

'अथ' शब्द अधिकारका वाचक है और 'अतः' प्रयोजनका। 'ब्रह्म'-शब्द ग्रन्थके विषयका संकेत करता है तथा 'जिज्ञासा' सम्बन्धका द्योतक है। दूसरे शब्दोंमें 'अथ' शब्द साधन-सम्पत्तिका, 'अतः' मोक्षका तथा 'ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्मप्राप्तिके साक्षात् साधन ब्रह्मविचारका निरूपण करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूत्रमें सम्पूर्ण ग्रन्थके अनुबन्ध-चतुष्टयका वर्णन कर दिया है। 'अनुबन्ध-चतुष्टय' का अर्थ है : १. ग्रन्थका अधिकारी, २. प्रयोजन, ३. विषय और ४. सम्बन्ध। ब्रह्मसूत्रकी साररूप प्रस्तावना इसी एक सूत्रमें रख दी गयी है।

*** ब्रह्मसूत्रोंको श्रुतिकी भाँति ही ग्रहण किया जाता है। अतः श्रद्धालु पाठकोंको इन सूत्रोंके पाठमें सूत्रके आदि तथा अन्तमें ॐ का उच्चारण करना चाहिए। जैसे इस सूत्रका पाठ इस प्रकार होगा : ॐ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॐ। माहात्म्य-बुद्धिसे पाठ करनेपर सद्ग्रन्थ अपना गूढार्थ प्रकाशित कर देते हैं। श्री मध्वाचार्यने ऐसी ही पद्धति स्वीकार की है।**

अधिकरण-विचार :

इससे पूर्व कि हम सूत्रके गहन अर्थमें प्रवेश करें, अधिकरणके विषयमें कुछ जान लेना उपयुक्त होगा। यहाँ 'अधिकरण' शब्दका अर्थ प्रसङ्ग है। प्रस्तुत सूत्रमें 'जिज्ञासा' शब्दका व्यवहार है तथा उसीका प्रसङ्ग है। अतः इस सूत्रको 'जिज्ञासा-अधिकरण' कहते हैं। यह एकसूत्रीय अधिकरण है। इसी प्रकार दूसरे तीसरे और चौथे सूत्र भी स्वतन्त्र अधिकरण हैं और उनके नामकरण उन सूत्रोंमें प्रयुक्त शब्दों तथा उनमें प्राप्त प्रसङ्गोंके अनुसार हैं। अन्य अधिकरणोंमें एकसे अधिक सूत्र भी हैं। इन सूत्रोंकी संख्याका भी एक नियम, एक गणित होता है, जिसके अनुसार अधिकरण और सूत्रोंका परस्पर निबन्धन किया जाता है। यहाँ उसकी चर्चा करनेसे कोई लाभ नहीं।

ब्रह्मसूत्रको 'उत्तर-मीमांसा' भी कहते हैं। मीमांसा-शास्त्र होनेसे इसमें शास्त्र-संगति, अध्याय-संगति, अधिकरण-संगति आदि छः प्रकारकी संगतियाँ अभीष्ट होती हैं। पीछे कहा जा चुका है कि ब्रह्मसूत्रमें शांकरमतानुसार ५५५ सूत्र तथा १९१ अधिकरण हैं, जो ग्रन्थके ४ अध्यायों और प्रत्येक अध्यायके चार-चार पादोंमें विभक्त हैं।

अधिकरण पञ्चाङ्ग होता है: १. विषय; २. संशय, ३. पूर्वपक्ष, ४. उत्तरपक्ष, और ५. निर्णय। जैसे किसी जजकी अदालतमें कोई मुकदमा (केस) जाय तो उसमें निम्नलिखित पाँच अंग होते हैं: १. विवादका विषय २. वादीका पक्ष, उसके तर्क और प्रमाण ३. प्रतिवादीका प्रतिपक्ष, उसके तर्क-वितर्क और प्रमाण। ४. वादी-प्रतिवादीके पक्षोंकी तुलना तथा ५. संवैधानिक आधार-पर निर्णय। ऐसे ही पाँच अंगोंको क्रमशः विषय, संशय, पूर्वपक्ष,

उत्तरपक्ष और निर्णय कहा जाता है। अतः ब्रह्मसूत्रके अधिकरणों-का विचार करते समय यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका पञ्चाङ्ग-विधिसे विचार किया जाय।

मेरे एक विद्वान् मित्रने ब्रह्मसूत्रपर एक टीका लिखी है। वह टीका अब प्रकाशित भी हो चुकी है। प्रकाशित होनेसे पूर्व उसकी पाण्डुलिपि उन्होंने मुझे दिखायी थी। मैंने उसके प्रथम चार सूत्रोंकी, जो स्वतन्त्र अधिकरण भी हैं, व्याख्या पढ़ी। व्याख्या तो जो थी सो थी, परन्तु इनमें-से किसी अधिकरणकी व्याख्यामें उनके विषय-वाक्य या श्रुतिको प्रस्तुत ही नहीं किया गया था। जब विषय-वाक्य ही नहीं उठाया गया तो उसपर पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, सिद्धान्त या निर्णय कहाँसे होगा? ब्रह्मसूत्रके अधिकरणोंका आशय इस प्रकार कभी प्रकट नहीं होता।

ब्रह्मसूत्र उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी मीमांसा है। अतः प्रत्येक अधिकरणमें निश्चित श्रुतियोंके अर्थका विचार किया गया है। वही श्रुति-वाक्य उस अधिकरणका 'विषय-वाक्य' कहलाता है। संस्कृतमें 'वैयासिक-न्यायमाला' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना इसी निर्णयके लिए की गयी है कि किस अधिकरणका कौन-सा विषय-वाक्य है। आइये; अब जिज्ञासा-अधिकरणके अर्थमें प्रवेश करें।

(२. २)

'अथ' तथा 'अतः' पदोंका विचार :

(वेदान्तशास्त्रके अधिकारी तथा प्रयोजनका निर्वचन)

'अथ' शब्द संस्कृतमें अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। जैसे : प्रारम्भ, मंगल और आनन्तर्य।

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान् माङ्गलिकावुभौ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीके मुखसे जो प्रथम दो शब्द निकले, वे थे 'ॐ' और 'अथ'। इसलिए अथ-शब्द प्रारम्भ और मंगल दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। किन्तु यहाँ 'अथ' का यह मुख्य अर्थ नहीं है, क्योंकि मंगलके लिए तो शब्दका श्रवण और उच्चारण ही पर्याप्त होता है, उसके अर्थबोधकी आवश्यकता नहीं होती। अतः 'अथ' का 'आनन्तर्य' अर्थ ही यहाँ उपयुक्त है।

अथ अर्थात् आनन्तर्य='इसके बाद'। किसके बाद क्या? यह प्रश्न है। किसके अनन्तर ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए? दूसरे शब्दोंमें, ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी कौन, यह बात 'अथ' शब्दसे निकलती है।

ब्रह्मजिज्ञासा जहाँ उदित होती है, उस स्थलको 'अथ' शब्द छूता है। लोगोंके मनमें भोग पाने, कर्म करने और संग्रह करनेकी इच्छा होती है। बहुत भोग मिले, बहुत भोग-सामग्री मिले और उसके लिए बहुत-सा कर्म करें—यह संसारी लोगोंकी इच्छा होती है। संसारकी ओर देखनेसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी। किन्तु इन सब इच्छाओंका आश्रय होता है अभिमान। यहाँ ब्रह्मज्ञानकी इच्छाका प्रसङ्ग है, अतः अभिमानमूलक कर्म, भोग और संग्रह ब्रह्मज्ञानके अधिकारीके लक्षण नहीं हो सकते।

जैसे व्यापारके पूर्व आपको पूँजी, बुद्धि, परिश्रम और सहयोगीकी आवश्यकता होती है; अर्थात् जैसे पूँजी, बुद्धि, परिश्रम और सहयोगीकी उपलब्धिके अनन्तर ही व्यापार किया जाता है और उसका फल प्राप्त किया जाता है; वैसे ही जिस साधन-सामग्रीके ग्रहणके पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए, जिससे मोक्षरूप फल

प्राप्त हो सके, उसी साधन-सामग्रीको यहाँ 'अथ' शब्द प्रकट करता है। बात यह है कि जैसे साध्यके अनुरूप साधन और साधनके अनुरूप सामग्री एकत्र होनेपर ही साध्यकी प्राप्ति होती है, वैसे ही यहाँ साध्य मोक्ष है, जिसकी प्राप्तिके लिए 'ब्रह्मजिज्ञासा' साधन है और उसके अनुरूप अपेक्षित सामग्री है 'अथ' शब्दका अर्थ।

यहाँ 'साधन' और 'साधन-सामग्री' किस लक्ष्यके हेतु हैं, यह भी विचारणीय है। यदि यह न मालूम हो कि कहाँ जाना है तो आप क्या मार्ग-निर्णय कर सकेंगे? स्पष्ट है, नहीं। लक्ष्य-हीन विचार निरर्थक एवं उपेक्षणीय होता है। केवल तर्क-वितर्कसे मोक्ष सिद्ध नहीं होता। **तर्काप्रतिष्ठानात्**··(ब्र० सू० २.१.११) 'तर्ककी अप्रतिष्ठा होनेसे'—यह ब्रह्मसूत्रका निर्णय है। हमारे विचारकी एक दिशा होनी चाहिए, तभी लक्ष्यवेध होगा; अन्यथा नहीं। हमें 'कांदिशीक' नहीं होना चाहिए। इधर-उधर भटकनेसे क्या मिलेगा? श्रुति कहती है:

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
(बृहदा० २.४.५)

'आत्माका दर्शन करना चाहिए, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए।' यहाँ 'द्रष्टव्यः' लक्ष्य है तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन है लक्ष्यानुसारी साधन। **तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म** (तै० उ० ३.१)। 'उसीकी जिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है।' **स आत्मा स विज्ञेयः**—'वह आत्मा है, वही जानने-योग्य है।'

उस ब्रह्मका सुनना, जानना भी कैसा विलक्षण है यह भी श्रुति कहती है:

येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति । (छा० ६.१.३)

मैत्रेयि आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।

'जिसके द्वारा अनसुना सुना हो जाता है, अनजाना जाना हो जाता है ।' 'अरी मैत्रेयी, इस आत्माके दर्शन श्रवण, मनन और विज्ञानसे इन सबका ज्ञान हो जाता है ।' यहाँ श्रुतिमें 'विज्ञान' शब्दका ही प्रयोग है । उसको जानो, उसको सुनो, मनन करो, निदिध्यासन करो । तब आपको साक्षादपरोक्ष ब्रह्मकी अनुभूति होगी और अवश्य होगी । ऐसा ब्रह्म जिसे प्रतिक्षण, सर्वत्र, सर्वरूपमें बिना प्रयास ही देखा जा सके । अपरोक्ष अर्थात् 'कारणैर्विना'— बिना कारणके जो अनुभूत हो, वह 'अपरोक्ष' कहलाता है ।

अब विचार करें कि ब्रह्म-जिज्ञासाके पूर्व क्या साधन-सामग्री, सम्पत्ति चाहिए । सर्वप्रथम धनके बारेमें सोचें । क्या धनी होनेसे ब्रह्म-जिज्ञासा होगी ? धनी होनेका फल तो अभिमान है कि मेरे समान कौन है ? गीता कहती है :

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया । (गी० १६.१५)

यह तो आसुरी सम्पदा है जो ब्रह्मज्ञान ही क्या, धर्माचरणमें भी हेय है । फिर क्या धनसे कभी कोई तृप्त हुआ है ? **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः** (कठ० १.१.२७), **अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन** (बृह० २.४.२) । कितने धनोपभोग अथवा संग्रहके पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासा होगी, इसकी कोई सीमा ही नहीं । अतः न तो धन और न धनी होनेका भाव ब्रह्मजिज्ञासारूप साधनकी सामग्री हो सकता है ।

अब 'जाति'पर विचार करें । जाति और वर्ण जो स्थूल-शरीरसे सम्बद्ध है, वह ब्रह्म-जिज्ञासामें न साधक है और न

बाधक। ज्ञान तो बुद्धिमें होता है, अतः शरीरसे कोई चाहे ब्राह्मण हो अथवा शूद्र, उसे ब्रह्मजिज्ञासामें जात्या कोई विशेष अधिकार या अनधिकार नहीं होता, यद्यपि वैदिक यज्ञ-यागादिमें जातिका विचार आवश्यक है। उदाहरणार्थ, बृहस्पति-सवमें केवल ब्राह्मणका ही अधिकार है और 'राजसूय-यज्ञ' केवल क्षत्रिय ही कर सकता है। किन्तु ज्ञान शरीरसें नहीं, बुद्धिमें होता है। अतः यदि जातिका विचार करना ही है तो बुद्धिकी जातिका विचार ही अपेक्षित है कि बुद्धि ब्राह्मणी है या क्षत्राणी, वैश्या है या शूद्रा। साधन-सम्पत्तिमें बुद्धिका ब्राह्मणत्व आवश्यक है, जिसका लक्षण गीताके अनुसार यह है :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
(गीता १८.४२)

'शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान-विज्ञान और आस्तिकता—ये सब ब्राह्मण-जातिके कर्म हैं।'

आजकल लोग समझते हैं कि लाइब्रेरीमें बैठकर ब्रह्मकी 'स्टडी' कर लेंगे अथवा प्रयोगशालामें बैठकर ब्रह्मानुसन्धान कर लेंगे और ब्रह्मज्ञान हो जायगा। किन्तु ऐसे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ करता। इसकी भी एक प्रणाली होती है। यदि आप परिच्छिन्न वस्तु और तज्जन्य सुखसे तृप्त हो जायँगे, तो क्या आपको अपरिच्छिन्न ब्रह्मकी जिज्ञासा उदित होगी? परिच्छिन्नसे दृष्टि हटाये बिना आप अपरिच्छिन्नका दर्शन नहीं कर सकते। मोहनको देखनेके लिए सोहनसे दृष्टि हटानी पड़ती है; घटको देखनेके लिए पटसे दृष्टि हटानी पड़ती है। दो अँगुलियाँ भी एक साथ ठीक-ठीक नहीं देखी जा सकतीं। तब यह आग्रह कैसा कि हम परिच्छिन्नसे

जुड़े रहेंगे और अपरिच्छिन्नका अनुभव भी करेंगे। यह तो ऐसा ही है कि सेठजीके सामने नोटोंका बण्डल रखा हो, बगलमें श्रीमतीजी सश्रृङ्गार उपस्थित हों; गोदमें बच्चा बैठा सेठजीकी नाकमें अंगुली डाल रहा हो और सेठजी चाहें कि नारायण सामने प्रकट हो जायँ और कहें : 'सेठजी, वर माँगो।' ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व परिच्छिन्नसे दृष्टि हटानेका अभ्यास होना आवश्यक है, यही 'अथ' शब्दका अर्थ है।

ब्रह्मविचारसे पूर्व जो साधन नियमसे हमारे जीवनमें होना आवश्यक है, वही 'अथ' शब्दसे अभिप्रेत है। पूर्ववर्ती सामग्रीके बिना उत्तरवर्ती फल नहीं हुआ करता। उदाहरणार्थ, यदि आपको एक दीपक जलाना है तो उसके लिए घी, वत्ती, माचिस आदि सामग्री अपेक्षित होती है। उस सामग्रीके बिना दीपक जल नहीं सकता। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानका दीपक जलानेके लिए आपको किस सामग्रीकी आवश्यकता है? वेदान्तकी भाषामें यह सामग्री 'साधन-चतुष्टय' नामसे विख्यात है। निम्नलिखित चार साधनोंके समुदायको ही साधन-चतुष्टय कहते हैं :

१. विवेक, २. वैराग्य; ३. षट्सम्पत्ति और ४. मुमुक्षा।

श्रुतिने कहा है :

तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते।

(छा० ८.१.६)

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन।

(मु० १.२.१२)

'ब्राह्मण कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले लोकोंकी परीक्षा करके

वैराग्यको प्राप्त हो जाय। कर्मसे स्वतःसिद्ध परमात्मा नहीं मिल सकता।'

'लोक-परीक्षा' की शक्तिको 'विवेक' कहते हैं। 'यह जगत्, यह शरीर क्या है और मैं कौन हूँ' इस विविक्त ज्ञानका नाम विवेक है। 'देह असत्, जड़, दुःखरूप है और उसका साक्षी मैं सत्, चित्, आनन्दरूप हूँ' यही विवेकका स्वरूप है। इस विवेकका पर्यवसान इस निश्चय-ज्ञानमें होता है कि 'जो वस्तु वाहरसे हमारे भीतर आयेगी, वह निकल जायगी। जो अभी नहीं है, वह पैदा होगी और मर जायगी। जो मैं नहीं होऊँगा, वह मिलनेपर बिछुड़ जायगी। देशसे पकड़कर लायी वस्तु भाग जायगी, कालमें उत्पन्न वस्तु नष्ट हो जायगी। अपनेसे अन्य वस्तुके संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। अतः कर्मसे प्राप्त अथवा उत्पन्न प्रत्येक वस्तु, देश या काल नश्वर होगा। वह ब्रह्म नहीं होगा।' तब ब्रह्मके जिज्ञासुमें कर्म और कर्मसे उत्पन्न सभी ऐहलौकिक-पारलौकिक वस्तुओं और परिस्थितियोंसे निर्वेद अर्थात् वैराग्य हो जायगा। यही चित्तके वैराग्यकी अवस्था है; यही उक्त श्रुतिका **निर्वेदम् आयात्** है। विवेकका फल वैराग्य है। अतः विवेक वैराग्य फलपर्यन्त होना आवश्यक है।

अब कोई कहे कि हम न विवेक करेंगे और न वैराग्य; षट्-सम्पत्ति अर्जित नहीं करेंगे और केवल बौद्धिक जिज्ञासाके बलपर जिस किसी प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेंगे, तो यह उस व्यक्तिकी दुराशामात्र ही है। विशेष लक्ष्यकी प्राप्ति का मार्ग भी विशेष होता है। उसका उल्लंघन लक्ष्यवेध नहीं करा सकता।

एक वैद्यजी थे। किसीने पूछा : 'वैद्यजी, हमें भी चिकित्सा करना बताइये।' वैद्यजी झट बोले : 'इसमें क्या कठिनाई है।

जिस-किसी पेड़-पौधेकी जड़ ले आओ, चाहे जैसी विधिसे उसे पीस लो, चाहे जिस रोगमें चाहे जिस मरीजको दे दो।' पूछा : 'इससे रोगमें लाभ होगा या नहीं?' वैद्यजी बोले : 'फायदा हो या नुकसान, तुम अपनी फीस ले लो। कुछ-न-कुछ तो होगा ही' :

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केन प्रवेषयेत्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥

ब्रह्म-जिज्ञासाका मार्ग एक विशिष्ट मार्ग है। यहाँ अपरिच्छिन्न ब्रह्मके अज्ञान-निवृत्तिरूप ज्ञानका सम्पादन इष्ट है। अतः उसके विवेक-वैराग्यका मार्ग ही अपनाना पड़ेगा। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

वैराग्यके उदयके साथ उसके परिपाकके रूपमें षट्सम्पत्ति उदित होती है। इसके सम्बन्धमें श्रुतिका वचन है :

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुश्च समाहितः।
श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्॥
(बृहदा० ४.४.२३)

'शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, श्रद्धावान् तथा समाहित होकर अर्थात् शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानरूप छः सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण होकर जिज्ञासु अपनी आत्मामें आत्माको देखे।'

यहाँ 'भूत्वा' (जो असमाप्त क्रिया है) अर्थात् 'होकर' इस पदसे ही 'अथ' शब्दका 'आनन्तर्य' अर्थ निकलता है।

षट्सम्पत्तियाँ ये हैं : शम (शान्ति), दम (दान्ति), उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। यह तो पहले कह ही चुके हैं कि षट्सम्पत्ति वैराग्यका ही परिपाक है।

१. **शम** (शान्ति) : काम-क्रोधादि विकारोंकी मनमें न्यूनता अथवा शान्तिका नाम शम है। दूसरे शब्दोंमें काम-क्रोधादि विकारोंके विषय और तज्जन्य सुखसे वैराग्यका नाम शम है। आप कहेंगे कि हम तो गृहस्थ हैं, हम इन विकारोंको कैसे शान्त कर सकते हैं ? लेकिन भाई ! यह सच है कि गृहस्थ अपनी पत्नीके प्रति वंशपरम्पराकी रक्षाके निमित्त किसी मात्रामें काम रख सकता है, अपने पुत्रके हितसाधनके लिए क्रोध भी कर सकता है, पर यह सब विहित होते हुए भी यहाँ ब्रह्म-जिज्ञासाके प्रकरणमें विहित भी त्याज्य है। अविहित, निषिद्ध विकारोंका त्याग तो धर्ममें ही हो जाता है, पर ब्रह्मजिज्ञासाकी अधिकार-सम्पन्नताके लिए विहित भोग भी त्याज्य ही है। विहित काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य भी शान्त होने चाहिए, यदि ब्रह्म-जिज्ञासा का उदय अभीष्ट हो। स्पष्ट है कि वैराग्यकी परिपुष्टिके विना शम सम्भव नहीं। शम मानसिक स्वास्थ्य है, जो काम-क्रोधादि विकारोंसे रोगग्रस्त नहीं होता। विकार और शम दोनों मनमें होते हैं।

२. **दम** (शान्ति) : इन्द्रियोंको वशमें रखनेकी शक्तिका नाम है दम। या इन्द्रियोंका निग्रह किन विषयोंसे करें ? निषिद्ध विषयोंसे निग्रह तो धर्मके अन्तर्गत ही आ जाता है। तब ब्रह्मजिज्ञासुको अपनी इन्द्रियोंका विहित विषयोंसे भी निग्रह करना चाहिए। नेत्रके सम्मुख आकर्षक रूप प्रस्तुत होनेपर और उस रूपको देखनेकी अनुमति होनेपर भी मनका नेत्रद्वारसे बाहर न निकलना 'दम'की पराकाष्ठा है और मनके बाहर निकलनेकी इच्छा रोकनेका नाम दमका अभ्यास है। स्पष्टतः दम शमका अनुगामी है और शम है, दमकी चरम परिणति। अतः दम भी वैराग्यका ही परिपाक है। वास्तवमें इन्द्रियोंसे वैराग्यका नाम दमन है।

३. **उपरति :** कर्माधिक्यसे वैराग्यका नाम उपरति है। ऐसा नहीं कि हम दुनियादारीके कर्म तो न करें, पर लोकोपकार आदि शुभकर्मोंमें व्यस्त रहें। यहाँतक कि यज्ञ-यागादि कर्म भी उपरति-में बाधक हैं। जिस व्यक्तिमें शम-दम होंगे, उसमें उपरति तो अवश्य ही होगी। शम-दमका फल उपरति है। जब ब्रह्माजी जैसे ईश्वरकोटिके देवता कर्ममें व्यस्त रहनेके कारण सनकादिके अध्यात्मसम्बन्धी प्रश्नका उत्तर न दे सके, तो साधारण जीवोंकी बात ही क्या ? **नाभ्यपश्यत कर्मधीः**। (भाग०)

४. **तितिक्षा :** द्वन्द्वाघातको सहर्ष सह लेनेकी वृत्तिको तितिक्षा कहते हैं। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंको सहनेका स्वभाव तितिक्षा कहलाता है। दुःखको सह लेना और बात है और उसे तप समझकर सहना दूसरी बात। अतः तितिक्षामें तपोबुद्धि होनी चाहिए। छान्दोग्य-उपनिषद्‌में तितिक्षा-को स्वयं एक बड़ा तप कहा है : **एतद्वै परमं तपः**। तितिक्षामें मूलतः शरीरके प्रति वैराग्य है।

५. **श्रद्धा :** अभिमानसे वैराग्यका नाम श्रद्धा है। मनुष्यको अपने उच्चकुल, धन, विद्या, तप आदिका अभिमान होता है। जब हम किसीपर श्रद्धा करते हैं तो यह अभिमान टूटता है। वेद, शास्त्र और गुरुकी बातको सत्य मानना श्रद्धा है। श्रुतिने श्रद्धाको पूँजी (वित्त) बताया है : **श्रद्धावित्तो भूत्वा** (श्रद्धासे धनी होकर)। इस तरह जब धन, विद्या, कुल, तप आदिका अभिमान धर्म और उपासनामें ही बाधक है, तो ब्रह्मज्ञानके अधिकारमें श्रद्धाका लक्षण यही होगा कि 'हम अभिमान न करें कि हम सब जानते हैं अथवा हम किसीसे क्यों पूछें अथवा हम तो अपनी बराबरीवालेसे ही पूछेंगे।' अभिमानी ज्ञानके ग्रहणमें पटु नहीं होता। ज्ञानके ग्राहकको कोमल होना चाहिए। अभिमानी

कठोर होता है जिससे पहले तो वह दूसरेकी सुनता ही नहीं और सुना भी तो उसके कठोर चित्तपर वह कोई संस्कार नहीं छोड़ता चित्तकी कठोरता ज्ञानसंस्कारको उचका देती है।

एक चौराहा था। एक व्यक्ति वहाँ आया। सोचा—आगे किस रास्ते जाऊँ? कुछ तैशमें आ गया वह। बोला: 'किसीसे नहीं पूछेंगे' और एक मार्गपर चल पड़ा। जहाँतक मार्ग जाता था, गया और अपना गन्तव्य न पाकर फिर चौराहेपर लौट आया। फिर दूसरे मार्गपर गया, गन्तव्य न पाकर फिर चौराहेपर लौट आया। फिर उसने तीसरा मार्ग पकड़ा। इस प्रकार कई घण्टे बीत गये। अन्तमें मार्ग मिला। गया तो मालूम हुआ—उसका गन्तव्य चौराहेसे केवल दस गजकी दूरीपर ही था। यह क्या हुआ? उसके अभिमानने उसे दस मिनटके रास्तेमें दस घण्टे लगा दिये।

एक सच्ची घटना और बताते हैं। एक था राजा। उसे कुछ ईश्वर, धर्मके बारेमें जिज्ञासा थी। लोगोंसे पूछा: 'कोई महात्मा हैं?' लोगोंने एक विरक्त महात्माका पता बताया। जब राजाको ज्ञात हुआ कि वे महात्मा तो नंगे रहते हैं, जमीनपर सोते-बैठते हैं और भिक्षा माँगकर खाते हैं तो उसने कहा: 'हम राजा उस भिखारीके पास जिज्ञासु बनकर नहीं जा सकते।' कुछ समय बाद उसे पता लगा कि राज्यमें एक बहुत बड़े महात्मा आये हैं। सिंहासनपर बैठते हैं, छत्र-चँवर लगाते हैं, शानसे रहते हैं और चलनेमें दिनमें भी उनके सेवक मशाल लेकर चलते हैं। राजाने कहा: 'ठीक है, ये महात्मा हमारी बराबरीके हैं। हम इनके पास जायँगे।' राजा गये इन महात्माके पास। परन्तु राजाको जिस विद्याकी तलाश थी, वह तो इन महात्माके पास नहीं थी।

सारांश, ब्रह्मविद्या न तो छत्र-चँवरमें, न मशालमें और न चार हाथ ऊँचे सिंहासनमें रहती है। वह तो अनुभवी महात्माओंके पास रहती है। राजाका जो अपना राजापनका अभिमान था, वह उसे उन विरक्त अनुभवी महात्माके पास जानेसे रोकता था। फलत: राजा ज्ञानसे वंचित रह गया।

६. **समाधान** : शम, दम, उपरति, तितिक्षा और श्रद्धा—ये पाँचों किसी जिज्ञासुमें रहनेपर भी यह आवश्यक नहीं कि उसे मनोराज्य न होता हो। अपने व्यक्तित्वके उभारसे सम्बद्ध अनेक सिद्धियों, चमत्कारोंके आकर्षण उसके मनको साधन-साध्य-सम्बन्धी विकल्पोंका अखाड़ा बना देते हैं। ऐसा चित्त असमाहित है। चित्तके नाना प्रकारके विकल्पोंकी शान्तावस्था समाधान कहलाती है। इसे वेदान्तकी 'समाधि' भी कह सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या ये छ: साधन छ: हैं या एक? वास्तवमें ये सब साधन मिलकर एक ही साधन कहलाता है और उसका नाम है 'शान्ति'। स्थान और कार्यभेदसे 'शान्ति'के ही ये छ: नाम पड़ गये हैं। शान्ति मनमें रहनेपर शम (शान्ति), इन्द्रियोंमें रहनेपर दान्ति, कर्ममें रहनेपर उपरति, शरीरमें रहनेपर तितिक्षा, हृदयमें रहनेपर श्रद्धा और चित्तमें रहनेपर 'समाधान' कहलाती है। शान्ति स्वयं वैराग्यकी परिपुष्टि है। यदि कहें कि फिर शान्तिका ही अकेला नाम क्यों न रखा जाय, छ: नामोंकी क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक ही चेतन नेत्रगोलकमें रहनेसे नेत्रेन्द्रिय, श्रवण-गोलकमें रहनेसे श्रवणेन्द्रिय और अन्य गोलकोंमें रहनेसे तत्तत् नामोंसे प्रसिद्ध होता है, वैसे ही एक शान्ति ही स्थान-भेदसे अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होता है।

स्मरण रहे कि यह शान्ति साधन-सामग्रीके अन्तर्गत है। अतः यह ब्रह्मकी स्वरूपभूत शान्तिसे भिन्न है। ब्रह्मकी स्वरूपभूत शान्ति अद्वितीयताकी संलग्नक होनेसे किसीकी विरोधी नहीं होती। उसमें निवर्त्य-निवर्तकभाव नहीं। इसके विपरीत यह शान्ति शम होनेसे काम-क्रोधादि विकारोंकी, दम होनेसे इन्द्रियोंके विक्षेपकी, उपरत्ति होनेसे कर्मविक्षेपकी, तितिक्षा होनेसे शारीरिक प्रतिक्रियाकी, श्रद्धा होनेसे अभिमानकी और समाधान होनेसे चित्तकी सहज चञ्चलतारूप मनोराज्यकी निवर्तक है। इतना ही नहीं, शान्तिका नाम ही काम-निवर्तक होनेसे 'ब्रह्मचर्य', क्रोध-निवर्तक होनेसे अहिंसा' और लोभ-निवर्तक होनेसे 'अस्तेय' तथा 'अपरिग्रह' है। सच तो यह है कि ब्रह्मविचारकी आवश्यक पृष्ठभूमि केवल शान्ति ही है। ●

(२.२)

जो सब प्रकारसे शान्त है वही और केवल वही ब्रह्मज्ञानका अधिकारी है। श्रुतिने इसे इन शब्दोंमें कहा है :

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १.२.२४)

'जो पापकर्मोंसे विरत नहीं; इन्द्रियोंकी चञ्चलताके कारण अशान्त, उपरतिशून्य और चित्तविक्षेपयुक्त होनेसे असमाहित है, चित्त समाहित होनेपर भी समाधानके फलकी इच्छासे अशान्त है, वह केवल प्रज्ञाके बलपर इस आत्माको नहीं प्राप्त कर सकता।'

इस मन्त्रमें श्रुतिने चार बातें निषेध-पद्धतिसे बतायीं जो ब्रह्मके जिज्ञासुमें नहीं होनी चाहिए। वैसे प्रकारान्तरसे, विधेय-

पद्धतिसे विचार करनेपर ये बातें षट्सम्पत्तिके अन्तर्गत ही आ जाती हैं।

१. **नाविरतो दुश्चरितात्**। अर्थात् दुश्चरित्रका त्याग। दुश्चरित्र या श्रुति-स्मृतिसे निषिद्ध पापाचरण तो धर्म या पुरुषार्थकी सिद्धि तथा अन्तःकरणकी शुद्धिमें ही बाधक है। फिर ब्रह्मविचार करने-पर भी क्या होगा? सच तो यह है कि वह ब्रह्मविचार कर ही नहीं सकता; क्योंकि जब कोई श्रुति-स्मृति द्वारा बाँधी गयी अथवा अपनी स्वीकार की हुई मर्यादाको तोड़ता है तो उसमें हेतु उसकी वासनाकी प्रबलता होती है, अन्य कुछ नहीं। मर्यादाका अर्थ है: **मर्यैः आदीयत इति मर्यादा**। अर्थात् जिसे मरणधर्मा मनुष्य या पशु-पक्षीने स्वीकार किया हो, वह मर्यादा है। यदि आप अपनी बनायी या स्वीकार की हुई मर्यादाको ही वासनाकी प्रबलतावश तोड़ देते हैं और अशुद्ध कर्म, दुश्चरित्रमें प्रवृत्त हो जाते हैं, तो इसका भी क्या आश्वासन कि आप ब्रह्मविचारमें ब्रह्मातिरिक्तको ब्रह्म न मान बैठेंगे या किसी दोषपूर्ण विचारको निर्दोष न मान बैठेंगे? अतः सत्यके विचारके लिए आपका कर्म धर्मकी मर्यादाके विरुद्ध नहीं जाना चाहिए।

उदाहरणके लिए 'काम'की बात लें। धर्मशास्त्रमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासीके लिए काम पाप है। गृहस्थके लिए अपनी पत्नीके अतिरिक्त अन्य किसी स्त्रीके प्रति काम निषिद्ध है और अपनी पत्नीके प्रति भी सामर्थ्य, काल और युग्मकी प्रसन्नता आदिका विचार अपेक्षित है। कोई भी व्यक्ति यदि इन मर्यादाओं-को तोड़ता है, तो केवल अपनी काम-वासनाकी प्रबलताके कारण ही। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मविचारका अधिकारी नहीं।

दुश्चरित्र 'मल' का ही दूसरा नाम है। मल अर्थात् पापकर्म,

पापबुद्धि और पाप-वासना। 'नाविरतो दुश्चरितात्' में पापकर्म-रूप मलका त्याग है।

२. नाशान्तः। इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे उत्पन्न अशान्तिसे रहित। काम-क्रोधादि विकारोंकी प्रबलतासे जो मन और इन्द्रियोंकी अशान्ति है, उसका अभाव यहाँ 'नाशान्तः' पदसे अभिव्यञ्जित है। ऐसा व्यक्ति न तो कर्माधिक्यसे विरत हो सकता है और न विरत होनेपर शान्तचित्त ही रह सकता है। इसमें पापबुद्धिके साथ असंयम मुख्य हेतु है। इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे निरोधा-भावरूप असंयम तथा राग-द्वेषकी प्रबलता ये ही अशान्तिके जन्मदाता हैं। अशान्त चित्तमें त्यागकी सामर्थ्य नहीं होती। काम आया तो फिसल गये, क्रोध आया तो गाली देने लगे। व्यक्ति या सिद्धान्तसे द्वेष हुआ तो सत्य ही छोड़ बैठे!

कुछ भक्त ऐसे होते हैं, जो ब्रह्म-नामसे ही चिढ़ते हैं तो कुछ ज्ञानमार्गी ऐसे हैं जो राम, कृष्ण आदि नामोंसे चिढ़ते हैं। हम सम्पूर्ण भक्तिके आचार्योंकी बात जानते हैं। द्वैत और अद्वैतके सभी आचार्य 'ब्रह्म' शब्दको परिपूर्ण परमार्थ सत्यका वाचक मानते हैं, भले ही उस सत्यके नाम उन्होंने पृथक्-पृथक् रख दिये हों। किसीने ब्रह्मका अर्थ निर्गुण-निराकार किया, तो किसीने सगुण-निराकार। किसीने सगुण-साकार तो किसीने राम, कृष्ण अथवा शिव। वाच्यार्थमें भेद होनेपर भी ब्रह्म-शब्दका लक्ष्यार्थ अपरि-च्छिन्न, सच्चिदानन्द, अद्वय परमात्मा सबका एक ही है। तब यदि कोई ब्रह्मशब्दसे ही द्वेष करे तो प्रथम तो वह अपने आचार्य-का असम्मान करता है और द्वितीय अपने हृदयमें अशान्तिका बीज बोता है। सारांश, 'नाशान्तः' में इन्द्रिय-विक्षेपसे उत्पन्न अशान्तिका अभाव विवक्षित है।

३. नासमाहितः। जिसका चित्त समाहित नहीं, वह ब्रह्मविचार नहीं कर सकता। चित्तके विक्षेपकी निवृत्ति 'समाहित' शब्दसे प्रकट होती है। राग-द्वेषसे उत्पन्न जो चित्तका विक्षेप है, उसकी निवृत्तिका नाम 'समाधान' है। चित्तकी सहज चञ्चलताका अभाव समाधान है। चञ्चल चित्त एक दिशामें बँधकर विचार नहीं कर सकता।

४. नाशान्तमानसो वापि। प्रश्न यह है कि "ठीक है, आपमें दुश्चरित्र नहीं, आपकी इन्द्रियाँ और चित्त भी शान्त है और ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त भी हैं, किन्तु क्या आप सत्यके विचारका फल सत्य ही चाहते हैं या 'कुछ और' भी?" यह 'कुछ और' क्या हो सकता है? क्या आप चाहते हैं कि ब्रह्मविचारसे आप पानीपर चल सकें, आकाशमें उड़ सकें, दूसरेके मनकी बातें जान सकें या अणिमा आदि अन्य कोई सिद्धि पा लें? यदि इन्हें चाहते हैं तो इस फलेच्छाका विक्षेप आपको 'अशान्त-मानस' बना देगा और आप ब्रह्मविचार के अधिकारसे च्युत हो जायँगे। कोई जज किसी मुकदमेमें निर्णय करनेवाला हो, पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंका सुन चुका हो और उसमें निर्णय करनेकी योग्यता भी हो, परन्तु तभी उसके मनमें घूस (*Bribe*) का लोभ आ जाय, तो क्या वह यथार्थ निर्णय दे सकेगा? स्पष्ट है कि नहीं। इसी प्रकार सिद्धियों-का लोभ जिज्ञासुको लक्ष्यसे भटका देता है।

जिसमें उपर्युक्त चार दोष हों, वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही वह शास्त्र-वार्तामें निपुण हो, युक्ति एवं तर्क-वितर्कमें पटु हो। कुतर्क या तर्क-वितर्कसे ब्रह्म प्राप्त नहीं होता; क्योंकि तर्कका कोई लक्ष्य नहीं और न उसमें कोई स्थिरता ही होती है। तर्क तो दाँये-बाँये बाजू दोनों ओर हो सकता है और आजका तर्क अभी नहीं तो कल, अधिक विद्वान् व्यक्ति काट

सकता है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रमें तर्ककी अप्रतिष्ठाकी बात कही गयी है। श्रुतिमें भी **नैषा तर्केण मतिरापनेया** आदि वाक्य कहे गये हैं। भर्तृहरिने भी कहा है :

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यै - रन्यथैवोपपाद्यते ॥

(वाक्यपदीय १.३४)

तर्क 'एक' वस्तुका साक्षात्कार नहीं करा सकता। हाँ, 'अनैक्य' हो जिनका लक्ष्य हो और जो चाहते हों कि तर्कसे चाहे जो सिद्ध हो सके, पहाड़पर चढ़ें चाहे खड्डेमें गिरें, उनको तर्क या केवल बुद्धिसे कुछ प्राप्त हो सकता है। किन्तु अध्यात्ममें जिसको एक ब्रह्म ही इष्ट है, उनके लिए तर्कके स्थानपर पूजितविचार अथवा मीमांसा ही अपेक्षित है। उसमें बुद्धिके साथ-साथ बुद्धिकी शोधक सामग्री, बुद्धि-विचारकी प्रणाली और लक्ष्योन्मुखता, सभी अपेक्षित हैं।

अबतकके विवेचनसे स्पष्ट हो गया कि आत्मा-अनात्माका विवेक, वैराग्य और षट्सम्पत्तिसे मण्डित तथा मल-विक्षेपसे रहित ब्रह्मतत्त्वका जिज्ञासु ब्रह्म-विचारका अधिकारी है। इसके अधिकारकी पूर्णताका अन्तिम चरण 'मुमुक्षा' है, जो चौथी साधन-सामग्री है।

'मुमुक्षा'का अर्थ है : मोक्षकी इच्छा। मोक्षमें पानेकी इच्छा उतनी नहीं होती जितनी छूटनेकी होती है। अतः मुमुक्षाका अर्थ है संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा, निर्बन्ध होनेकी इच्छा। जिसे अपना बन्धन नहीं दीखता अथवा जो बन्धनको बन्धन ही नहीं मानता, वह मोक्षकी इच्छा क्यों करेगा ? जैसे कोई जेलमें बन्द हो और जेलमें बन्द होनेका उसे कोई ज्ञान अथवा दुःख न

हो, तो क्या वह उस जेलसे छूटनेकी इच्छा करेगा अथवा उसके लिए प्रयत्न करेगा? अतः जो संसारके सुखोंमें सुखी है अथवा जो सांसारिक दुःखको दुःख ही नहीं मानता, वह मुमुक्षु नहीं हो सकता। मुमुक्षा होनेके लिए सुखका विवेक तथा बन्धनकी मीमांसा आवश्यक है।

सुखका विवेक यह है कि सुख सदैव आत्मनिष्ठ होता है। जो सुख पड़ोसीके घरमें रहता है अथवा वहाँ रख दिया जाता है, वह सुख नहीं, अन्यसे उत्पन्न, अन्यसे संरक्षित तथा अन्याश्रित सुख 'सुख' नहीं, दुःखका पूर्वरूप ही है। पराधीन 'सुख' दुःख ही है। विज्ञान, मन, प्राण, देह और विषय इन सबका सुख पड़ोसीके घरमें रखा सुख है जो उपलब्धि, भोग और नाशमें दुःखका ही सर्जन करता है।

पुनश्च, आत्मनिष्ठ सुख भी तभी सुख है, जब आत्माकी अल्पताकी भ्रान्ति नष्ट हो जाय तथा आत्माको भूमा जान लें।[1] दूसरे शब्दोंमें आत्माकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान ही सुख है। अतः सुखानुभूतिमें मुमुक्षुके लिए विवेक यह है कि जो ब्रह्म नहीं, वह अनित्य, असत्, जड़ और दुःखरूप है। उस वस्तुसे प्राप्त होनेवाला सुख मिथ्या है, प्रतीयमान होनेपर भी वह पुरुषार्थके योग्य नहीं।

मिथ्यात्वके सम्बन्धमें चार बातोंपर विचार आवश्यक होता है: (१) प्रागभाव = प्राक् + अभाव। प्रत्येक दृश्यमान वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति अपनी प्रतीतिसे पूर्व अभावरूप होती है। अर्थात् प्रत्येक दृश्य वस्तु अपने प्रागभावकी प्रतियोगी होती है। (२) प्रध्वंसाभाव = प्रध्वंस + अभाव। प्रत्येक वस्तु अपनी प्रतीतिके अनन्तर अभावरूप हो जाती है। अर्थात् प्रत्येक दृश्य

---

१. यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।—छान्दोग्य-उपनिषत्

वस्तु अपने प्रध्वंसाभावकी प्रतियोगी होती है। (३) प्रत्येक दृश्य किसी चेतन द्रष्टाका विषय होता है तथा उसका आश्रय होता है चेतन। और (४) एक दृश्यका दूसरे दृश्यसे भेद होता है। इस प्रकार :

१. प्रत्येक दृश्य काल-बाधित होता है; क्योंकि उसका प्राग-भाव और प्रध्वंसाभाव होता है।

२. प्रत्येक दृश्य देश-बाधित होता है; क्योंकि उसका आश्रय और द्रष्टा उससे भिन्न होता है।

३. प्रत्येक दृश्य वस्तु-बाधित होता है; क्योंकि एक दृश्य दूसरेसे भिन्न होता है।

किन्तु ब्रह्म देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। अतः कोई भी भाव, अभाव अथवा भावाभाव ब्रह्म नहीं हो सकता। तब उनसे प्राप्त सुख ब्रह्म-सुख कहाँ ? इसीलिए मुमुक्षु उसकी प्राप्तिमें प्रवृत्त नहीं होता।

जो लोग कर्म-प्रधान साधन करते हैं, वे कर्मके बलपर सुखा-रोहण तो करते हैं, पर कर्म-शक्तिके क्षीण होनेपर पुनः यथापूर्व स्थितिमें ठीक उसी प्रकार लौट आते हैं, जिस प्रकार एक पत्थरके टुकड़ेको कुछ बल लगाकर ऊपर फेंकनेपर वह उस बलके अनुसार यथोचित ऊँचाई तो प्राप्त कर लेता है, पर उस बलकी सीमा समाप्त होते ही पुनः धरतीपर लौट आता है। इस प्रकार कर्मसे प्राप्त होनेवाला सुख अनित्य होनेसे ब्रह्म नहीं है।

जो लोग भाव-प्रधान साधन करते हैं, वे इष्टके लोकमें जाकर सुखी होना चाहते हैं। वे अपने सुखको देशमें बाँधकर उसे देश-परिच्छिन्न बना देते हैं। वह भाव-सुख भी ब्रह्म नहीं है।

कुछ लोग अलीकाकाश अथवा अपने अन्तर्देशमें सुखका अनुसंधान करते हैं। वह भी देश-परिच्छिन्न होनेसे ब्रह्म नहीं है।

कल्पना अथवा विचारका सुख भी ब्रह्म-सुख नहीं। सब सुखोंमें कुछ-न-कुछ प्रतिबंध बना हुआ है। अतः इनमें-से कोई ब्रह्म-सुख नहीं। ब्रह्म वह है जो कल्प्य देश, काल, वस्तु और उनकी कल्पनाका अधिष्ठान एवं प्रकाशक है।

इस प्रकार मुमुक्षुओंके लिए समाधिका सुख, दिव्य लोक-लोकान्तर तथा उनके अधिष्ठातृ देवताओंके दर्शन, विज्ञान और शक्तिका सुख, कर्मजन्य सुख·· सभी उपेक्षणीय हैं; क्योंकि इनसे प्राप्त ईश्वर पूर्ण नहीं, कटा-पिटा, परिच्छिन्न होता है; अपरिच्छिन्न ब्रह्म नहीं। यदि ईश्वर ऊपर रहता है और नीचे नहीं रहता तो वह ईश्वर आधा है। यदि ईश्वर भीतर रहता है और बाहर नहीं अथवा बाहर रहता है और भीतर नहीं, तो वह ईश्वर आधा है। जो ईश्वर पहले था, अब नहीं अथवा जो अब है, आगे नहीं रहेगा वह भी आधा है। जो ईश्वर 'मैं' है, 'यह' नहीं अथवा जो यह है, पर मैं नहीं, वह भी आधा है। आधा ईश्वर ब्रह्म नहीं हो सकता। परिपूर्ण ईश्वर ही ब्रह्म है। ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, आगे-पीछे, आज-कल, यह-मैं—सब कुछ ब्रह्म है। सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद-शून्य प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादानकारणरूप विवर्ती अधिष्ठान ही ब्रह्म है।

ब्रह्म, ज्ञान, सुख तथा मोक्ष—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मोक्षके जिज्ञासुको ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई भी सुख आकृष्ट नहीं करता; क्योंकि उसकी प्यास सुखकी नहीं, अपितु अबाधित सद्-वस्तु अर्थात् ब्रह्मके ज्ञानकी है, अपने बन्धन काटनेकी है।

भोगमें पराधीनता है। कोई भी भोग पराधीन हुए बिना

नहीं भोगा जा सकता। स्त्री-भोगमें स्त्रीकी पराधीनता है। वस्तु-भोगमें वस्तु तथा देहकी पराधीनता है। भोगमें कालकी पराधीनता है और भोगके करण इन्द्रियोंकी भी पराधीनता है।

कर्म-वासनामें समाज, सरकार, सामग्री, सामर्थ्य आदिकी पराधीनता है। वासनाका विषय नाशवान् है। वासनाका करण कालके प्रभावसे सामर्थ्यहीन हो जाता है। मनमें सदैव वासनाके विषयके प्रति रुचि नहीं रहती। भोक्तापन सदैव जाग्रत् नहीं रहता। उदाहरणार्थ : मानव सुषुप्तिमें सो जाता है तो वासना-जन्य सुखका परिपाक तो बन्धन ही है। वह मोक्ष-सुख नहीं है। अतः मोक्षार्थीको वैराग्य चाहिए :

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्।

मोक्षकी इच्छा कोई बच्चोंका खेल नहीं। उसमें कुछ पानेकी नहीं, केवल बन्धनसे छूटनेकी इच्छा होती है। मात्र बन्धन और पराधीनतासे छूटना यहाँ अपेक्षित नहीं, यहाँ तो 'पर'से ही छूटनेकी चाह है। प्रायः लोग सुख चाहते हैं तथा मोक्षको महान् सुखका आश्रय मानते हैं। किन्तु मोक्षमें सुखकी भी चाह नहीं, सुखके प्रतिबंधोंकी निवृत्ति प्रधान है; क्योंकि सुख तो आत्माका स्वरूप ही है :

अज्ञानहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्ष इतीरितः।

"मोक्ष किसी गाँवमें नहीं बसता। हृदयकी अज्ञान-ग्रन्थिके भेदनका नाम ही 'मोक्ष' है।"

ब्रह्मका ज्ञान कोई प्राप्त करना नहीं और न ब्रह्ममें बैठना ही है। 'अहमज्ञः, अहं ब्रह्म' इत्याकारक अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति ही कर्तव्य है। यही अज्ञानका छेदन है और यही है मोक्ष। ये दो

अंगुलियाँ हैं। इनमें 'एक' और 'दो' यह जो क्रम का अनुभव होता है, वही काल है। क्रमकी 'संवित्'का नाम काल है। अंगुलियोंके बीच यह जो पोलापन, जो आकाश है उसमें जितना स्थान ये अंगुलियाँ घेरे हुए हैं, वह देश है। 'दैर्घ्य-विस्तारकी संवित्'-का ही नाम 'देश' है। और ये जो स्वयं हड्डी-मांसकी अंगुलियाँ हैं, वह द्रव्यात्मक 'वस्तु' है। देश, काल और वस्तु तीनों और उनका यह भेद, अन्तर, अभाव कहाँ दीखता है? किसमें दीखता है? किसे दीखता है? कब दीखता है?

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज कहा करते थे कि 'यह सम्पूर्ण प्रपंच अपने अभावमें ही दीखता है। देश देशाभावमें, काल कालाभावमें और वस्तु वस्त्वभावमें दीखती है तथा देश, काल, वस्तुका भेद, भेदाभाव अभेदमें दीखता है। वह अभेदस्वरूप अधिष्ठान ब्रह्म-चैतन्य होनेसे आत्मासे अभिन्न है। अतः ब्रह्म-चैतन्यमें ही आत्म-चैतन्यको ये देश, काल, वस्तु और इनका भेद बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है। चैतन्यमें आत्मत्व और ब्रह्मत्वके भेदका कोई निमित्त नहीं।'

इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षासे सम्पन्न जिज्ञासु ही ब्रह्मज्ञानका अधिकारी है। इसी अधिकार-सम्पादनके अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा करणीय है। सूत्रके 'अथ' शब्दका अर्थ यही 'आनन्तर्य' है।

आप कहेंगे कि वेदान्तका यह अधिकार (साधनचतुष्टय-सम्पत्ति) अत्यन्त कठिन है। संसारमें कदाचित् ही कोई वेदान्त-का अधिकारी मिले। इस सम्बन्धमें कई भ्रम और कई बाधाएँ हैं। उनकी थोड़ी-सी चर्चा यहाँ करना आवश्यक है।

प्रथम तो प्रत्येक व्यक्तिको ब्रह्मज्ञानका अधिकार है। जब गीताके अनुसार पापीसे पापी भी ज्ञानकी नौकापर बैठकर भव-

सागरसे तर सकता है, तो साधारण अथवा पुण्यवानोंकी बात ही क्या है ?

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

(गीता ४.३६)

अतः अपने अतीतमें किये पापोंकी चिन्ता छोड़ दें । वर्तमानमें सावधान रहें, और भविष्य तो वर्तमानमें आकर ही प्रत्यक्ष होता है ।

अब रही साधनचतुष्टयकी बात ! देखें, यह सम्पत्ति तो आपमें इसी क्षण उपस्थित है । आप घर-बार छोड़कर घण्टेभरके लिए यहाँ वेदान्त सुनने आये हैं, मनमें कुछ विवेक-वैराग्य है, तभी तो आये हैं । यहाँ न कोई इन्द्रियभोग है, न काम-धंधा; चुपचाप बैठे हैं । अतः 'शम, दम, उपरति' आपके पास हैं ही । कड़े फर्शपर घंटेभर बैठते हैं, बिजली चली जानेपर गर्मी भी सहते हैं, अतः 'तितिक्षा' भी हो गयी । नीचे बैठकर सुनते हैं तो 'श्रद्धा' है । आपका मन यहाँ मनोराज्य भी नहीं करता, अतः 'समाधान' भी आपको प्राप्त है । वेदान्तकी बात सुनकर आपके मनमें मोक्षकी आकांक्षा जागती है, अतः 'मुमुक्षा' भी हो गयी । इस प्रकार इस समय आप साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हैं, अतः सचमुच आप वेदान्तश्रवणके अधिकारी हैं ।

यदि कहें 'यह अधिकार तो क्षणिक है, सत्संगसे बाहर जाकर नहीं रहता ?' तो आप इसे नियमसे अपने जीवनमें प्रतिदिन एक घंटेके लिए अपना लीजिये । कालान्तरमें यही अधिकार स्थायी बन जायगा ।

एक सामान्य शंकाका निराकरण भी आवश्यक है । लोग कहते हैं कि 'ये वेदान्ती लोग रात-दिन संसारको मिथ्या कहते

रहते हैं; पर संसार ही सबके सिरपर सवार रहता है ?' इसे तनिक ध्यानसे समझिये। जैसे किसी आदमीने आपसे कहा : 'कल सूर्य पृथ्वीपर उतर आया था।' आप तुरन्त उसे झूठा, मिथ्यावादी कहेंगे। किन्तु आपके 'झूठ', 'मिथ्या' शब्दोंका क्या अर्थ है ? आपका अर्थ उस व्यक्ति द्वारा बोले गये वाक्यार्थको झूठा कहनेमें है, इसमें नहीं कि उस आदमीने कोई बात कही ही नहीं। यहाँ उस आदमीका बोलना नहीं; उसका अर्थ मिथ्या है। इसी प्रकार वेदान्ती जगत्‌की ऐन्द्रियक प्रतीतिको नहीं, अपितु उसके अर्थको मिथ्या कहते हैं। आकाशमें नीलिमा प्रतीत होती है, पर आकाशके स्वरूपमें नीलिमा न होनेसे वह मिथ्या है। 'जहाँ जो वस्तु न हो और दिखायी पड़े, वहाँ वह वस्तु मिथ्या होती है।' आकाशमें पूर्व-पश्चिम मिथ्या हैं, यद्यपि व्यवहार्य हैं। यह जो जगत् प्रतीत हो रहा है, वह हमारी प्रतीतिका विषय है और उस प्रतीतिका प्रकाशक आत्मा है। वेदान्त कहता है कि प्रतीतिका प्रकाशक और आश्रय (अधिष्ठान) एक ही अपरिच्छिन्न ब्रह्म-चेतन है। अतः प्रतीत और व्यवहार्य होनेपर भी वह मिथ्या है; क्योंकि प्रतीति ब्रह्माभिन्न है और ब्रह्मके स्वरूपमें ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु नहीं।

एक शंका यह भी होती है कि "वेदान्त कहता है : 'अपने आपको जानो।' अपने आपको तो सभी जानते हैं, फिर भी जीवनमें अनर्थ है ही। अतः अपने आपको जाननेसे क्या लाभ ?" इसमें भी थोड़ा संशोधन कर लीजिये। वेदान्त यह नहीं कहता कि 'अपने आपको जानो।' वह कहता है : 'अपने आपको ब्रह्म जानो'। अनर्थ-का मूल अपना अज्ञान नहीं। अपने आपको तो किसी-न-किसी रूप-में सभी जानते हैं। न जानते तो आदमी मोटा-पतला होनेका क्यों प्रयत्न करता ? गरीब या धनी होनेका क्यों प्रयत्न करता ? अतः अनर्थका मूल सामान्य अज्ञान नहीं, अपितु अपनी आत्माके

ब्रह्मत्वका अज्ञान है। संसारके रहनेसे, उसके प्रति व्यवहारसे, देहके रहने तथा उसके प्रति व्यवहारसे, कुछ हानि-लाभ नहीं। अनर्थ तो अपने ब्रह्मत्वके अज्ञानसे निकलता है। किसीकी सुषुप्ति समाधि बन जाय, स्वप्न वैकुण्ठ हो जाय तथा जाग्रत् स्वर्ग हो जाय तो भी उससे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म-ज्ञानका लक्ष्य कोई परिस्थितिविशेष; अथवा सुखविशेष उत्पन्न करना नहीं। ब्रह्मज्ञानका लक्ष्य तो केवल आत्माके ब्रह्मत्वके अज्ञानका नाश है। कोटि-कोटि स्वर्ग, वैकुण्ठ और समाधियाँ, कोटि-कोटि जाग्रदादि अवस्थाएँ, 'कोटि-कोटि अल्प-महान् वस्तुएँ जिस एक ब्रह्म-चैतन्य-सागरमें उदित हो-होकर अस्त हो रही हैं, वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म आप हैं—वेदान्त ऐसे ज्ञानका उपदेश करता है।

श्रुतिने कहा है : **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**। अर्थात् आत्माका दर्शन करो। दर्शन कैसे करें, तो कहा : **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**। अर्थात् 'उसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो', यानी विचार करो। विचार क्यों करें, किस प्रयोजनके लिए करें? विचार तो तभी होता है, जब उसके विषयमें सन्देह हो या उससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो। तो, आत्मा स्वतःसिद्ध होनेपर भी उसके ब्रह्मत्वमें सन्देह है; क्योंकि श्रुति **तत्त्वमसि** आदि महावाक्योंसे आत्माको ब्रह्म बताती है, परन्तु वर्तमानमें अनुभव तथा अनेक श्रुतियाँ भी इसके विरुद्ध प्रतीत होती हैं। दूसरे, सुख सभीको किसी-न-किसी रूपमें अनुभूत है—विषय-सुख जाग्रत् और स्वप्नमें तथा निर्विषय सुख सुषप्ति अथवा समाधिमें। यह भी अनुभूत है कि विषय-सुख श्रम-साध्य और पराधीन है तथा सभी सुख कालबाधित हैं। अतः सभी व्यक्ति ऐसा सुख चाहते हैं जो देश, काल, वस्तुके पराधीन न हो, श्रमसाध्य न हो। श्रुति ब्रह्मको **आनन्दं ब्रह्म** कहती है। अतः आत्माको ब्रह्मरूप जाननेमें परमा-

नन्दकी प्राप्तिरूप प्रयोजन भी है। इस प्रकार ब्रह्मका विचार (जिज्ञासा) करना ही चाहिए। 'अतः' पदके अर्थमें यह प्रयोजन निहित है।

खण्ड-खण्ड देशोंमें जो उपस्थित रहे, वह देश ही है और खण्ड-खण्ड कालोंमें जो उपस्थित रहे, वह काल ही है। किन्तु जो समूचे देश और कालका अधिष्ठान है, वह न देश है और न काल। अतः ब्रह्मज्ञानमें व्यापकताका अनुसन्धान नहीं, अधिष्ठानका अनुसन्धान है।

आत्माको ब्रह्म जानना ऐसा भी नहीं जैसे १०० रुपयोंके ज्ञानसे १ रुपयेका ज्ञान। अथवा ऐसा भी नहीं, जैसे महाकाशके ज्ञानसे घटाकाशका ज्ञान। अर्थात् आत्मा और ब्रह्मका अल्प और महान्का-सा द्वैत-सम्बन्ध नहीं। जो आत्मा है, वही ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वही आत्मा है। वह ब्रह्म समस्त देश-काल-वस्तुके परिच्छेदोंसे रहित, उनके भावाभावका प्रकाशक प्रत्यक्-चैतन्या-भिन्न आत्मा है। यही ब्रह्मज्ञान है।

'ज्ञान'का कोई प्रयोजन नहीं होता; क्योंकि वह तो सदैव एकरस रहता है। किन्तु शुद्ध अन्तःकरणमें जो 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य अखण्डार्थवृत्ति उत्पन्न होती है, वह उस अन्तःकरण-स्थित अन्तःकरणके प्रकाशक चैतन्य आत्माका अज्ञानावरण भङ्ग कर देती है और स्वयं भी उसी ज्ञानस्वरूप अधिष्ठानसे एक हो जाती है, अर्थात् आत्मरूप बन जाती है। तब अज्ञानजन्य समस्त त्रिविध तापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तथा प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिके कारण स्वरूपभूत परमानन्द निर्बाध रूपसे स्फुरित होने लगता है। यही मोक्ष है, जो अतः पदका अर्थ है।

जब हम मोक्षका स्वरूप 'अनर्थकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति' कहते हैं, तो ऐसी वासनाओंके समूहीकरण अथवा एक

तत्त्वके प्रति अभिमुखीकरणके लिए ही कहते हैं। वस्तुतः अविद्या-निवृत्ति ही मोक्ष है।

अविद्या-निवृत्ति ही मोक्ष क्यों? जो वस्तु देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न होगी वह प्रत्येक देश, प्रत्येक काल और प्रत्येक वस्तुमें वर्तमान होगी। इसलिए अपरिच्छिन्न ब्रह्म भी सर्वदेशमय, सर्वकालमय, सर्ववस्तुमय होना चाहिए और इनसे अतीत भी! तब 'वह, यह, मैं'का परिच्छेद भी ब्रह्ममें नहीं होगा। अतः ब्रह्म अभी है, यहीं है और आपका 'मैं' है। वह सर्वदा, सर्वत्र विद्यमान है। उसकी अप्राप्तिका केवल भ्रम होता है। जो मात्र अपनी आत्माके ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानका परिणाम है। अतः आत्माको ब्रह्म जान लेनेपर, अज्ञानके नष्ट होते ही ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मकी प्राप्ति अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं, नित्यप्राप्त वस्तुकी अप्राप्तिके भ्रमकी निवृत्तिरूप है।

अनर्थका मूल विषयके ज्ञाता और आश्रयके भेदमें तथा ज्ञाताके भोक्तृत्व-कर्तृत्व-संसारित्वमें होता है। आत्माको ब्रह्मरूप जाननेसे इस मूल अनर्थकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि यह सारा परिच्छिन्नताका ही परिवार है। तब सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति-पूर्वक परमानन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति अथवा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा कहा जाता है। यही 'अतः' पदका अर्थ है। अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है। ●

(२.३)

साधन-विचार

प्रश्न यह है कि आत्माको ब्रह्म जाननेका साधन क्या है ? ब्रह्मज्ञानके लिए हम क्या करें ? क्या छोड़ें और क्या ग्रहण करें ? कौन-सी ध्यान-धारणा करें ? समाधि कैसे लगे ? ब्रह्मज्ञानके लिए समाधि आदि साधनकी आवश्यकता है भी या नहीं ?

एक पक्ष कहता है : 'बिना कुछ किये कोई अवस्था, स्थिति, ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। केवल ब्रह्मात्मैक्यकी चर्चा अथवा विचार करना ब्रह्मज्ञानका हेतु नहीं।' दूसरा पक्ष कहता है : 'कर्मसे जो भी अवस्था, स्थिति, ज्ञान प्राप्त होगा, वह विनाशी होगा। यदि किसी साधनाके परिणामस्वरूप ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो तो तद्रूप (ब्रह्मज्ञानरूप) मोक्ष भी अनित्य होगा। अनित्य मोक्ष निश्चय ही वेदान्तका प्रयोजन नहीं। अतः ब्रह्मज्ञानके लिए किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं, स्वयं ज्ञान ही साधन है।'

तब सचाई क्या है ?

यह ठीक है कि मोक्ष आत्माका स्वरूप है तथा आत्माकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान साधन-साध्य नहीं। किन्तु हम यह पूछते हैं कि 'आत्मा साधन-साध्य नहीं है' यह ज्ञान आपमें कैसे उदित हुआ ? इसके उदयके लिए अन्तःकरणकी पूर्व-तैयारी तो आवश्यक ही है। पहले आप यह समझें कि साधनसे क्या मिलता है और ज्ञानसे क्या ?

साधन साध्यके लिए होता है। साध्यका प्रागभाव और प्रध्वंसा-भाव भी होता है, क्योंकि साधनका स्वभाव ही वह है। किन्तु जो वस्तु नित्य-सिद्ध होती है, उसकी प्राप्ति मात्र ज्ञानसे ही होती है। साधनसे अनित्य साध्य मिलता है तो ज्ञानसे नित्य-सिद्ध वस्तु, यही साधन और ज्ञानका भेद है। जो वस्तु पहलेसे विद्यमान है, वह केवल अज्ञानसे ही अप्राप्त रहती है; अज्ञता ही उसकी अप्राप्ति है। अतः उस वस्तुका ज्ञान उसमें मात्र ज्ञातता उत्पन्न कर उसे ज्ञाताको प्राप्त करा देता है। ज्ञान केवल अज्ञानको दूर करता है, वस्तुमें कोई नवीनता नहीं लाता।

वस्तुके बोधमें ज्ञान प्रमाणातिरिक्त किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं रखता। जैसे रूप-ज्ञानके लिए केवल उत्तम नेत्र चाहिए, वैसे ही प्रमेय-वस्तु (ब्रह्म) के साक्षात्कारके लिए केवल शुद्ध प्रमाण ('तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य वृत्ति) चाहिए; न कर्म, न उपासना, न योग, न ध्यान, न धारणा और न समाधि। किन्तु हाँ, जैसे नेत्रमें रोग होनेपर उसे औषधसे शुद्ध किया जाता है—औषध केवल रोगनिवृत्तिमें हेतु है, आँखकी देखनेकी शक्ति उत्पन्न करनेमें नहीं, ठीक वैसे ही जिस अन्तः-करणमें प्रमाणवृत्ति उदित होती है उसमें बाह्य कर्मों और आन्तर वासनाओं द्वारा उत्पन्न केवल मल-विक्षेपरूप रोगकी निवृत्तिके लिए साधनकी आवश्यकता होती है :

रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता।

ब्रह्म-जिज्ञासुको भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि शास्त्रोक्त सभी साधनोंका प्रयोजन मोक्ष-सम्पादिका प्रमाण-वृत्तिके आश्रय अन्तःकरणके रोगकी निवृत्तिमें है, सीधे ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिमें नहीं। अतः साधनोंको केवल औषधवत् स्वीकार करना इष्ट है, स्वास्थ्यवत् नहीं। रोगनिवृत्तिके पश्चात् साधन त्याज्य हो जाते

हैं। साधनसे पूर्व और साधनके पश्चात् जो आप हैं, वे ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। केवल आपके वास्तविक स्वरूपकी अज्ञता ही नष्ट होकर ज्ञातता उदित हुई है।

अद्वैततत्त्व कभी साधन-साध्य नहीं, सिद्ध है, नित्य-प्राप्त है। नित्य-प्राप्तमें अप्राप्तिका भ्रम मिटानेके लिए ही ज्ञानकी आवश्यकता है। यदि आपको भय हो कि ज्ञानारण्यमें भटक जायँगे, तो प्रति-बन्धोंकी निवृत्तिके लिए उपाय कर लीजिये। साधन ब्रह्मको दिखानेके लिए नहीं, केवल प्रमाणको सुधारनेके लिए होता है।

वेदान्त अप्राप्तका प्रापक नहीं है। वह बताता है कि 'तुम बिलकुल पूर्ण हो।' यही ज्ञान सब कमजोरियोंको मिटा देता है। स्वास्थ्य आपका स्वभाव है। किन्हीं कारणोंसे आपको पागलपन हो गया कि 'आप देह हैं, देही हैं, कटने-पीटनेवाले हैं, रोगी हैं।' उन कारणोंको हटा दीजिये तो बस! और कुछ अपेक्षित नहीं है। आपके पास जो हीरा है, उसे पहचान भर लीजिये। उस पहचानने-में जो प्रतिबन्ध है उसे साधनसे हटा दीजिये।

यों तो साधनकी बातें पुस्तकों और पण्डितोंसे बहुत-से लोग जान जाते हैं, किन्तु उसकी गहराइयाँ तो वे अनुभवी महापुरुष ही जानते हैं जिन्होंने अपना जीवन साधनोंके प्रति समर्पित कर दिया है। कविने कहा है:

अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्,
आपातालनिमग्नपीवरतनुः जानाति मन्थाचलः।

'यह ठीक है कि वानर-भट समुद्र पार कर गये, किन्तु वे समुद्रकी गहराईको नहीं जान सके। समुद्रकी गहराईका ज्ञान तो मन्दराचल पर्वतको ही हो सका, जो समुद्रमें आपादमस्तक प्रवेश

कर उन्मज्जन-निमज्जन करने लगा था।' अतः साधनका निर्णय किसी अनुभवी महापुरुषसे ही कराना चाहिए।

वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानके अन्तर्गत **चार प्रकारके साधन** स्वीकृत हैं। यों वेदान्तमें चारकी गिनतीकी बड़ी महिमा है। ब्रह्म चतुष्पाद है, ब्रह्मसूत्रके ४ अध्याय हैं; प्रत्येक अध्यायके ४ पाद हैं, साधन-चतुष्टयका अभी वर्णन हुआ ही है, आदि। बात यह है कि साधन अन्तःकरणमें आये दोषोंकी निवृत्तिके लिए होता है। हमारे कर्मोंका प्रभाव हमारे अन्तःकरणपर पड़ता है, अतः कुल साधन **कर्म-शोधक** होते हैं। अन्तःकरणमें पूर्व-पूर्व कर्म और तज्जन्य वासनाओंके कारण जो मल-विक्षेप उत्पन्न हो जाता है, उसके शोधक साधन **कारण-शोधक** कहलाते हैं। वासनाकी न्यूनता अथवा शुद्धि होनेपर भी अन्तःकरणमें जो अपने, जगत् और ब्रह्मके बारेमें अज्ञान, संशय तथा विपरीत ज्ञान भरा है उसका शोधन-हेतु साधन **पदार्थ-शोधक** होता है। पद-पदार्थका यथार्थ बोध होनेपर भी जबतक अपनी पूर्णताके बोधक 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य अखण्डार्थज्ञानका उदय नहीं होता तबतक ब्रह्मज्ञान नहीं होता। अतः इस ब्रह्मात्मैक्यबोधिनी वृत्तिको वेदान्तमें **साक्षात् साधन** कहा गया है।

इसे आप बन्दूकके दृष्टान्तसे समझ सकते हैं। नियम यह है कि ठीक निशाना लगानेके लिए चार बातें आवश्यक हैं: १. बन्दूककी नली साफ हो, २. बन्दूकमें गोली भरी हो, ३. आँख, नली और लक्ष्य तीनों एक सीधमें कर लिये गये हों तथा ४. अंगुली-अंगूठा बन्दूकके घोड़ेपर हो और अन्तमें घोड़ा दबा दिया जाय। यहाँ बन्दूककी नली साफ करना कर्म-शोधन, गोली भरना करण-शोधन, लक्ष्यकी एकता करना पदार्थ-शोधन तथा घोड़ा दबा देना साक्षात् साधन है।

इन चार साधनोंके दूसरे नाम भी हैं। कर्मशोधक साधन **परम्परा-साधन**, कारणशोधक साधन **बहिरंग साधन** तथा पदार्थ-शोधक साधन **अन्तरंग साधन** कहलाते हैं। **साक्षात् साधन** तो साक्षात् हैं ही। अब प्रत्येक साधनपर थोड़ा-थोड़ा विचार करें :

१. **परम्परा-साधन** (कर्मशोधक साधन) : वस्तु और क्रियाके अनुचित सम्बन्धसे होनेवाले जो असाधन जीवनमें आते हैं—जैसे चोरी, व्यभिचार, अनाचार आदि और उनके विरोधी, जैसे अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आदि, वे परम्परा-साधन कहलाते हैं। वस्तु आपकी नहीं है, उसे ले लेनारूप कर्म चोरी है। वस्तु आपको चाहिए और वह अनुचित ढंगसे प्राप्त की जाय, तो वह अनुचित ढंग अधर्म है। एक शब्दमें, शारीरिक तथा ऐन्द्रियक संयम तथा शास्त्रोक्त यज्ञ-यागादि कर्म 'धर्म' कहलाते हैं। धर्मका पालन अधर्मका नाशक है। धर्म हमारे कर्मों का नियन्ता है। वह हमारे जीवनको वासना-पथसे हटाकर मर्यादित भोग तथा संवैधानिक सभ्य-सामाजिक आचरणके पथपर आरूढ़ करता है। प्रत्येक समाजमें प्रत्येक व्यक्तिके लिए यह एक अवश्यकरणीय धर्म होता है। इस प्रकार धर्म परम्परया वेदान्तका प्रथम साधन स्वीकृत है।

धर्मके अन्तर्गत उपासना सहकारी और स्वतन्त्र साधन भी है। उपासनासे धर्म वृद्धिको प्राप्त होता है और धार्मिक व्यक्तिकी उपासनामें सहज रुचि होती है। धर्मके साथ उपासना भी परम्परा-साधन ही स्वीकृत है। धर्मकी अपेक्षा उपासना अन्तरंग हैं; क्योंकि धार्मिक क्रियाका आधार स्थूलशरीर होता है, जब कि उपासनाका आधार मन।

योग भी विशिष्ट उपासना होनेसे परम्परा-साधन ही है। उपासना वासनाको बाँधती है और योग चित्तकी चंचलता दूर करता है। फिर भी उपासनाकी अपेक्षा योग अन्तरंग है।

धर्ममें बहिर्मुख प्रवृत्ति, उपासनामें अन्तर्मुख प्रवृत्ति तथा योगमें निवृत्ति रहती है। धर्ममें स्पष्ट कर्ता, उपासनामें गौण कर्ता और योगमें अज्ञात कर्ता रहता है। धर्म, उपासना और योगके परिणामस्वरूप एक साध्यस्थितिकी प्राप्ति होती है, जिसका टूटना अनिवार्य है। अतः ब्रह्मज्ञानमें ये परम्परा-साधन माने गये हैं।

धर्म, उपासना और योग क्रियारूप होनेसे स्वयं बाहर होते हैं, किन्तु इनका फल भीतर अन्तःकरणमें होता है।

२. बहिरंग साधन (करणशोधक साधन) : विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा—ये साधन-चतुष्टय बहिरंग साधन कहलाते हैं। परम्परा-साधनकी अपेक्षा तो ये अन्तरंग हैं, पर श्रवण-मननको अपेक्षा हैं बहिरंग। अतः इनकी गिनती बहिरंग-साधनोंमें ही है।

अन्तःकरणमें स्थित अविवेक, भोगासक्ति आदि दोषोंको नष्ट करनेके कारण साधन-चतुष्टयको 'करणशोधक साधन' माना जाता है। निष्कामता इसका बीज है और विवेक है उर्वरक। जहाँ दोष हैं, उसी अन्तःकरणमें ये साधन होते हैं। इनमें बाह्य पदार्थ, क्रिया अथवा भावना नहीं हैं। ये निवृत्तिरूप हैं। निवृत्ति अपने अधिकरणसे भिन्न नहीं होती। फिर भी ये केवल करणके शोधक हैं, वस्तुतत्त्वके बोधक नहीं। इसीलिए इन्हें 'बहिरंग साधन' कहते हैं। इन साधनोंका वर्णन हो चुका है।

३. अन्तरंग साधन (पदार्थशोधक साधन) : ये साधन हैं श्रवण, मनन, निदिध्यासन। ये वस्तु (ब्रह्म) के स्वरूपको लक्ष्य करते हैं। तत्-पदार्थ—जगत्कारण ईश्वरका श्रवण, त्वं-पदार्थ—कर्ता, भोक्ता, संसारी, परिच्छिन्न जीवका श्रवण और तत्-त्वं की

एकताका श्रवण तथा इन्हींका मनन और निदिध्यासन अथवा निश्चय—ये अन्तरंग साधन हैं। प्रतिबन्धरहित साधक श्रवण-मात्रसे कृतकृत्य हो जाता है; क्योंकि जहाँ वस्तु अपरोक्ष होती है, वहाँ श्रवणमात्रसे अपरोक्षज्ञान ही होता है और जहाँ वस्तु परोक्ष होती है, वहाँ श्रवणसे वस्तुका परोक्ष-ज्ञान होता है, वहाँ श्रवणसे वस्तुका परोक्ष-ज्ञान होता है। ब्रह्म सदा अपरोक्ष है, क्योंकि वह अपना आत्मा ही है। उसमें अविद्या न कभी थी, न है और न होगी। श्रवणसे केवल प्रातीतिक अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। किन्तु जिनमें कुछ संशय-विपर्ययरूप प्रतिबन्ध शेष हैं, उन्हें श्रवणमात्रसे ज्ञान नहीं होता। उन्हें संशय-निवृत्त्यर्थ मनन और विपर्यय-निवृत्त्यर्थ निदिध्यासनकी आवश्यकता होती है।[1]

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके स्वरूपोंपर अगले खण्डमें विचार किया जायगा।

४. साक्षात्-साधन : अपने आपको अद्वितीय ब्रह्म न जानना ही अज्ञान है। इस अज्ञानकी पूर्णतया निवृत्ति करनेवाला ज्ञान ही 'साक्षात्-साधन' है। यही सम्पूर्ण साधनोंका फल है। आत्माको ब्रह्म बतानेवाले जो श्रुतिके महावाक्य हैं—जैसे : '**तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म**, उनके अखण्डार्थको धारण करनेवाली विकल्परहित बुद्धिका नाम ही 'साक्षात्-साधन' है।

जो सज्जन संस्कृत नहीं जानते, उनके लिए अपनी-अपनी बोली अथवा भाषामें—चाहें वह भाषा हिन्दी हो या और कोई जो भी इन महावाक्योंके समानार्थक वाक्य हों, जिनसे अपनी

---

१. इसमें भामती-प्रस्थान और विवरण-प्रस्थानका थोड़ा-सा भेद है। शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान अथवा वृत्तिसे ? उपहितका अथवा शुद्धका ? दोनों ही अद्वैत-सम्प्रदायमें अपनी-अपनी प्रक्रियासे युक्तियुक्त हैं।

र्णताका बोध होता हो, जिनमें आत्मा, परमात्मा और जगत्का एकत्व प्रतिपादित होता हो, उन्हीं वाक्योंसे जन्य प्रज्ञा साक्षात्-साधन होगी। फिर भी कर्म, करण और पद-पदार्थका शोधन यथाविधि अवश्य सम्पूर्ण होना चाहिए।

इस प्रकार परम्परा-साधनसे प्रारम्भ कर वेदान्तके पाँच बहिरंग-साधन—निष्काम कर्म, साधनचतुष्टय तथा तीन अन्तरंग साधन-श्रवण, मनन, निदिध्यासन और एक साक्षात् साधन महावाक्यजन्य प्रज्ञा—ब्रह्मज्ञान अथवा अविद्या-निवृत्तिके कुल नौ साधन हैं। ●

(२.४)

जिज्ञासा-विचार : १

(विचारकी अवश्य-करणीयता)

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। अब इसलिए हम ब्रह्मकी जिज्ञासा करते हैं। इस जिज्ञासा-अधिकरणका विषय-वाक्य यह है :

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृहदा० २.४.५)

अर्थात् इस आत्माको देखना-सुनना चाहिए, इसका विचार और निश्चय करना चाहिए। श्रुति पुकारती है, 'अरे ओ जीव! अनन्तका विचार छोड़ कहाँ लगा है संसारके चक्करमें? धिक्कार है तुझे!

'फिर क्या करूँ?'—प्रश्न था जीवका।

'संसारको छोड़ और इस आत्माका दर्शन कर' : **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।**

'कैसे?'—जीवने पूछा।

'इस आत्माका श्रवण कर।'—श्रुतिनेसमझाया।

'श्रवण तो किया, लेकिन दर्शन नहीं हुआ!'—जीवने स्पष्टीकरण किया।

'तब मनन कर : **मन्तव्यः**। तेरे संशय कट जायँगे। निदिध्यासन कर : **निदिध्यासितव्यः**। विपर्यय मिट जायँगे। संशय-विपर्ययके नष्ट हो जानेके बाद—नहीं नही, साथ-ही-साथ देखेगा कि तू स्वयं वही है।'

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। यह आत्मा देखनेके योग्य है, दर्शनीय है। प्रश्न उठता है कि आत्मा तो दर्शन-क्रियाका कर्ता होता है, कभी दर्शनका विषय नहीं। फिर श्रुति उसे देखनेका आदेश क्यों देती है? इस सम्बन्धमें एक सत्संग सुनाता हूँ।

सन् १९५६ में मैं एक महात्माके दर्शन करने गया। महात्मा थे कांची-कामकोटिपीठाधीश्वर स्वामी श्री शंकराचार्यजी महाराज। क्या अद्भुत दर्शन थे! न छत्र, न चँवर, न सिंहासन! एकदम नग्न! केवल लंगोटी लगाये खाटपर पैतानेकी ओर बैठे थे। चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ। जब चलने लगा तो स्वयं उन्होंने कहा : 'हम तुम्हें एक बात सुनाते हैं।' बात तो कोई नयी नहीं थी, वेदान्तमें प्रसिद्ध है। किन्तु उनकी शैली और जिस प्रेमसे उन्होंने सुनाया, वह आज भी याद है।

उन्होंने बताया : 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिमें आत्माको जो दर्शनका विषय बताया, वह कैसे सम्भव है? काटनेवाली और कटनेवाली वस्तु एक कैसे होगी? इसका क्या समाधान है?'

यदि कोई आज्ञा दे कि 'तलवारसे लकड़ीका टुकड़ा काट दो', तो वह आज्ञा ठीक है; क्योंकि लकड़ीका तलवारसे कटना संभव है। किन्तु यदि कोई आज्ञा दे कि 'तलवारसे इस्पातकी सिल्ली काट दो' तो वह आज्ञा अनुचित है; क्योंकि इस्पातकी सिल्लीका तलवारसे कटना संभव नहीं। यदि शास्तामें अनौचित्य दोष सम्भव न हो तो वहाँ शास्ताकी आज्ञाका लक्ष्य या अभिप्राय

समझना पड़ेगा। तलवारसे इस्पातकी सिल्ली काटनेकी आज्ञाका अभिप्राय यही है कि काटनेवाली तलवार तोड़ डालो; क्योंकि सिल्लीपर तलवार मारनेसे तलवारका टूटना अनिवार्य है। इसी प्रकार यदि श्रुति दर्शनयोग्य वस्तुके दर्शन करनेका आदेश देती, जैसे कि **घटो द्रष्टव्यः** (घड़ेका दर्शन करना चाहिए) तब तो वहाँ घटके दर्शनमें ही तात्पर्य होता। यदि कहा जाता : **मनसा द्रष्टव्यः** (मनसे देखना चाहिए) या **साक्षीभावेन द्रष्टव्यः** (साक्षी-भावसे देखना चाहिए), तब तो कुछ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति या समाधिरूप देखनेका विधान मान्य होता। किन्तु यहाँ तो श्रुतिने कहा है : **साक्षी द्रष्टव्यः, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः** (जो साक्षी है, जो आत्मा है, वही द्रष्टव्य है)। इसका अभिप्राय यही है कि तलवार ऐसी जगह मारो, जहाँ तलवार ही टूट जाय। आत्माको देखनेयोग्य कहनेका आशय है, दर्शन-क्रियाका ही 'चौपटानन्द' हो जाय ! अन्यके दर्शनमें आत्मदर्शनकी बुद्धिका निषेध ही यहाँ अभिप्रेत है : **आत्मा एव द्रष्टव्यः**। आत्माके अदर्शनकी भ्रान्तिको मिटाना ही 'आत्मा द्रष्टव्यः'का लक्ष्य है, आत्माको दर्शनका विषय बनाना नहीं। सारांश, हमें आत्माका दर्शन नहीं हो रहा है, यह भ्रान्ति मिटानेके लिए ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह श्रुति है : **आत्मा एव द्रष्टव्य एव**।

श्रोतव्यः। इस आत्माका श्रवण करना चाहिए। कानसे हजार बार 'तत्त्वमसि' महावाक्य सुननेका नाम श्रवण नहीं। श्रोत्रविषयापन्न शब्दको श्रवण नहीं कहते। वेदान्तमें 'श्रवण' शब्द पारिभाषिक है। 'श्रवण'की परिभाषामें कहा गया है :

> **वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः।**
> **ब्रह्मात्मैक्ये हि तात्पर्यमितिधीः श्रवणं भवेत्॥**

"सब वेदान्तोंके आदि, मध्य और अन्तमें ब्रह्म और साक्षी आत्मा-को एकताका ही प्रतिपादन है'—इस बुद्धिका नाम श्रवण है।

यहाँ 'वेदान्त' शब्दका तात्पर्य वेदके अन्तिम भाग 'उप-निषद्' अथवा वेदके सर्वश्रेष्ठ भाग, शिरोभागसे है। वेदमें जो कर्मप्रतिपादक श्रुतियाँ हैं, वे मानो वेद-पुरुषके हाथ हैं; क्योंकि उनमें विधि-निषेधमय कर्मकी व्याख्या है। उपासना-प्रतिपादक श्रुतियाँ मानो उस वेद-पुरुषका हृदय है; क्योंकि वे भावप्रधान हैं। तथा ज्ञानप्रतिपादक श्रुतियाँ, जिनमें आत्मा और ब्रह्मका ज्ञान है, उस वेदपुरुषके शिर हैं। सिर काटकर हाथ या हृदय नहीं रखा जा सकता। इसीलिए वेदके शिरोभागको 'वेदान्त' कहते हैं। 'उपनिषद्' ही वेदान्त हैं। समस्त उपनिषदोंमें वेदान्त-के परम तात्पर्यभूत आत्मा और ब्रह्मकी एकताका वर्णन किया गया है—गुरुसे प्राप्त ऐसी बुद्धि, जानकारी तथा समझदारी को 'श्रवण' कहते हैं।

श्रवण कैसे करें, उसकी विधि क्या है? कोई आचार्य **अपूर्व-विधि** का प्रतिपादन करते हैं, कोई **नियमविधि** का तो कोई **परि-संख्याविधि** का। एक आचार्य इन तीनोंको मिलाकर श्रवण-विधि मानते हैं, तो एक तीनोंके निषेधको श्रवण-विधि कहते हैं। इस प्रकार शांकर अद्वैत-मतमें पाँच प्रकारकी श्रवण-विधियाँ स्वीकृत हैं। इन्हें हम सुनाने लगें तो आप 'बोर' हो जायँगे। जिन्हें इस विषयमें जानना हो, वे 'सिद्धान्तलेश-संग्रह' नामक ग्रंथ देखें। वहाँ इन सबका एकत्र निरूपण मिल जायगा।

श्रवण: उपनिषदोंके तात्पर्य-निर्णयमें षड्विधलिंग-विधिका प्रयोग है। षड्विध लिंग निम्नलिखित हैं:

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

१. उपक्रम-उपसंहार : सम्पूर्ण उपनिषद् या उसके किसी प्रकरणके प्रारम्भ और अन्तमें जो विषय वर्णित हो, वही उसका तात्पर्य है। २. अभ्यास : ग्रंथ या प्रकरणमें जिस विषयकी आवृत्ति बार-बार की गयी हो, वही उसका तात्पर्य है। ३. अपूर्वता : किसी प्रकरणमें जो बात ऐसी कही गयी हो कि वह अन्य किसी प्रमाणसे सिद्ध न हो, तो उसे उस प्रकरणकी अपूर्वता कहते हैं। वह अपूर्व बात ही उस प्रकरण का तात्पर्य है। ४. फल : प्रकरणके ज्ञानका फल जिस अर्थमें स्वीकृत किया गया हो, उसे उस प्रकरणका तात्पर्य माना जाता है। ५. अर्थवाद : प्रकरणमें जिस विषयकी स्तुति की जाय, वही उस प्रकरणका तात्पर्य है। ६. उपपत्ति : प्रकरणमें जिस विषयके पक्षमें युक्ति एवं प्रमाण दिये गये हों, वही उस प्रकरणका तात्पर्य होता है।

इस प्रकार श्रुतिके सभी प्रकरणोंका तात्पर्य ब्रह्मात्म्यैक्यमें है, यह बुद्धिसे निश्चय करना चाहिए।

श्रवणानुसारी मननसे ब्रह्मात्मैक्यसम्बंधी संशय (असंभावना) निवृत्त हो जाते हैं तथा श्रवण-मननानुसारी निदिध्यासनसे ब्रह्मात्मैक्यसम्बंधी विपर्यय (विपरीत-भावना) निवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार आत्माको 'द्रष्टव्यः' कहकर श्रुति उसका साधन श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन बताती है। आत्माका श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही ब्रह्म-विचार अथवा ब्रह्म-जिज्ञासा है। अतः ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस विषय-वाक्यमें विवादका विषय है कि आत्मा और ब्रह्मकी

एकताका विचार करना चाहिए। पूर्वपक्ष कहता है कि 'ब्रह्मात्मैक्यका विचार नहीं करना चाहिए।' इसपर उत्तर पक्षका कहना है कि विचार करना चाहिए। दोनों पक्षोंकी तुलनाके बाद निर्णय यह निकलता है कि ब्रह्मका विचार अवश्य करना चाहिए। जिज्ञासा-अधिकरणके ये पाँच अंग हो गये। अब इन पक्षोंमें युक्ति बताते हैं।

सिद्धान्ती : आत्मा और ब्रह्मकी एकताका विचार करना चाहिए : 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।'

पूर्वपक्षी : यदि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं, तो ब्रह्मका विचार क्यों ?

सिद्धान्ती : आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं, यह सिद्धान्त है। किन्तु हमें अध्यासके कारण इस एकताका अनुभव नहीं होता। अतः ब्रह्म-विचार आवश्यक है।

पूर्वपक्षी :

अविचार्यं विचार्यं वा ब्रह्माध्यासनिरूपणात्।
असन्देहाफलत्वाभ्यां न विचारं तदर्हति॥

'यदि कहो कि ब्रह्मका विचार करना चाहिए या नहीं ?' तो 'नहीं करना चाहिए। क्योंकि अभी अध्यासका निरूपण ही कहाँ हुआ है? पहले अध्यास सिद्ध हो जाय, तभी तो विचार करेंगे। यों भी ब्रह्मके सम्बंधमें न तो संदेह है और न उसे जाननेका कोई फल है; अतः ब्रह्मका विचार नहीं करना चाहिए।'

इसपर अब हम सिद्धान्तीकी ओरसे विचार प्रस्तुत करते हैं। 'अध्यास' वेदान्तका पारिभाषिक शब्द है। अतः वेदान्तशास्त्र-

से अनभिज्ञ लोग कृपया 'अध्यास'को ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करें।

'श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश' नामक पुस्तक जबलपुरमें छप रही थी। हमने अच्छी-से-अच्छी हस्तलिपिमें छपाईकी कापी तैयार कराकर प्रेसको दे दी। उसके प्रूफरीडर थे एक सज्जन जो एम० ए०, विशारद साहित्यरत्न तो पास थे, पर वेदान्तशास्त्रसे अपरिचित थे। अतः मूलमें जहाँ-जहाँ 'अध्यास' शब्दका प्रयोग था, वहाँ-वहाँ उन्होंने प्रूफमें काटकर 'अभ्यास' कर दिया। वही अभ्यास छप गया। लेकिन वहाँ तो सब अर्थ ही गड़बड़ हो गया!

अध्यास-भाष्य तो विस्तारसे हम आगे सुनायेंगे ही, इस समय संक्षेपमें इसे समझ लीजिये।

'अध्यास'की परिभाषा यों दी गयी है:

अन्यस्मिन् अन्यावभासः अध्यासः। अथवा—**'अतस्मिंस्तद्-बुद्धिः अध्यासः।**

'अन्यमें अन्यके अवभासका नाम अध्यास है' अथवा 'जो वस्तु जो न हो, उसे वह समझना अध्यास है'। अर्थात् वस्तुको उल्टा समझना अध्यास है। वस्तुको न जानना अध्यास नहीं, वह तो अज्ञान है। अज्ञानके कारण अध्यास होता है। 'अज्ञान' कारण है और 'अध्यास' है उसका कार्य। आत्माको ब्रह्म न जानना अज्ञान है और उसे जीव जानना है, अध्यास।

यदि कहें कि 'पहले अध्यास तो सिद्ध कीजिये, तब ब्रह्म-विचार करेंगे', तो अध्यास सबके लिए अनुभवसिद्ध है। 'अध्यासोऽहंबुद्धिसिद्धः'—अर्थात् अध्यास तो अहं-बुद्धिसे ही सिद्ध है। यह पुस्तक है और मैं इसका द्रष्टा हूँ। मैं इस पुस्तकसे

पृथक् हूँ, यह सुस्पष्ट है। किन्तु यदि द्रष्टाको यह अनुभव होने लगे कि 'मैं पुस्तक हूँ' तो उसे भ्रम हुआ या नहीं? यही दशा इस हड्डी-मांस-चामके देहकी है। यह देह अलग है और हम पृथक् हैं, यह बात सबको ज्ञात है; फिर भी सभी यह अनुभव करते हैं कि हम देह हैं। ज्ञानसे विरुद्ध यह जो अनुभव होता है, उसीका नाम 'अध्यास' है। इसीलिए कहा गया कि अध्यास तो अहंबुद्धिसे ही सिद्ध है। तब ब्रह्म-विचार करना चाहिए।

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्मका विचार अभी भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि ब्रह्मके बारेमें श्रुतियोंमें कोई संदेह या अस्पष्टता नहीं है। यों तो मूर्खोंको भी संदेह नहीं हुआ करता, पर ब्रह्मके सम्बन्धमें तो विद्वानोंको भी कोई संदेह नहीं है। ब्रह्म श्रुतिमें बिल्कुल 'स्पष्टम्-स्पष्टम्' है, कोई 'लष्टम्-पष्टम्' नहीं। कैसे?

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्तिरीय० २.१)

जैसे कि कहा गया कि 'ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त है।' कितना स्पष्ट वर्णन है ब्रह्मका! ब्रह्म-कीर्तन करा लो :

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
शान्तरूपमद्वैतं ब्रह्म॥
प्रज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म।
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म॥

आजकल ऐसे भी लोग हैं जिन्हें 'उधो, ज्ञानचर्चा सुहाती नहीं है।' बस, उनसे ब्रह्म-कीर्तन करा लो। ब्रह्मका इतना स्पष्ट वर्णन होनेपर ब्रह्म-विचारमें क्यों प्रवृत्त हों?

उदाहरणके लिए ये हमारे सामने 'सोऽहं मुनि' बैठे हैं और हमें साफ़-साफ़ मालूम पड़ रहा है कि ये सोऽहं मुनि हैं। तब हम

यह विचार क्यों करें कि यह व्यक्ति सोऽहं मुनि हैं या नहीं। जिस वस्तुका स्वरूप निश्चित रूपसे ज्ञात हो, उसके बारेमें विचार की, पिष्ट-पेषणकी क्या आवश्यकता ? वाचस्पति मिश्रने भामतीमें इसी बातको इस प्रकार कहा है : **स्फीतालोकमध्यवर्ती घटः।** अर्थात् (श्वेत-प्रकाशमें रखे घट) के बारेमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

पुनः इसलिए भी ब्रह्मविचार नहीं करना चाहिए कि वह निष्प्रयोजन है। न तो ब्रह्मविचारसे ब्रह्मके स्वरूपमें कोई अज्ञात वैशिष्ट्यकी उपलब्धि होगी (क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप स्पष्ट है) और न उसकी प्राप्तिरूप कोई प्रयोजन ही है; क्योंकि ब्रह्म नित्य-प्राप्त है। जिधर यात्रा करनी ही न हो, उधरके मीलके पत्थर गिननेसे क्या प्रयोजन ? **करटदन्ता वा**—कौएके दाँत कितने हैं, इस जिज्ञासाकी क्या आवश्यकता है ?

नियम है कि जहाँ-जहाँ विचारत्व है, वहाँ-वहाँ संदेह और प्रयोजनत्व है। चूँकि ब्रह्मके बारेमें न सन्देह है और न उसके ज्ञानसे कोई प्रयोजन, अतः ब्रह्म-विचार नहीं करना चाहिए।

सिद्धान्ती : आपने जो ब्रह्ममें सन्देह और प्रयोजनका अभाव बताया, वह किस आधारपर बताया ?

पूर्वपक्षी : इसका आधार श्रुतिका पूर्वकथित मंत्र ही है :

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

यहाँ श्रुति ब्रह्मको **सत्यम्** बताती है। वस्तुएँ तीन प्रकारकी होती हैं—अनित्य, नित्य और सत्य। घट, पट, देह आदि वस्तुएँ **अनित्य** हैं। ये उत्पन्न होती और मर जाती हैं, सदैव नहीं रहतीं। घट, पट, देहादिके जो उपादान पृथ्वी, परमाणु अथवा सबीज

सत्ता है, वे सब **नित्य** हैं। सुषुप्ति अथवा मर जानेके बाद भी जो रहे, वह वस्तु नित्य होती है। देश नित्य है। बचपनमें हम कल्पना करते थे कि यदि हम चलते ही जायँ, तो कहीं-न-कहीं इस आकाशकी नीलिमाको पकड़ ही लेंगे! किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। देश, काल कहाँ और कब नही हैं? अतः देश और काल नित्य हैं। देश फैलता-सिकुड़ता (संकोच-विकास-शाली) नित्य है काल बहता हुआ (प्रवाही) नित्य है।

नित्यता अनित्यतासे सापेक्ष हुआ करती है, परन्तु वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं, काल्पनिक है। ये देश और काल अन्तःकरणकी स्फुरणाके अतिरिक्त क्या हैं? आँखें बन्दकर ज़रा देश और कालके बारेमें विचार कीजिये! धरती, सूरज, चाँद. तारे, ये सारे ब्रह्माण्डोंके आर-पार इस अनन्त आकाशमें दैर्ध्य-विस्तारकी कल्पना—यही तो देश है! और अब, तब, जब, क्रमकी कल्पना—यही तो काल है! अतः देश और काल काल्पनिक हैं और उनकी नित्यता भी काल्पनिक है।

इस तरह काल नित्य है; कालमें पैदा होनेवाले पदार्थ अनित्य हैं; काल स्वयं एक कल्पना है। किन्तु कालका जो प्रकाशक है—साक्षी आत्मा, ब्रह्म, वह नित्य नहीं और अनित्य भी नहीं, अपितु **सत्य** है।

जगत् अनित्य है, काल नित्य है और कालाधिष्ठान सत्य है। **अबाधितत्वं सत्यत्वम्**—अर्थात् जो अबाधित रहे, वही सत्य है।

बौद्ध लोग प्रत्येक प्रत्यय (वृत्ति) को क्षणिक मानते हैं। वह उदित होती और नष्ट होती है। उनका कहना है कि सभी बौद्ध-प्रत्यय क्षणिक हैं। दो वृत्तियोंकी संधिमें जो काल है, वही क्षणिक-विज्ञान है। किन्तु इस क्षणिकताका जो अधिष्ठान है वह क्षणिक काल नहीं सत्य है। वही ब्रह्म, आत्मा है।

जैन लोग संकोच-विस्तारशाली सत्य मानते हैं। वह देश ही है। देशका जो अधिष्ठान है, वह देश नहीं, सत्य है।

चार्वाक् द्रव्यकी प्रधानतासे चेतनाका विचार करते हैं। वहाँ चेतन अनित्य है; द्रव्य नित्य है और द्रव्यका प्रकाशक अधिष्ठान सत्य है।

इस प्रकार ब्रह्म देश-काल-वस्तु का अधिष्ठान होनेसे **सत्यम्** है।

ब्रह्म 'सत्यम्' के साथ **ज्ञानम्** भी है। अर्थात् ब्रह्म सत्य है (सत्यम्), पर जड़ नहीं है (ज्ञानम्)। अतः मार्क्सवादियोंके जड़ाद्वैतसे यह ब्रह्माद्वैत विलक्षण है। ब्रह्म चेतन भी है (ज्ञानम्) और असत् तथा नित्य नहीं है (सत्यम्)। इसलिए ब्रह्म बौद्धोंके क्षणिक-विज्ञानसे भी विलक्षण है। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान होते हुए अबाध्य है और अबाध्य होते हुए ज्ञान है। अर्थात् वह ब्रह्म भी है और प्रत्यगात्मा भी, तथा वह प्रत्यगात्मा भी है और ब्रह्म भी :

सत्यमपि ज्ञानम्, ज्ञानमपि सत्यम्।

ब्रह्म **अनन्तम्** भी है। 'अनन्तम्' का अर्थ है व्यापक, नित्य और सर्वसे विलक्षण। ब्रह्म जब देशमें आरूढ़ होता है तब व्यापक होता है; जब कालमें आरूढ़ होता है तब नित्य होता है और जब द्रव्यमें आरूढ़ होता है तब सर्व होता है। परन्तु ब्रह्मके स्व-स्वरूप-में न देश है, न काल है और न सर्व। देश, काल, द्रव्य सब ब्रह्ममें अध्यारोपित हैं। 'अनन्तम्'का अर्थ है ब्रह्ममें परिच्छेद-सामान्यका निषेध। इस प्रकार ब्रह्मका स्पष्ट निरूपण श्रुतिमें है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

फिर, ब्रह्म-विचारका कोई प्रयोजन भी नहीं है; क्योंकि ब्रह्म सदैव है, अब भी है और आगे भी रहेगा। हम भी सदैव हैं, अब

भी हैं और आगे भी रहेंगे। इस तरह ब्रह्म-विचारसे कोई लाभ नहीं। अतः ब्रह्म-विचार नहीं करना चाहिए।

सिद्धान्ती : ब्रह्म सर्व-बुद्धि-सुग्राह्य नहीं है। शास्त्रमें ब्रह्मका स्पष्ट वर्णन होते हुए और हम शास्त्रज्ञ होते हुए भी ब्रह्मको जान जायँ, यह बिलकुल आवश्यक नहीं। जो समाधि-साधन-सम्पन्न और जिज्ञासु नहीं, वह ब्रह्मको नहीं पा सकता। शास्त्रमें ही ब्रह्मके जिज्ञासुका लक्षण बताया गया है :

अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेण अविपर्युदस्तस्।

'जो चाहता हो कि ब्रह्म-ज्ञान हो अथवा अविद्या मिटे और जो उसकी सामर्थ्य भी रखता हो, शास्त्रका विद्वान् हो, वासनाका कीड़ा न हो, वही ब्रह्मको जानता है।'

बड़े-बड़े जज, बैरिस्टर, पण्डित और वैज्ञानिकोंकी बुद्धि तो बड़ी तीव्र होती है, पर वे ब्रह्मज्ञान नहीं चाहते; अतः वे जिज्ञासु नहीं। इसके विपरीत जो किसी पुण्य-परिपाक अथवा सन्त-समागमके फलस्वरूप ब्रह्मज्ञान चाहते हैं, उनमें प्रायः सामर्थ्य नहीं होती, क्योंकि वे विषयोंसे विरत नहीं हैं। अतः वे भी जिज्ञासु नहीं। विषय-वासनाका कीड़ा हो और चाहे ब्रह्मज्ञान, यह निष्फल समायोजन है! शबरस्वामी कहते हैं कि 'भोगी तो भोगका ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है, मोक्षका नहीं।' किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई जिज्ञासु ही नहीं है। जो शास्त्रसे निषिद्ध आचरण नहीं करता, श्रद्धापूर्वक गुरु और महात्माओंसे ब्रह्मविषयक जिज्ञासा करता है, वह कालान्तरमें विषयोंसे निवृत्त होकर ब्रह्म-ज्ञानका सामर्थ्य भी प्राप्त कर ही लेता है!

यद्यपि शास्त्रमें ब्रह्म और आत्माकी एकताका स्पष्ट वर्णन है; तथापि अध्यासके कारण उस वर्णनकी सत्यतामें सन्देह है। श्रुतिका कथन है : **तत्त्वमसि**, तुम आत्मा देश-काल-वस्तुसे अपरि-

न्छिन्न, अद्वितीय ब्रह्म हो। किन्तु प्रत्यक्षसे इस श्रुतिवाक्यका विरोध है। हमें जब यह अनुभव नहीं होता कि हम आत्मा हैं तो 'हम ब्रह्म हैं' इस अनुभवकी बात ही क्या! हमें तो मालूम पड़ता है कि हम देह हैं, उत्पन्न हुए हैं, बड़े हुए हैं, घिस रहे हैं और एक दिन मर जायँगे! हमें तो साफ मालूम पड़ता है कि हम हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं, कोई हमारा शत्रु अथवा मित्र है। तब हम ब्रह्म कैसे?

भले ही श्रुति आत्मा और ब्रह्मका स्पष्ट निरूपण करती हो, परन्तु श्रुतिवर्णित आत्मा और ब्रह्मकी एकता हमारे प्रत्यक्ष-ज्ञानसे विपरीत होनेके कारण सन्देहका विषय है। अतः ब्रह्मका विचार करना आवश्यक है।

'सूर्य पृथ्वीसे कई गुना बड़ा है' यह ज्ञान होनेपर भी प्रत्यक्ष-में बहुत छोटा प्रतीत होता है। लेकिन विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि यह प्रातीतिक विरोध पृथ्वी और सूर्यकी दूरीके कारण है, अर्थात् दूरीकी उपाधिसे यह विरोध प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म-विचार करनेपर यह ज्ञात होता है कि आत्मा और ब्रह्मका प्रातीतिक विरोध उपाधिगत, है, वास्तविक नहीं। तभी श्रुतिके वास्तविक अर्थका अधिगम हो सकेगा। अतः ब्रह्म-विचारकी आवश्यकता है।

श्रुति कहती है: 'चेतन! तुम ब्रह्म हो।' साम्प्रदायिक लोग कहते हैं: 'तुम हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो।' धार्मिक कहते हैं: 'तुम जीव हो, पापी हो, पुण्यात्मा हो, स्वर्ग-नरकमें जानेवाले हो।' संसारी कहते हैं: 'तुम देह हो, कर्ता हो, भोक्ता हो।' उपासक कहते हैं: 'तुम ईश्वरके दास हो, सखा हो, वत्स हो, प्रेमी हो।' आखिर तुम हो क्या? तुम्हारे बारेमें श्रुतिका कथन ठीक है

या दूसरे लोगोंका ? इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए ब्रह्मका विचार आवश्यक है। श्रुतिमें जो आत्माके बारेमें कहा गया :

अदृष्टम् द्रष्टृ अश्रुतम् श्रोतृ, अविज्ञातम् ज्ञातृ···।

'तुम (आत्मा) दृश्य नहीं द्रष्टा हो, श्रवण-विषय नहीं, श्रोता हो, ज्ञानका विषय नहीं, ज्ञाता हो', इसमें और तुम्हारे अनुभवमें कहाँ-तक सचाई है—इसके लिए विचारकी आवश्यकता है।

श्रुतिकी बात छोड़ो। आपसे एक बच्चा आकर कह गया कि आप देह नहीं, ब्रह्म हैं। अब यदि उसका कहना आपके प्रत्यक्षसे विपरीत है, तो आप विचार करेंगे या नहीं ? यदि कोई बालक आकर आपसे कह जाय कि आपके भोजनमें विष है, तो क्या आप विचार किये बिना ही भोजन कर लेंगे ? अतः विचारकी आवश्यकता है।

वेदान्तके पूर्वपक्षी भी कहते हैं और स्वयं श्री शंकराचार्यजी कहते हैं :

नहि श्रुतिशतैरपि घटः पटो भवितुं शक्यः।

"आपके नेत्रोंके सामने घड़ा रखा है और आप जानते हैं कि यह घड़ा है। अब यदि सैकड़ों श्रुतियाँ एक साथ मिलकर यह घोषणा करें कि 'यह घट नहीं, पट है', तो क्या आप श्रुतिकी बात मान लेंगे ?" प्रत्यक्षके विरुद्ध श्रुति प्रमाण नहीं हुआ करती। किन्तु श्रुतिमें मिथ्या-सिद्धान्तके प्रतिपादनका दोष भी सम्भव नहीं। अतः विचार करना पड़ेगा कि श्रुति-सिद्धान्त ठीक है या प्रत्यक्ष-सिद्धान्त ठीक ? विरोध प्रातीतिक है या वास्तविक ?—यह विचारगम्य है। अतः ब्रह्म-विचारकी आवश्यकता है कि यह जो देश-काल-वस्तुका अवभासक, इनका अधिष्ठान है, वह आत्मा ब्रह्म क्यों नहीं और है तो कैसे ?

इसी प्रकार यह भी ठीक नहीं कि ब्रह्म-विचार निष्प्रयोजन है। कारण, ब्रह्मज्ञानका फल सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्द-की प्राप्ति है। सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड़ देहाध्यास है। शरीरके जन्मके बाद ब्रह्मात्मैक्यज्ञानके अभावमें देह और अन्तःकरणको मैं मान-कर जो कूड़ा-करकट आपके अन्दर भरा गया है, वही देहाध्यास सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है, सम्पूर्ण दुःखोंका बीज है। ब्रह्मज्ञानसे यह दुःख समूल नष्ट हो जाता है। मरने-जन्मने, वियोग-संयोग, नरक-स्वर्ग—सब प्रकारके दुःख ब्रह्मज्ञानसे समाप्त हो जाते हैं। जीवनकी सारी समस्याएँ ही दुःखहानिकी है और वह ब्रह्मज्ञानसे वे निःशेषतः हल हो जाती हैं।

यही बात नहीं कि ब्रह्मज्ञानसे दुःखके हेतु नष्ट हो जाते हों, प्रत्युत उन हेतुओंके मध्य अन्तःकरणमें जो हीन-प्रतिक्रियामूलक सुखी-दुःखीभावकी योग्यता है, वह भी समाप्त हो जाती है।

एक महात्मा थे। नाम कुछ होगा, कोई 'आनन्द'। मान लें 'मृण्मयानन्द' नाम था उनका। किसी स्त्रीने उन्हें गाली दी कि 'तुम ऐसे हो।' उनके भक्तोंको बुरा लगा। वे महात्माजीसे बोले : 'महाराज, यह स्त्री आपको नाहक गाली देती है।' महात्माजीने कहा : 'नहीं, यह मुझे गाली नहीं दे रही है।' इसपर उस महिलाने इशारा करके बताया कि वह उन्हीं मृण्मयानन्दको गाली दे रही थी। महात्मा मुस्कराकर बोले : 'यह तो इस अन्नमय कोशको गाली दे रही है, जिसे लोग मृण्मयानन्द कहते है। मुझे तो यह स्पर्श भी नहीं करता। 'मैं'को ब्रह्म जाननेका यही फल है।

इस प्रकार ब्रह्म-विचार अवश्य करना चाहिए—यह निर्णय हुआ। इसलिए अब हम ब्रह्मका विचार करते हैं : **अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा।**

(२. ५)

जिज्ञासा-विचार : २

(ज्ञानके हेतु, स्वरूप और फल)

आत्मा और ब्रह्मकी एकताके विचारको ही ब्रह्म-विचार अथवा 'ब्रह्म-जिज्ञासा' कहते हैं।

ब्रह्म-जिज्ञासाका प्रयोजन मोक्षकी निष्पत्ति है, यह पहले कहा जा चुका है। चूँकि मोक्ष विचारकको होता है, अतः यह निर्णय होना उचित है कि ब्रह्म-विचारके हेतु, स्वरूप और फलका क्या स्वरूप है। ब्रह्म-विचारके हेतुओंका वर्णन हो चुका अर्थात् आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें सन्देह तथा इस एकत्वके परिणामस्वरूप मोक्षकी निष्पत्तिरूप प्रयोजनकी सिद्धि (देखिये, २.४)। अब ब्रह्म-विचारका 'स्वरूप' वर्णन करनेसे पूर्व हम प्रथम 'फल'का विचार करते हैं; क्योंकि यह नियम है कि माहात्म्य-ज्ञानके उपरान्त ही उस फलके साधनमें भलीभाँति प्रवृत्ति होती है। उदाहरणके लिए यदि यह ज्ञान हो कि गंगा-स्नान से पापोंकी निवृत्ति होती है, तो गंगा-स्नानमें भलीभाँति प्रवृत्ति होती है।

'सम्पूर्ण जगत् नन्दनवन हो जायगा, सारे वृक्ष कल्पवृक्ष बन जायँगे, सम्पूर्ण जल गंगाजल हो जायगा, समस्त पृथ्वी वाराणसी हो जायगी, सर्वस्थितियाँ ब्राह्मी-स्थिति हो जायँगी, चारों ओर

सब कुछ मंगल ही मंगल, कल्याण ही कल्याण हो जायगा'—यह ब्रह्म-ज्ञानका माहात्म्य है।

'मरनेके बाद सुख मिलेगा' यह पूर्वमीमांसा शास्त्रके अनुसार वैदिक यज्ञ-यागादि करनेका फल होता है। किन्तु इसी जीवनमें, शरीर और संसार रहते हुए, मोक्ष-सुखकी उपलब्धि होना उत्तरमीमांसा (वेदान्त)के ब्रह्मात्मैक्यविचारका साक्षात् फल है।

आपके जीवनमें दुःख इसीलिए है कि आप किसी चीजको छोड़ नहीं पा रहे हैं। जैसे : धन, पुत्र, स्त्री, पति, देह या यश। या तो ये चीजें आपको छोड़ना चाहती हैं और या आप इन्हें छोड़ना चाहते हैं, पर आप छोड़ नहीं पा रहे हैं। कहीं न कहीं गाँठ लगी है आपकी इनसे। यही दुःखका कारण है। इसी गाँठको 'चिज्जड़-ग्रन्थि' कहते हैं—चेतनकी जड़के साथ गाँठ, द्रष्टाकी दृश्यके साथ गाँठ। संसारकी सब चीजें प्रतिक्षण भूतमें भाग रही हैं और आप उन्हें वर्तमान में रखना चाहते हैं—यही जीवनकी ग्रंथि है। आप चेतन होनेपर भी जड़-वस्तुको छोड़नेसे इनकार करते हैं, द्रष्टा होने पर भी दृश्यके लोभमें अटके हैं, यही आपके जीवनमें दुःखका मूल-स्रोत है।

जब आपके जीवनमें दुःख आये तो यही विचार करें कि 'वह कौन-सी वस्तु है जिसको आप छोड़ नहीं पा रहे हैं' ? उसी वस्तु-के त्यागसे आपका दुःख तुरन्त कट जायगा।

यदि आप कहें कि 'ठीक है स्वामीजी, हम श्रीमतीजीकी गालियाँ तो सह सकते हैं या श्रीमान्‌जीसे अपमान सह सकते हैं, परन्तु उनका त्याग कैसे कर सकते है ?' तो भाई, जहाँ पति-पत्नी की गाँठ है वहाँ उतनी मात्रामें दुःख भी अवश्यम्भावी है। ऐसी कोई ग्रंथि ही नहीं होती जिसमें दुःख न हों। जब आप चाहते हैं कि 'हमें अमुक वस्तु अवश्य मिले अथवा यह जो

हमारे पास है वह बिगड़ने न पाये, टूटने न पाये', तो आप अपने स्वरूपभूत चेतनको कहीं-न-कहीं बाँध रखना चाहते हैं। फिर भी यह असम्भव है, अतः उसमें से दुःखका ही जन्म होता है।

ब्रह्म-ज्ञान वह निरोधक है जिससे दुःखके हेतुओंके इकट्ठे होनेपर भी दुःखका जन्म नहीं हो पाता। ब्रह्म-ज्ञान वह तलवार है, जो मनुष्य-जीवन की समस्त अविद्या, कामना और कर्मकी गाँठोंको काटकर उसे निर्ग्रन्थ, स्वतंत्र बना देती है :

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २.२.८)

'उस परावर परमात्माको जान लेनेपर जीवकी हृदय-ग्रंथिका भेदन हो जाता है, सब संशय निवृत्त हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।'

जैसे अपरिच्छिन्न आकाश न रस्सीसे बँधता है, न घड़ेसे कटता है, न घड़ीसे जन्मता-मरता है और न वस्तुओंसे लेपको प्राप्त होता है, वैसे ही जब जीव अपनी इस कूटस्थ आत्माको देश, काल, वस्तुसे अबाधित ब्रह्म अनुभव कर लेता है तब न उसमें चिज्जड़-ग्रंथि बनती है, न शरीरधारी होनेसे वह परिच्छिन्न होता है और न वह कालमें जन्म-मरणको प्राप्त होता है। उसमें वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितियोंका कोई लेप ही नहीं होता। परम-प्रकाशरूपसे वह स्वतंत्रानन्द, मुक्तानन्द, अखण्डानन्दरूपमें स्थित रहता है।

ग्रन्थिका निर्माण कैसे होता है? दो असम्बद्ध विरोधी स्वभाववाली वस्तुओंके ज्ञानके परस्पर अध्यारोपसे; अथवा एक शब्दमें, अध्यास या भ्रमसे। अज्ञानसे भ्रम होता है। वास्तवमें

आत्माके आनन्दस्वरूपके अज्ञानसे मनुष्य अन्यमें आनन्दकी खोज प्रारम्भ करता है। इसके लिए प्रथम वह हृदय (या बुद्धि) में आता है जहाँ उसे आनन्द-स्थलके बारेमें संस्कार-रंजित प्रेरणा, सूचना, आदेश प्राप्त होता है। तदनन्तर वह आनन्दके करण मन तथा इन्द्रियोंमें आता है, जहाँ उसे आनन्दके केन्द्र 'विषय'का भोग करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। विषय-सुखकी यात्राका यह दूसरा पड़ाव है। भोग-ज्ञान अथवा भोग-सुख प्राप्त करनेपर भी 'सुखके आश्रय भोग' को कर्मेन्द्रियों द्वारा शरीरसे सटानेका प्रयास होता है तथा उससे अधिकारजन्य और अभिमान-जन्य सुख प्राप्त होता है। यह यात्राकी तीसरी चट्टी है। चौथी चट्टी फलरूपा और प्रतिक्रियात्मक है। सुख-भोग तथा सुख-प्राप्तिके पश्चात् निम्नलिखित संस्कार भोक्ताको घेर लेते हैं :

१. सुख विषयमें है; विषय सुखरूप हैं।

२. विषय-सुख प्राप्त करना ही सच्चा पुरुषार्थ है। हमें विषय-सुख अवश्य चाहिए।

३. जो उक्त सुख और पुरुषार्थमें बाधक है, वह शत्रु है और जो साधक है, वह मित्र है—इस प्रकार राग-द्वेषकी सृष्टि होती है।

४. 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, परिच्छिन्न, परतंत्र, संसारी जीव हूँ'—इस भावकी वृद्धि तथा पुष्टि होती है।

आत्माको सुखस्वरूप न जानना 'अज्ञान' है; आनन्दके लिए आत्मासे विषय तककी पुरुषार्थ या भोगमूलक यात्रा तथा विषयसे वापस आत्मा तककी संस्कारमूलक यात्रा 'भ्रमण' है। 'भ्रमणम् भ्रमः'—यह भ्रमण ही भ्रम है और इसी भ्रमसे सत्-चित्-आनन्द आत्मा और असत्-जड़-दुःखरूप विषयकी परस्पर ग्रन्थिका निर्माण होता है। इस ग्रन्थिका चतुर्मुख स्वरूप ऊपर वर्णित है।

ब्रह्मज्ञानसे ग्रन्थिके मूल भ्रम और भ्रमके मूल अज्ञानका नाश हो जाता है। अतः ग्रंथियोंका मूलोच्छेद ही हो जाता है।

ग्रंथियोंके मूलमें उपर्युक्त चार ही भ्रम होते हैं। अब एक ग्रंथिका नमूना देखिये। एक माँ-बेटीका संवाद है। माँ-बेटी आधुनिका हैं, यह स्मरण रखिये।

माँ : बेटी, अमुकके घर आज शादीमें जाना है।

बेटी : नहीं माँ, मैं नहीं जा सकती।

माँ : क्यों ?

बेटी : मेरे पास कोई नयी साड़ी नहीं है।

माँ : नयी साड़ी नहीं है ! क्यों ? पिछले सप्ताह ही तो नयी साड़ी खरीदी है तूने !

बेटी : ऊँह माँ ! तू तो समझती नहीं। वह साड़ी तो सब देख चुके हैं। अब वह नयी कहाँ रही ?

इसपर माँने ४०० रुपयोंकी एक नयी साड़ी अपनी बेटीके लिए खरीदवा दी। तब बेटीजी उस विवाहमें सम्मिलित हुईं।

इस उदाहरणमें ग्रन्थिके मूलमें यह भ्रम है कि सौन्दर्य न स्वास्थ्यमें है, न आकृतिमें और न साड़ीमें, अपितु वह साड़ीकी नवीनतामें है। जीवनकी दैनिक, प्रतिक्षण, बारीक मीमांसा करनेपर हमें अपनी अनन्तमुखी ग्रन्थियोंका पता चल जायगा। परन्तु इन अनन्त ग्रन्थियोंवाले भवनका एक ही आधार है कि सुख आत्मकेन्द्रित नहीं। ब्रह्मज्ञानसे इस आधारभूत अज्ञानका नाश हो जाता है।

आत्मामें आत्माके अज्ञानसे बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, विषय, इनके संयोग-वियोग और तज्जन्य सुख-दुःख, सब प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण प्रतीति वहाँ दीखती है जहाँ वह नहीं है। अनन्तमें सान्त,

चेतनमें जड़, सत्‌में असत्, अनन्यमें अन्य और अद्वितीयमें अनेक दीखता है। सम्पूर्ण देश-काल-वस्तु अपने अभावके अधिष्ठानमें ही दीखते हैं। अतः प्रतीति मिथ्या है और प्रतीतिका अधिष्ठान देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

प्रसंगवशात् यहाँ एक भ्रमका निवारण कर देना आवश्यक है। अपनेको 'ब्रह्म मानने'से ब्रह्मज्ञान नहीं होता, 'ब्रह्म जानने'से होता है। कई लोग अपने-आपको ब्रह्म मानना प्रारम्भ कर देते हैं। यह शुभ तो है, पाप नहीं और किसी कोटिमें साधन भी है, पर यह 'ज्ञान' निश्चित नहीं है। 'मानना' श्रद्धासे होता है और 'जानना' प्रमाणसे। गुरु, शास्त्र या महात्माने कह दिया : 'तुम ब्रह्म हो' और तुमने मान लिया कि 'हम ब्रह्म हैं' तो ऐसे ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता। गुरु, महात्मा और शास्त्रने जिस प्रमाणसे आत्माका ब्रह्मत्व जाना है, उसी प्रमाणसे हमें भी अपने ब्रह्मत्वका (अपरिच्छिन्नत्व-का) अनुभव करना होगा; तभी हमें ब्रह्मज्ञान होगा। यदि आपका ज्ञान इन तीन कसौटियोंपर खरा उतरता हो, तो आप निश्चित रूपसे ब्रह्मज्ञानी हैं :

१. आपको धर्मका विवेक संकीर्ण न हो (धर्माध्यास न हो)।

२. आपका धर्मीके साथ तादात्म्य न हो (आपको धर्मीका अध्यास न हो)।

४. आपको धर्म, धर्मी और उनके मालूम पड़ते भेद अपने स्वरूपभूत ज्ञानसे मिथ्या अनुभूत हो चुके हों। अर्थात् उनके सत्यत्वकी भ्रांति निवृत्त हो चुकी हो।

१. धर्माध्यास : प्रत्येक वस्तुका एक विशेष गुण-धर्म होता है। जिसका जो धर्म है, उसे वैसा ही जानना 'धर्माध्यास न होना' अथवा 'धर्मके विवेकका संकीर्ण न होना' है।

वस्तुका नाम व्यावहारिक है, उसका गुण नहीं है। वस्तुकी उपयोगिता सापेक्ष है, वह भी वस्तुका गुण नहीं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध वस्तुके गुण हैं और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उनको प्रकाशित करना इन्द्रिय-धर्म है। वस्तु-ज्ञान (वस्तुके अलग-अलग ज्ञानोंका पुंजीभूत स्वरूप) एक बौद्धिक-प्रत्यय है। प्रियता न वस्तुका गुण है, न इन्द्रियका, न मनका और न बुद्धिका। प्रियता आत्माका गुण है।

ऐसे भी लोग हैं जो प्याज खाना तो दूर, किसीको उसे खाते देख लें तो उन्हें उल्टी हो जाय। ऐसे भी लोग हैं जो हमसे कहते हैं: 'आपको प्याजके बिना भोजन कैसे अच्छा लगता है ?' अब प्याज-का स्वाद रसनेन्द्रिय द्वारा ज्ञात होता है, वह प्याजका गुण है। परन्तु प्याजमें जो प्रियता उत्पन्न हो गयी है, वह अभ्यास एवं अज्ञानसे है। प्रियता जो आत्माका गुण है, उसे प्याजमें या जीभमें समझना धर्माध्यास है।

स्त्री-शरीरकी आकृति, रूप, उस शरीरका गुण है। नेत्र उस रूपके प्रकाशक हैं। परन्तु उसमें सौन्दर्यकी कल्पना केवल बौद्धिक-प्रत्यय है। तभी तो यूरोप, एशिया और अफ्रीकाकी सौन्दर्यकी परिभाषाओंमें अन्तर है। सुन्दर स्त्री-शरीरमें प्रियता-की कल्पना धर्माध्यास है; क्योंकि प्रियता आत्माका धर्म है, बुद्धि-का नहीं। इसी प्रकार शब्दमें, संगीतमें, एक विशेष प्रकारकी संगीत—जैसे शास्त्रीय, सरल, फिल्मी, कर्नाटक, उत्तरी या पाश्चात्त्य संगीतमें प्रियताका आरोप धर्माध्यास है। शब्द वस्तु-निष्ठ है, उसका प्रकाश श्रवणेन्द्रियनिष्ठ है, अनेक शब्दोंका समन्वित रूप संगीत मनोनिष्ठ है, संगीतका एक विशेष प्रकारका होना बुद्धि-निष्ठ है और प्रियता आत्मनिष्ठ है।

इस प्रकार अन्यके धर्मोंको अन्यमें आरोप करना धर्माध्यास

है। जब हम ब्रह्मज्ञानकी कसौटीके रूपमें धर्माध्यासका निषेध करते हैं, तो वहाँ मुख्यतः प्रियताके विवेकका समर्थन करते है। धर्माध्यासके अभावमें शास्त्रसे अविरुद्ध अभ्यासजन्य प्रियता व्यावहारिक है तथा प्रियतामात्र अपने स्वरूपमें आत्मनिष्ठ होनेसे पारमार्थिक है।

२. धर्मीका अध्यास: आत्मा धर्मी नहीं है। भिन्न-भिन्न अभिमानोंको स्वीकार करके आत्मामें धर्मीका अध्यास होता है।

उत्तर प्रदेशमें काशीमें ऐसे ब्राह्मण होते हैं, जो प्रातः शौचालयमें लाल अंगौछा बाँधकर जाते हैं। तदनन्तर घरमें स्नान करते और उसके बाद वस्त्र लेकर गंगाजी स्नानको जाते हैं। वहाँ स्नानके बाद संध्या, वेदपाठ करते हैं और विश्वनाथजीको जल चढ़ाते हैं। कुछ लोग अग्निहोत्र भी करते हैं। उनके सामने यदि किसी करोड़पतिकी चर्चा करो तो कहेंगे : 'स्वामीजी, उनकी चर्चा क्यों करते हो? उनके पास न ईमानदारीका पैसा है, न वैदिक-सदाचार। हम लोग तपोधन, आचार-धन, विद्या-धनसे धनी हैं। हमारे सामने वे करोड़पति क्या हैं?'

उधर जो करोड़पति हैं, वे उन ब्राह्मणोंको अपने आश्रित समझकर अपने धनका, दानका अभिमान करते हैं।

इस प्रकार अपने-आपमें कोई विद्यासे विद्वत्ताका, धनसे धनीपनका, तपसे तपस्वीपनका, आचारसे पवित्रताका अभिमान कर अपनेको दूसरोंसे श्रेष्ठ मानते हैं अथवा दूसरोंसे अपनेको हीन मानते हैं। यह सब आत्मामें धर्मीके अध्यासके उदाहरण हैं। अपनेको हिन्दू, मुसलमान मानना भी धर्मीके अध्यासके अन्तर्गत ही है। आत्माका अनात्माके साथ तादात्म्य ही धर्मीका अध्यास है। धर्म और धर्मीके मिथ्यात्व-निश्चयके अनन्तर धर्मीपन व्यावहारिकमात्र है।

३. **धर्म और धर्मीका मिथ्यात्व :** सम्पूर्ण धर्म और धर्मी, देश, काल और द्रव्य, कल्पना, संस्कार, वासना और कर्म अपने अभावके अधिष्ठानमें प्रतीयमान होनेसे मिथ्या हैं। इनका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव होनेसे ये सब मिथ्या हैं। इनका प्रकाशक इनसे अन्य होनेके कारण ये सब मिथ्या हैं।

बौद्ध भी धर्म और धर्मीको 'मिथ्या' कहते हैं। किन्तु उनका मिथ्यात्व इनके परस्पर विच्छिन्नत्व एवं प्रागभावको लेकर है, जब कि वेदान्तियोंका मिथ्यात्व अधिष्ठान-ज्ञानत्वेन है। क्योंकि धर्म और धर्मीके प्रकाशक-अधिष्ठानमें धर्म और धर्मीका अभाव है, अतः धर्म और धर्मी तथा उनका भेद मिथ्या है।

जैसे कर्तृत्व, भोक्तृत्व संसारित्व आदि अभिमान हैं, वैसे ही अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी आदि भी निवर्तक अभिमान हैं। नश्य और नाशक दोनों प्रकारके अभिमान और उनके अत्यन्ताभावका प्रकाशक अधिष्ठान मैं आत्मा हूँ' इस ज्ञान से धर्म और धर्मी दोनोंका मिथ्यात्व-निश्चय हो जाता है। इसी अधिष्ठान-ज्ञानके लिए हम ब्रह्म-विचार करते हैं : 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'।

निश्चय ही आप मृत्युसे भयभीत हैं, दुःखसे पीड़ित हैं, अज्ञान-पाशसे बँधे तथा संघर्ष और विवादसे परेशान हैं। आप मृत्यु नहीं, जीवन चाहते हैं, दुःख नहीं, सुख चाहते हैं; अज्ञान नहीं, ज्ञान चाहते हैं और भेद नहीं, अभेद चाहते हैं। तो आइये, वेदान्तके पास! वेदान्तका यह डिण्डिम-घोष है कि आप स्वयं अविनाशी-जीवन हैं; क्योंकि आप सत् हैं। आप स्वयं सुखरूप हैं, क्योंकि आप आनन्द हैं। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं; क्योंकि आप चित् हैं। आपमें कहीं, कभी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि आप अद्वितीय हैं। वेदान्तकी यह ललकार है कि चूँकि आप सच्चिदानन्द और अद्वय हैं, अतः आप नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हैं।

जैसे अपनेको ब्रह्म मानना ज्ञान नहीं, वैसे ही शान्तिसे चुप बैठे रहना भी ब्रह्म-विचार नहीं। शान्ति विचारकी भूमि है, विचार नहीं। अज्ञानका नाश शान्तिसे नहीं, विचारसे होता है। विचार आत्मा और ब्रह्मकी एकताका होना चाहिए। ब्रह्म 'नाम'-से हमें कोई राग नहीं। स्वयं श्रुति ब्रह्ममें नामका निषेध करती है :

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। न तत्र वाक् गच्छति।

अतः यदि किसीको ब्रह्म-नामसे अरुचि हो, तो वह उस परम सत्यका जो चाहे नाम रख ले, उसके लक्षण प्रकाशकत्व, अधिष्ठानत्व, सर्वावभासकत्व और अद्वितीयत्व—हमारे ब्रह्मके ही स्वीकार करके उसके स्वरूपका विचार करना होगा। अतः आइये, अब हम ब्रह्मविचारके 'स्वरूप'का वर्णन करें।

प्रथम हम ज्ञानका वर्गीकरण करते हैं : १. 'अन्य' अर्थात् दूसरेके बारेमें ज्ञान और २. 'स्व' अर्थात् अपने बारेमें ज्ञान।

१. अन्यके बारेमें ज्ञान या तो उसकी प्राप्तिकी दिशामें या उससे निवृत्तिकी दिशामें प्रवृत्त करता है, जब कि 'स्व'का ज्ञान प्रवर्तक-निवर्तक नहीं होता।

२. अन्यके ज्ञानसे राग-द्वेष उत्पन्न होता है, जब कि 'स्व'का ज्ञान राग-द्वेषका जनक नहीं होता।

३. अन्यका ज्ञान अन्यका तुरन्त प्रापक नहीं होता, उसके लिए कर्मकी अपेक्षा रहती है, जब कि 'स्व'का ज्ञान तुरन्त 'स्व'-का प्रापक होता है, क्योंकि नित्य-प्राप्त 'स्व'की अप्राप्तिमें केवल अज्ञान ही प्रतिबंध होता है।

अब यहाँ कहा जा रहा है कि आत्माके मोक्षके लिए ब्रह्म-विचार करते हैं। यह ब्रह्म, जिसका ज्ञान सूत्रकारको अभीष्ट है,

'स्व' है या 'अन्य' ? यदि अन्य है तो उसका ज्ञानमात्र मोक्ष उपपन्न नहीं कर सकता। और यदि 'स्व' है तब उसके ज्ञानकी जिज्ञासा करना उचित ही है। क्योंकि सूत्रकार जिज्ञासाके बलपर ही मोक्ष सिद्ध करनेको तत्पर हैं, (जैसा कि ब्रह्मसूत्रके प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' और अन्तिम सूत्र 'अनावृत्तिः शब्दात्' से प्रकट होता है। अतः उनके मतसे ब्रह्म और आत्मा एक ही वस्तु हैं।

ऐसा ही प्रसंग गीताके निम्नलिखित श्लोकमें भी है :

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥

(गीता ४.१४)

वहाँ कहा गया है कि 'मुझे कर्म लिप्त नहीं करते, क्योंकि मुझे कर्मफलकी स्पृहा नहीं है। जो मुझे ऐसा जानता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता।' अब यह कौन-सा कायदा है कि जानो श्यामको और मुक्त हो जाय राम? जब मैंने एक सन्तसे यह प्रश्न किया, तो उन्होंने समाधान किया : 'पण्डितजी, भगवान्के इस कथनसे यही सिद्ध होता है कि भगवान् और हम अलग-अलग नहीं, एक ही हैं।' ब्रह्मके ज्ञानसे अपनी मुक्तिका रहस्य भी यही है कि हम और ब्रह्म एक ही हैं।

आत्मा ब्रह्म बनता नहीं, स्वयं ही ब्रह्म है। उसका ब्रह्मत्व केवल अज्ञान द्वारा आवृत है, ज्ञान द्वारा वह ब्रह्मत्व केवल प्रकट हो जाता है। जो वस्तु ज्ञानसे मिलती है, वह पहलेसे मिली रहती है और जो वस्तु अज्ञानसे अनमिली रहती है, वह भी मिली होती है। अतः आत्माका ब्रह्मत्व प्राप्त ही है, केवल ज्ञानसे उसके अनमिलेपनका भ्रम निवृत्त करना है।

यही कारण है कि ब्रह्मकी प्राप्ति कर्म, उपासना या समाधिसे नहीं, केवल ज्ञानसे होती है। जो मुक्ति, आपका स्वरूप ही है और अज्ञानवश जो अनमिली-सी है, वही ज्ञानसे मिली-जैसी हो जाती है। आत्मामें अज्ञान त्रिकालमें है ही नहीं। अज्ञान आत्मासे नित्य-निवृत्त है; ज्ञानसे नित्यनिवृत्तिकी ही निवृत्ति होती है।‡ अतः अब हम ब्रह्मविचार प्रारम्भ करते हैं: 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा।'

---

‡ कई आचार्य अज्ञान नहीं मानते। बड़े घटाटोपके साथ वे अज्ञानका खण्डन करते हैं। इसके लिए वे अनेक अनुपपत्तियोंका वर्णन करते हैं। जैसे: आश्रयानुपपत्ति, विषयानुपपत्ति, निमित्तानुपपत्ति, निवर्तका-नुपपत्ति, निवृत्यानुपपत्ति आदि। किन्तु ऐसा करके वे अद्वैतमतका मण्डन ही करते हैं, क्योंकि अद्वैत-मतमें भी अज्ञान नित्य-निवृत्त ही है, यद्यपि उसकी प्रतीति सबको प्रत्यक्षसिद्ध अनुभव है कि 'मैं अज्ञानी हूँ।' ब्रह्मज्ञानसे नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति होती है।

(२. ६)

जिज्ञासा-विचार : ३

(कर्मके हेतु, स्वरूप, फल और उनकी ज्ञानसे तुलना)

पिछले खण्डमें ज्ञानके हेतु, स्वरूप और फलपर विचार किया गया। प्रस्तुत खण्डमें ज्ञान और कर्मके हेतु, स्वरूप और फलका तुलनात्मक विचार किया जा रहा है।

जब **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** की प्रतिज्ञा की जाती है तो प्रश्न होता है : 'जिज्ञासा ही क्यों, ब्रह्मके लिए कोई कर्म क्यों न करें ? क्या कर्मसे ब्रह्मप्राप्ति संभव नहीं ?

यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि वेदान्त कर्मका खण्डन नहीं करता। ईशावास्योपनिषद्के 'विद्या-अविद्या' और 'संभूति-असंभूति' के प्रसंगसे यह स्पष्ट ही है। हम वेदान्ती न कर्मसे बचते हैं और न खण्डनके लिए उसका खण्डन करते हैं। किन्तु कर्मका विवेक आवश्यक है, अन्यथा अंधकार ही रहता है। अतएव ज्ञान और कर्मका तुलनात्मक विवेचन करते हैं।

दूसरी बात यह है कि श्री शंकराचार्य जब कर्मका खण्डन करते हैं तो 'कर्म' से उनका अभिप्राय इहलोक, परलोक या स्वर्गादिके लिए किये जानेवाले यज्ञ-यागादिरूप धर्मानुष्ठानों से होता है, कर्ममात्रसे नहीं। शरीरके रक्षार्थ या लोकसंग्रहके लिए किये जानेवाले कर्मोंके अनासक्त आचरणको तो वे तत्त्वज्ञ संन्या-

सियोंके लिए भी अस्वीकार नहीं करते। फिर, अन्य वर्णाश्रमियोंके लिए तो वे शास्त्रोचित्त मर्यादाको आवश्यक ही मानते हैं। स्वयं उनका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उनका लक्ष्य है, कर्मकी ब्रह्मज्ञानमें साक्षात् अनुपयोगिता सिद्ध करना, जीवनसे कर्मका वहिष्कार नहीं।

कर्म निर्माण-विभाग है तो ज्ञान प्रमाण-विभाग। यदि आप कुछ अपनेमें या अपनी परिस्थितियोंमें परिवर्तन अथवा सत्यका अपने मनोनुकूल अनुभव करना चाहते हैं, तो आपको ईश्वरके निर्माण-विभाग अर्थात् कर्मका आश्रय लेना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि वस्तुका जैसा-का-तैसा अनुभव करना चाहते हैं, उसके अनुभवमें अपनी वासनाका किंचिन्मात्र भी रंजन नहीं चाहते, सत्यको सत्य अनुभव करना चाहते हैं तो आपका केवल एक ही आश्रय है और वह है, ईश्वरका प्रमाण-विभाग अर्थात् ज्ञान-विभाग।

वासनावान् कर्मका अधिकारी होता है और निर्वासनिक ज्ञानका। ज्ञानके अधिकारीका 'अथ' शब्दकी व्याख्यामें वर्णन हो चुका है। कर्मके अधिकारी भी कई प्रकारके होते हैं। जो भोगमें परिवर्तन चाहते हैं, उन्हें 'धर्म' का आश्रय लेना चाहिए। जो अपनी मनोवृत्तिमें परिवर्तन चाहते हैं, उन्हें उपासनाका आश्रय लेना चाहिए। जो अपनी वृत्तियोंका निरोध चाहते हैं, उन्हें योग अभीष्ट होना चाहिए। इस प्रकार जो धर्म, उपासना और योगका अधिकारी है, वह ज्ञानका नहीं; कर्मका हो अधिकारी है।

मूल वात यह कि जो व्यक्ति सत्यको नग्न नहीं, अपनी वासनाकी पोशाक पहनाकर देखना चाहता है, वह कर्मका अधिकारी है। जो नग्न-सत्यके साक्षात्कारके लिए स्वयं नग्न होनेके लिए तत्पर है, वह ज्ञानका अधिकारी है। ब्रह्मका ज्ञान उसीको होता है, जो नंगा हो जाता है। वासना ही वसन है और निर्वा-

सनता है, नग्नता। वासनावान् अधिकारी, अधिकारीमें कर्ताभाव, कर्मफलमें आस्था तथा उस फलकी प्राप्तिके साधन कर्ममें, श्रद्धा-विश्वास—ये कर्मके हेतु हैं। दूसरी ओर निर्वासनिक व्यक्ति ज्ञानका अधिकारी है तथा उस ज्ञानके हेतु हैं—श्रुति और प्रत्यक्षज्ञानके विरोधसे उत्पन्न सन्देह तथा मोक्षका प्रयोजन। ज्ञानमें कर्म न होनेसे ज्ञातामें न तो कर्ताभाव आवश्यक है और न कर्म और उसके फलमें श्रद्धा-विश्वास। इस प्रकार ज्ञान और कर्मके हेतुओंमें स्पष्ट विरोध है।

कर्म और ज्ञानके स्वरूपमें भी विरोध है। प्रथम तो उनके तन्त्र भिन्न-भिन्न हैं। कर्म कर्तृ-तन्त्र है तो ज्ञान वस्तु-तन्त्र। अर्थात् कर्ममें कर्मका कर्ता स्वतन्त्र है—कर्म करे, न करे, उलटा करे। इसीको 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' कहा गया है। किन्तु ज्ञानमें ज्ञाता परतन्त्र है। ज्ञान ज्ञाताके नहीं, वस्तुके अधीन हैं। आप घड़ीको उठायें, न उठायें या तोड़ दें—इसमें स्वतन्त्र हैं, पर घड़ीको पुस्तक समझने लगें—इसमें स्वतन्त्र नहीं। आपको घड़ीको 'घड़ी' और पुस्तकको 'पुस्तक' ही जानना पड़ेगा। घड़ीका ज्ञान घड़ीके आश्रित है, आपके अर्थात् ज्ञाताके आश्रित नहीं। आप कर्म, उपासना, योग करें, न करें अथवा उनसे विपरीत करें—इसमें स्वतन्त्र हैं; पर आत्माका ज्ञान आत्माके ही आश्रित है, उससे भिन्न ज्ञाताके आश्रित नहीं। चूँकि आत्माका उससे भिन्न कोई ज्ञाता नहीं हो सकता, अतः उसका अज्ञान भी अज्ञान-सिद्ध ही है। इस अज्ञानकी निवृत्ति ही आत्मज्ञान है।

दूसरे, कर्म श्रद्धामूलक है और ज्ञान प्रमाण-मूलक। आपको स्वर्ग जाना है तो अपने अधिकार, कर्तापन, यज्ञ, मन्त्र, ब्राह्मण और स्वयं स्वर्गमें श्रद्धा-विश्वास करना पड़ेगा। किन्तु सामने उपस्थित घड़ीको देखनेके लिए किसी श्रद्धा-विश्वासकी आवश्य-

कता नहीं, केवल घड़ीके प्रकाशक प्रमाण 'नेत्र'की आवश्यकता है। नेत्रसे घड़ी देख लें तो श्रद्धाकी क्या आवश्यकता है?

तीसरे, कर्ममें आवृत्ति या दोहराना आवश्यक होता है, क्योंकि कर्मसे उत्पन्न फल अनित्य होता है। जप तो आवृत्तिपूर्वक होता ही है और शास्त्रमें ही विधान है कि यदि जप शास्त्रोक्त संख्यासे अनुष्ठित होनेपर भी फल न दे, तो चार बार उसी अनुष्ठानको दोहराना चाहिए। उपासनाका स्वरूप ही आवृत्ति है, तभी इष्ट-रसका उदय होता है। योगमें तो 'अभ्यास' ही मुख्य है। अतः कर्म, उपासना और योग—सभीमें आवृत्ति प्रधान होती है। बाह्य कर्म शरीरसे होता है, उपासनारूप कर्म मनसे और क्रियाकी शान्तिसे योगद्वारा प्राप्य समाधि सिद्ध होती है। कर्म और उपासनामें यदि अनुलोम-क्रिया तो योगमें प्रतिलोम क्रिया। घरसे बाहर जाना अनुलोम-क्रिया है और बाहरसे भीतर घरमें लौटना है प्रतिलोम क्रिया है। दोनों क्रियाएँ ही दोनों कर्म हैं। इसके विपरीत ज्ञान न अनुलोम-क्रिया है, न प्रतिलोम-क्रिया। ज्ञानमें आवृत्ति या दोहरानेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। केवल एकबार, और केवल एक ही वार, ठीक-ठीक ज्ञान होनेपर वस्तुका अधिगम हो जाता है।

हीरा पायो गाँठ गठियायो बार बार वाकूँ क्यों खोले।

ब्रह्मसूत्रके **आवृत्तिः असकृदुपदेशात्** (४.१.१) की व्याख्यामें श्री शंकराचार्यका कहना है कि अदृढ़ ज्ञान होनेपर वार-बार ज्ञानकी आवश्यकता होती है; पर स्पष्ट ज्ञान तो एक ही वार होता है और उसकी आवृत्तिकी आवश्यकता नहीं।

चौथे, कर्म साध्यका निर्माता है तो ज्ञान है सिद्धका साक्षात्कार। कर्मसे जो वस्तु प्राप्त होती है, वह उत्पाद्य, आप्य, विकार्य, संस्कार्य और विनाश्य—इन्हीं पाँचमेंसे किसी एक प्रकारकी होती

है। इन पाँच प्रकारोंको हम एक सरल उदाहरणसे इस प्रकार समझ सकते हैं :

यदि मिट्टी, पानी, चाक, दण्ड और कुम्हार हो तो घड़ेका निर्माण या उत्पादन हो सकता है। यहाँ 'घट' घट-उत्पादन कर्मका 'उत्पाद्य' फल है। अर्थात् 'पहलेसे अविद्यमान वस्तुका निर्माण' कर्मका उत्पाद्य फल है। यदि आपके पास घट नहीं और दूसरेके घरसे घड़ा उधार ले आते हैं, तो 'ले आना' कर्मका फल 'घट' 'आप्य' फल कहलायेगा। आपके पास घट है और आप उसमें नमक रखकर छोड़ देते हैं, तो थोड़े समयके बाद घड़ा गल जायगा। यहाँ 'नमक रखकर घटको छोड़ देना' कर्मका फल घड़ेकी विकृति है। अतः घटका अन्तिम रूप 'विकार्य' है। आपके पास घट है, किन्तु वह गन्दा हो रहा है। आप उसे साफ़ कर देते हैं अथवा साफ़ कर उसपर चित्रकारी कर देते हैं। आपके 'साफ़ करने अथवा चित्रकारी करने' के कर्मका फल जो सुन्दर घट है, वह 'संस्कार्य' फल है। आपके पास घट है और आप उसे डण्डा मारकर फोड़ देते हैं, तो 'डण्डा मारने'रूप कर्मका फल जो घटका नाशरूप है, वह 'विनाश्य' फल है।

अब देखें कि कर्म, उपासना और योगसे कौन-सा फल मिलता है। वैदिक यज्ञादि-कर्मोंके स्वर्गादि फल 'आप्य' हैं और लौकिक कर्मोंके फल भी उत्पाद्य, आप्य, विकार्य, संस्कार्य और विनाश्य'—इन्हीं पाँच प्रकारोंमेंसे एक होंगे। उपासना का फल साध्याकार-वृत्ति है जो 'संस्कार्य' तथा 'विनाश्य' है। योगका फल वृत्तिकी स्थिरतारूप समाधि है, वह भी 'उत्पाद्य' और 'विनाश्य' है।

दूसरी ओर, ज्ञानसे जो वस्तु मिलती है, वह पहलेसे ही विद्यमान रहती है। ज्ञानसे नयी वस्तु नहीं बनती, केवल उसके

सम्बन्धमें अज्ञानकी निवृत्ति होती है। अतः ज्ञानका फल 'उत्पाद्य' नहीं होता। पुनः ज्ञानका फल 'आप्य' भी नहीं, क्योंकि ज्ञान वर्तमानमें वर्तमानका होता है, भविष्यका नहीं। ज्ञानसे न वस्तुमें विकार होता है, न संस्कार और न ज्ञानसे वस्तु नष्ट ही होती है। ज्ञान वस्तुके स्वरूपमें हेर-फेर नहीं करता। वस्तुको यथातथ्य दिखाभर देना ज्ञानका फल है। ज्ञानका काम तद्विषयक अविद्या दूरकर वस्तुस्वरूपकी स्फूर्ति है, उसके रूप-गुणमें परिवर्तन नहीं।

यदि मुक्ति भी कर्मका फल हो, तो उसे उत्पन्न होकर कालान्तरमें मर जाना पड़ेगा। वह अन्य होनेसे जड़ भी होगी। ऐसी मुक्ति-पुरुषार्थ, पुरुषके चाहनेयोग्य नहीं हो सकती।

इस प्रकार ज्ञान और कर्मके हेतु, स्वरूप और फलमें मूलतः विरोध है। मुक्ति कर्मका नहीं, ज्ञानका फल है। अपनी आत्माके ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानकी ज्ञान द्वारा निवृत्ति ही मुक्तिका स्वरूप है।

यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि कर्मसे भी ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष। तब कर्मको मुक्तिमें हेतु क्यों न माना जाय? उत्तर यह है कि कर्मसे होनेवाले ज्ञान और मोक्षजनक ज्ञानमें अन्तर है।

कल्पना कीजिये कि आपको कश्मीरके सौंदर्यका ज्ञान प्राप्त करना है। उसके लिए कश्मीर जाना रूप कर्म अनिवार्य है। जानेपर नेत्रोंसे कश्मीरके सौंदर्यका ज्ञान होगा। यदि वह सौन्दर्य मनमें जम गया तो आपको बार-बार कश्मीर जानेकी क्रिया करनी पड़ेगी। यदि मनमें न जमा, तो उस सौंदर्यसे विकर्षण भी हो सकता है।

प्रत्येक सविशेष ज्ञानमें यही होता है। संसारकी सभी वस्तुओं-का ज्ञान इसी प्रकार होता है। जो वस्तु हमसे अन्य है, उसका

ज्ञान सविशेष ज्ञान है और उसकी प्राप्तिमें कर्म साधन हैं तथा ज्ञानोपरान्त भी उसके पुनः-पुनः ज्ञानके लिए कर्म अनिवार्य है।

किन्तु जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है, वह सबकी आत्मा है। उसके ज्ञानका स्वरूप सभी सविशेष-ज्ञानों के बाधसे सम्पन्न होता है। वही निर्विशेष ज्ञान है। उसे पानेके लिए न कहीं आना है और न कहीं जाना। उसे एकबार जाननेके पश्चात् बार-बार जाननेकी भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि निर्विशेष ज्ञान राग-द्वेषका जनक नहीं होता।

कर्म न तो आत्मज्ञानका साधन है और न फल। आत्मा भी न कर्मका कर्ता है और न कर्मका फल।

यदि कहें कि 'सविशेष ज्ञानका निषेध' भी कर्म है, तो ऐसा नहीं; क्योंकि सर्वाधिष्ठान दृङ्मात्र आत्मा सविशेष और निर्विशेष ज्ञानोंका आश्रय होनेसे उसमें 'सविशेषका निषेध' भी आत्मरूप ही है। प्रतीति और उसकी निवृत्ति एक ही अधिकरणमें होती है, अतः बाध-ज्ञान या निषेध-ज्ञान कर्मकी कोटिमें नहीं आता।

कर्म सविशेष ज्ञानके पहले भी है और बादमें भी। किन्तु निर्विशेषज्ञान के पहले या पीछे कर्मकी आवश्यकता या अपेक्षा नहीं। ब्रह्मसूत्रके **अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा** (३.४.२५) और **सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः अश्ववत्**। (३.४.२६) इन सूत्रोंकी व्याख्यामें यह स्पष्ट है कि मोक्षके सम्पादनमें केवल ज्ञान ही समर्थ है, उसमें कर्मकी कोई आवश्यकता नहीं तथा कर्मकी उपयोगिता मात्र अन्तःकरणकी शुद्धिमें है, न कि मोक्षके उपपादनमें।†

---

† इस बातको लेकर विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थानमें मतभेद है कि कर्मसे मोक्ष होता है अथवा मुक्तिकी इच्छा।

जहाँ शास्त्रोंमें 'ज्ञानके बाद कर्म' की चर्चा है, वहाँ सांसारिक विषयोंके संदर्भमें वह बात कही गयी है। यदि कर्मसे ज्ञान होता है, तो 'भामती'कारका प्रश्न है कि 'कर्म कौन-सा प्रमाण है?' प्रश्न उचित है, क्योंकि ज्ञान तो प्रमाणसे ही होता है। रूपका ज्ञान नेत्रसे, गंधका ज्ञान घ्राणसे, शब्दका ज्ञान श्रवण-से, स्पर्शका ज्ञान त्वचासे, रसका ज्ञान जिह्वासे—यह तो सभी जानते हैं। फिर कर्म कौन-सा प्रमाण है? प्रत्यक्ष, अनुमान, उप-मान, अर्थापत्ति, अनुपपत्ति, शब्द, ऐतिह्य, चेष्टा—इनमेंसे कौन-सा प्रमाण 'कर्म' है? स्पष्ट है कि कर्म कोई प्रमाण नहीं, निर्माण है। कर्मसे प्रकाश नहीं, निर्माण होता है। अन्तःकरणकी शुद्धिमें, ज्ञान-के अधिकारीकी उपपत्तिमें कर्म उपयोगी है, प्रयोजनीय है; किन्तु अपरिच्छिन्न ब्रह्मके दिग्दर्शनमें तो एकमात्र ज्ञान ही साधन है, कर्म नहीं। इसीलिए भामतीकार ने कहा है:

वस्तुसिद्धिः विचारेण न क्वचित् कर्मकोटिभिः।

अर्थात् 'वस्तुकी सिद्धि विचारसे होती है, करोड़ों कर्मोंसे नहीं'। अतः आइये, ब्रह्म-विचार प्रारम्भ करें।

यहाँ कुछ बातें एकबार पुनः स्पष्ट कर लेनी चाहिए:

१. क्या आप अपनेको अज्ञानी या दुःखी अनुभव करते हैं? क्या परिच्छिन्न और मरणधर्मी अनुभव करते हैं? क्या चारों ओर विरोध और संघर्षसे घिरा पाते हैं? क्या आप अज्ञान, दुःख, मृत्यु, विरोधसे छूटना चाहते हैं? यदि 'हाँ' तो आइये, हमारे साथ ब्रह्मविचार कीजिये। विश्वास रखिये कि आप इन सब परिच्छेदोंसे छूट जायँगे। और यदि आपको अज्ञान, दुःख, भय और विरोध पीड़ा नहीं देता, तो मस्त रहिये। हमें आपकी मस्ती-में हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार या शौक नहीं। वेदान्तकी रीति रोग फैलाकर डाक्टर बननेकी नहीं। यदि आपको ही अपना

अज्ञान दुःख देता हो तों आप वेदान्तवित् सदगुरुके पास जाइये और उनसे अपने-अज्ञान, दुःख, भयका कथन कीजिये। कहिये :

गुरो कृपालो कृपया वदेत्तत् ।

'हे गुरुदेव ! कृपया आज उस ज्ञानका कथन कीजिये, जिससे मेरे सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति हो और परमानन्द परमात्माकी प्राप्ति हो।' तब गुरुजी कृपया आपको उपदेश करेंगे :

परमानन्द स्वरूप तू, नहि तोमें दुखलेश ।

(विचार-सागर)

'हे शिष्य ! तू तो स्वयं परमानन्दस्वरूप है; तुझमें दुःखका लेश भी नहीं है।' गुरुकी दृष्टिमें शिष्य अज्ञानी नहीं, दुःखी नहीं। गुरुको दृष्टिमें तो शिष्य वही ब्रह्म है जो वे स्वयं है। शिष्य भ्रमसे अपनेको अज्ञानी, दुःखी और भयभीत मानता है। गुरुका कार्य शिष्यमें ब्रह्मविचारका उद्बोधन कराना मात्र है, जिससे वह भ्रम निवृत्त हो जाय।

२. ब्रह्म-विचारके साथ मिथ्याके त्यागका सामर्थ्य भी चाहिए। तभी ब्रह्म-विचार सफल होगा। आत्माके अज्ञानके दो प्रमुख कार्य हैं—अहंकी परिच्छिन्नता तथा इदंकी सत्यता। इन्हींको 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं। इनके त्यागसे ही उक्त सामर्थ्य-का योग होता है, क्योंकि यही मूल मिथ्या-भाव है। लोग सोचते हैं कि पहले 'मैं'का त्याग कर दें तो 'मेरा'का त्याग हो जायगा। किन्तु वास्तवमें बात उल्टी है। 'मेरा' कहनेवाला 'मैं' कोई वस्तु नहीं, वह 'मेरा' का ही आत्मभाव है। जब मैं रुपयोंको 'मेरा' कहता हूँ, 'मैं' रुपयेवाला हो जाता हूँ। जब मैं स्त्रीको अपनी कहता हूँ, तो मैं स्त्रीवान् हो जाता हूँ, आदि। अतः जब मैं वस्तुओं, व्यक्तियोंसे 'मेरापन' हटा लूँ तो इनके अभिमानवाला

'मैं' भी अपने आप विलीन हो जायगा। तब जो 'मैं' शेष रहेगा, वही कूटस्थ आत्मा है। उस कूटस्थ आत्माकी परिच्छिन्नताका नाश ब्रह्म-विचारसे हो जाता है। अतः मोक्षके जिज्ञासुको प्रथम ममता छोड़नी पड़ेगी। इसके लिए विवेक और भक्ति, उपासना और योग, जो भी किया जाय, सब वेदान्तको स्वीकार है। तात्त्विक दृष्टिसे इस अनन्तमें मैं-मेरा, तू-तेरा, यह-वह, सब कुछ छूटा हुआ ही है। वास्तवमें तो हमें ग्रहणका भ्रम हो गया है। आत्मा और अनात्माकी ग्रंथि ही ग्रहणरूपसे अनुभूत होती है। अनात्माको त्यक्त और त्याज्य समझकर त्याग देनेसे आत्मामें कर्ता-भोक्ताभावकी समाप्ति हो जाती है।

३. केवल ब्रह्मके विचारसे ही मोक्ष होता है, अन्यके विचारसे नहीं। जो सत्ता देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे विनिर्मुक्त है तथा जो सच्चिदानन्द अद्वय है, वही ब्रह्म है। वही ब्रह्म आपका आत्मा है। जो आपसे पृथक् है और आप जिससे पृथक् हैं, वह ब्रह्म नहीं। जो ज्ञानका विषय है, वह ब्रह्म नहीं। जो जगत्‌का अभिन्न-निमित्तोपादन कारण है, किन्तु जिसमें कारणता भी अध्यारोपित है, वह ब्रह्म है। जो न परिच्छेद है, न उनकी समष्टि है, वह ब्रह्म है। जो न व्यक्ति है, न व्यक्तियोंकी समष्टि है, वह ब्रह्म है। जो सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक है, वह ब्रह्म है। जो सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदोंसे शून्य है, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, है, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न है, सम्पूर्ण दृश्यका विवर्ती अधिष्ठान है; सर्वाधिष्ठान होते हुए सबसे अतीत है, वही 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' ब्रह्म है। वही विषय है, वही विषयी और वही इनके भावाभाव-का अधिष्ठान, प्रकाशक आत्मा है। वही मैं, तुम और वह है!

(३. ०)

शारीरकभाष्य-भूमिका अथवा अध्यास-भाष्य : १

मूलभाष्य :

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्ध-स्वभावयोरितरेतर-भावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरा-मितरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्; तथापि अन्योऽन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोधर्मधर्मिणोः मिथ्या-ज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदम्' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

आह—कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

तं केचित्—अन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु—यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु—यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति। सर्वथापि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः स द्वितीयवदिति।

(ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्यकी भूमिका : अध्यास-भाष्यांश)

अर्थ : अंधकार और प्रकाशके समान विरुद्ध स्वभाववाले युष्मत् (तुम) और अस्मत् (हम) प्रतीतिके विषयभूत विषय और विषयीके इतेरतरभाव (तादात्म्य) की अनुपपत्ति सिद्ध होनेपर उनके धर्मोंको भी सुतराम् इतरेतरभावकी अनुपपत्ति है। इसलिए अस्मत्-प्रतीतिके विषयभूत चैतन्यस्वरूप विषयीमें युष्मत्-प्रतीतिके विषयभूत विषय और उसके धर्मोंका अध्यास और इसके विपरीत विषयमें विषयी और उसके धर्मोंका अध्यास नहीं हो सकता। तो भी अत्यन्त भिन्न धर्मों और धर्मियोंका भेद-ज्ञान न होनेके कारण एकका दूसरेमें परस्पर स्वरूप तथा एक-दूसरेके धर्मोंका अध्यास कर, सत्य और अनृत का मिथुनीकरण करके 'यह मैं' और 'यह मेरा' इस प्रकार मिथ्याज्ञान-निमित्त स्वाभाविक यह लोक-व्यवहार चलता है।

यदि कहो कि यह अध्यास क्या है, तो कहते हैं : 'स्मृतिरूप पूर्वदृष्टका अन्यमें अवभास अध्यास है।'

कोई लोग "एकमें दूसरेके धर्मोंके आरोपको 'अध्यास' कहते हैं।" कुछ लोग कहते हैं कि 'जिसमें जिसका अध्यास है, उसका भेदाग्रहनिमित्तक भ्रम अध्यास है।' अन्य लोग 'जिसमें जिसका अध्यास है, उसमें विरुद्धधर्मत्वकी कल्पनाको 'अध्यास' कहते हैं। परन्तु सर्वथा सभी मतोंमें 'अन्यके धर्मोंकी अन्यमें प्रतीति' इस लक्षणका व्यभिचार नहीं है। इसी प्रकार लोक-व्यवहारमें भी अनुभव है कि शुक्ति ही रजतके समान अवभासित होती है और एक ही चन्द्रमा दो चन्द्रमाओंके समान प्रतीत होता है। •

(३. १)

विषय-विषयीकी परस्पर धर्म-विरुद्धता

श्री शंकराचार्यके ब्रह्मसूत्र-भाष्यकी भूमिकाको 'अध्यास-भाष्य' कहते हैं। इसमें शांकर वेदान्तके मूलभूत आधार 'अध्यास'की व्याख्या की गयी है। अध्यासके आधारपर ही अज्ञान तथा भ्रान्ति सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः यदि अज्ञान ही सिद्ध न हो तो उसे मिटानेका प्रयत्नरूप ब्रह्मविचार ही कैसे सिद्ध होगा? अतः अध्यास-भाष्यका प्रयोजन प्रकारान्तरसे ब्रह्म-विचारकी आवश्यकता भी सिद्ध करना है।

बताना यह है कि जिस अज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्मज्ञानसे होती है, वह पहलेसे ही विद्यमान है। यदि ब्रह्मविषयक अज्ञान न हो तो उसके विचारकी भी क्या आवश्यकता? अतः ग्रंथके समारम्भमें उचित प्रयोजन है, यह बात भी अध्यास-भाष्यसे सिद्ध होती है।

अद्वैत-वेदान्तके विरोधी दर्शन अज्ञान, अविद्या, अध्यास किसीको भी स्वीकार नहीं करते। किन्तु आपके दैनिक जीवनमें अध्यास स्पष्ट अनुभूत होता है। अध्यासका अर्थ है :

अधि=उपरि, अन्यस्य उपरि अन्यस्य; आसः=निक्षेपः अध्यासः।
'अधि' अर्थात् ऊपर। अन्यके ऊपर अन्यका निक्षेप (आरोप) अध्यास है। एकके ऊपर एकको थोप देना अध्यास है। किसीका धर्म किसीपर थोप देना अध्यास है।

आपने स्त्रियोंको अपने होंठोंपर लिप-स्टिक लगाते देखा होगा। यह तो बम्बई है, न देखनेकी कोई बात ही नहीं। काले होंठों पर लालरंग चढ़ाकर वे अपनेको लाल होंठोंवाली सुन्दरी मानने लगती हैं। यह काले होंठोंपर लालरंगका आरोप अध्यास-का नमूना हुआ।

साधुओंका भी उदाहरण लें! ये लम्बी-लम्बी जटावाले साधु आपने देखे हैं न? ये वाल इनके अपने नहीं होते। नकली बाल लेकर वड़के दूध आदिसे उन्हें अपने बालोंपर चिपका लेते हैं और थोड़े दिनोंमें ऐसे चिपक जाते हैं कि उनके शरीरका अंग-मालूम पड़ने लगते हैं। तो यह असली-नकलीका अध्यास हो गया। कोई इनके वालोंको जरा छेड़ दे तो तपस्वी महाराज नाराज हो उठते हैं।

आप जरा अपने दैनिक प्रयोगके वाक्योंपर भी दृष्टि डालिये। क्या आप नहीं वोलते: 'गरम वायु चल रही है, सुगंधित वायु वह रही है, शीतल वायु वह रही है?'

ऊपरसे इन वाक्योंमें दोष नहीं दिखता, पर सबमें अध्यास है। कैसे? गरमी अग्निका धर्म है, उसे वायुपर आरोपित कर आप वायुको गरम बताते हैं। गंध पृथ्वीका धर्म है, शीतलता जलका धर्म है, उन्हें आप वायुपर अध्यारोपित कर वायुको सुगंधित एवं शीतल बताते हैं। इसी प्रकार व्यवहारमें सावधानीसे देखें तो आपको सर्वत्र अध्यासके दर्शन हो सकते हैं।

यह अध्यास कहाँ रहता है? इसके उत्तरमें एक हास्यरसकी युक्ति देता हूँ:

अधीषु आस्ते इति अध्यासः।

'अधी' अर्थात् धी-रहित, अबुद्धिमान्, अज्ञानीमें जो रहता है सो अध्यास है।

ध्यान रखें कि अध्यास और अज्ञान दो हैं। अध्यास कार्य है तो अज्ञान (अविद्या) है उसका कारण। वैसे विद्वानोंमें इस बातपर मतभेद है कि अध्यास और अविद्या दो हैं या एक। श्री शंकराचार्यने अपने शारीरक-भाष्यमें ही कमसे कम दो जगह कहा है कि अध्यास और अविद्या एक ही हैं :

तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। (भाष्य)

प्रश्न यह है कि जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें जो अध्यास है, वह अलग-अलग क्षेत्रमें अलग-अलग है या इस अध्यासका कोई विश्व-व्यापी सिद्धान्त है ? अर्थात् विभिन्न अध्यासोंके मूलमें कौन-सा मूल अध्यास है, कौन-सा मूल अज्ञान है अथवा कौन-सी मूल अविद्या है ? इसी मूलाध्यास, मूलाविद्याका पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषण भगवान् शंकरने अपने इस अध्यास-भाष्यमें प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम अध्यास-भाष्यको पढ़नेपर यह शंका होती है कि भगवान् भाष्यकारने अपने भाष्यका कोई मंगलाचरण क्यों नहीं किया ? सीधे 'युष्मदस्मत्···' से विषयमें ही प्रवेश क्यों कर दिया ? विशेषकर जब कि यह लोकप्रसिद्ध है कि मंगलाचरणके बिना ग्रन्थारम्भ कर देनेसे अनेक विघ्नोंकी संभावना रहती है। श्रुतिमें तो यहाँतक वर्णन है कि जब देवतालोक किसी परमार्थके पथिकको ब्रह्मज्ञानके मार्गमें प्रविष्ट होते देखते हैं, तो उन्हें भय लगता है कि वह उनके सिरपर पैर रखकर उनका अतिक्रमण कर जायगा। अतएव वे भयाक्रान्त होकर उसके मार्गमें उच्चाटन, विषय-बुद्धि आदि उत्पन्न कर विघ्न उपस्थित कर देते हैं : **विघ्नं कुर्वन्ति यस्मात् आक्रम्य···**।

यों भी मंगलाचरण करनेकी शिष्ट-परम्परा है और श्रुति स्वयं इसका समर्थन करती है। अतः शंका भी ठीक है।

इस शंकाका समाधान यह है कि भगवान् शंकर शिष्टोंके अग्रणी हैं। अतः जान-बूझकर वे अशिष्ट-आचरण नहीं कर सकते। वास्तविकता यह है कि वे यह बताने जा रहे हैं कि जो प्रत्यक्-चैतन्य आत्मतत्त्व है वह सम्पूर्ण विषयों, इन्द्रियों, वृत्तियों, देवताओं और इनके उपद्रवोंसे सर्वथा विरहित है। आत्मा निरुपद्रव एवं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म है। अतः आत्माके स्वभावके वर्णनमें कोई विघ्नकी आशंका ही नहीं। फिर वही आत्मतत्त्व भगवान् भाष्यकारकी बुद्धिमें जगमग-जगमग रूपसे अबाधित देदीप्यमान हो रहा है, अतः पृथक्से मंगलाचरणकी कोई आवश्यकता नहीं। ग्रंथका विषय और वक्ता दोनों ही जब ब्रह्म हों तो मंगल ही मंगल है : **ब्रह्मतन्मङ्गलं परम्**। अच्छा तो आइये, अब अध्यास-भाष्यका अध्ययन प्रारम्भ करें।

युष्मद्-अस्मत्-प्रत्ययगोचरयोः विषय-विषयिणोः तमःप्रकाशवत् विरुद्धस्वभावयोः। अर्थात् 'तुम' प्रतीतिका जो विषय सम्पूर्ण-जगत् या विषय है और 'हम' प्रतीतिका जो विषय द्रष्टा, 'विषयी' है, वे अन्धकार और प्रकाशकी भाँति विरुद्ध स्वभाववाले हैं। विषय अंधकारवत् जड़ है तो विषयी प्रकाशवत् चेतन।

विषयको 'युष्मत्' (तुम) प्रतीतिका विषय क्यों कहा, 'इदम्' (यह) प्रतीतिका विषय क्यों नहीं ? जब कि जगत्का 'इदं जगत्' ऐसा ही अनुभव होता है, 'युष्मत् जगत्' ऐसा अनुभव नहीं ? पुनः 'अहं विषयं जानामि' (मैं विषयको जानता हूँ) यह सीधा अनुभव सबको होता है, अतः विषयीको 'अहं-प्रत्ययगोचर' कहना चाहिए था, अस्मत्-प्रत्ययगोचर कहनेमें क्या विशेषता लक्षित है ?

यह ठीक है कि जगत् (विषय) इद-वाच्य है और विषयी अहं-वाच्य। फिर भी 'मैं यह शरीर हूँ' अथवा 'यह शरीर मैं हूँ'

ऐसा भ्रान्त अनुभव प्रायः होता ही है। अतः अहंकी इदंसे प्रकाश-अंधकारकी भाँति विरुद्ध-स्वभावता सिद्ध नहीं होती। किन्तु 'मैं तुम हूँ' या 'तुम मैं हूँ' यह अनुभव कभी किसीको नहीं होता। अतः विषय-विषयीकी विरुद्ध-स्वभावता दिखानेके लिए विषयको 'युष्मत्'-प्रत्ययगोचर कहा गया है। इसी प्रकार विषयीको 'अहं-प्रत्ययगोचर' भी बताया जा सकता है; परन्तु चूँकि 'अहं' की परिच्छिन्नता लोकमें सामान्यतः अनुभवमें आती है और विषयीको अन्ततः (मुख्यसामानाधिकरण्य द्वारा) ब्रह्म बताना इष्ट है, अतः उसे 'अस्मद्'-प्रत्ययगोचर कहा है। लक्ष्यार्थमें तो 'युष्यदस्मत्' और 'इदम्-अहम्' दोनों एक ही हैं।

अच्छा, 'विषय' किसे कहते हैं ?

काशीमें एक शास्त्रार्थ हुआ था। उसमें जो मध्यस्थ अध्यक्ष थे, उनके निर्णयके अनुसार 'विषय' शब्दकी व्युत्पत्ति यों की जानी चाहिए :

विषयन्ते जना एभिः इति विषयाः।

जिसके द्वारा असंग आत्मा कर्ता-भोक्ता बन जाय, वे हैं विषय। जो अन्तःकरणकी उपाधिसे आत्माको अवच्छिन्न, इन्द्रियोंकी उपाधिसे ज्ञाता, मनकी उपाधिसे भोक्ता और बुद्धिकी उपाधिसे कर्ता बना दे, वह विषय है।

षिञ् बन्धने धातुसे निष्पन्न 'विषय' शब्दका अर्थ होगा : **विषुण्वन्ति आत्मानम् इति विषयाः।** अर्थात् जो आत्माको बाँध लें उनका नाम है विषय। जो साक्षी, चेतन, असंग आत्माको अपने साथ जोड़कर बाँध ले, उसका नाम है विषय।

तब 'विषयी' कौन होगा ? जो इन विषयोंको अपना या 'मैं' मानने लगे ? वह है विषयी :

विषयान् आत्मत्वेन अभिमनुते इति विषयी।

एक वालकको एक डाकू बचपनमें ही उठा ले गया। जब वालक बड़ा हुआ, तो वह उस डाकूको ही अपना सच्चा पिता समझने लगा और स्वयंको डाकूका पुत्र। इसी प्रकार इस निर्दोष असंग आत्मारूप वालकको ये विषयरूपी डाकू उठा ले गये थे। इन्हींके संगसे वह इन विषयोंको अपना और स्वयंको विषयी समझने लगा है। अर्थात् असंग आत्मा विषयोंके संगसे विषयी बन जाता है।

किन्तु यहाँ भगवान् भाष्यकार विषय-विषयीका लक्षण 'युष्मदस्मत्-प्रत्यगोचर' करते हैं। 'विषय' वह है जो 'तू' प्रतीति अथवा 'तू'-वृत्तिका विषय है और 'विषयी' वह है जो 'अहं'-प्रतीति अथवा अहं-वृत्तिका विषय है। विषय प्रकाश्य हैं तो विषयी उसका प्रकाशक। दृश्यका नाम विषय है तो द्रष्टाका नाम विषयी।

उदाहरणार्थ : यह घड़ी विषय है और इसका जाननेवाला 'मैं' विषयी हूँ। घड़ीका आना, रहना, चले जाना, छोटा-बड़ा होना ये सब विषय हैं, दृश्य हैं और मालूम पड़ते हैं। दृश्य अनेक होते हैं, पर उनका ज्ञाता, साक्षी, द्रष्टा, जिसे पदार्थ मालूम होते हैं, वह 'मैं' एक है। जो अनेक होता है, वह अनित्य होता है और जो उस अनेकताका द्रष्टा होता है, वह नित्य। अतः विषय दृश्य, जड़, अनित्य और अनेक हैं। इसके विपरीत विषयका प्रकाशक द्रष्टा, चेतन, नित्य और एक है। इस प्रकार विषय और विषयीके धर्म अन्धकार और प्रकाशकी भाँति परस्पर विरुद्ध हैं।

यहाँ चेतन (प्रकाश वा प्रकाशक) और जड़ (प्रकाश्य)का लक्षण जान लेना आवश्यक है।

जो वस्तु अपनेको तथा दूसरोंको भी जाने, वह 'चेतन' कही जाती है और जो वस्तु न अपनेको जाने और न दूसरेको, वह 'जड़' कहलाती है। इन्द्रियवाला होने, न होनेसे या वस्तुमें गति होने,

न होनेसे वस्तु चेतन या जड़ नहीं कहलाती। गति और सेन्द्रियत्व जड़का धर्म है, चेतनका नहीं; क्योंकि चेतन दोनोंका प्रकाशक है तथा ये दोनों स्वयं-प्रकाश नहीं हैं। साथ ही अगति और निरिन्द्रियत्व इनके विरोधी लक्षण हैं और वे भी चेतन द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। जैसे नेत्रसे रूप दिखना और न दीखना दोनों ही चेतन 'मैं' द्वारा प्रकाशित होते और जाने जाते हैं। विषय जड़ हैं प्रकाश्य होनेसे और विषयी चेतन है प्रकाशक होनेसे।

चेतन प्रकाशक है वृत्तिकी उपाधिसे, वास्तवमें वह प्रकाशरूप ही है। ज्ञानका नाम ही प्रकाश है। परन्तु जो प्रकाश लोक-चक्षु-गम्य है (अथवा दिव्य-चक्षु-गम्य है) वह प्रकाश नहीं, प्रकाश्य और दृश्य है।

कर्णवास, जिला बुलन्दशहर, उत्तरप्रदेशकी बात है। हमारे एक मित्र गुफामें बैठे भजन कर रहे थे। सहसा सारी गुफा एक अलौकिक प्रकाशसे भर गयी। आप इसपर अविश्वास करें या न करें, बात बिल्कुल सच्ची है। जो साधन-भजन करते हैं, वे ही इसकी सचाईका अनुभव कर सकते हैं। जहाँ कोई बाह्य प्रकाशका प्रवेश नहीं, वहाँ कोई अन्य प्रकाश कैसे आ सकता है? यह मनका प्रक्षेप भी मान लें तो भी प्रकाशकी अनुभूतिमें कोई अन्तर नहीं आता।

हाँ तो, जब उन्होंने उस प्रकाशके दर्शन किये तो एक अलौकिक आनन्दसे उनका समूचा व्यक्तित्व भर गया। वे उठकर आये और हमसे कहने लगे कि 'आज हमने ब्रह्मका, आत्माका साक्षात्कार कर लिया।' विवरण जाननेपर मैंने उन्हें बताया कि जो प्रकाश दीखता है, वह ब्रह्म या आत्मा नहीं होता।

चेतनका लक्षण है: **असंवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्**। अर्थात् जो कभी संवेद्य भी न हो और सदा अपरोक्ष हो, वह चेतन है। दूसरे

शब्दोंमें जो कभी इन्द्रियोंका विषय भी न हो (अर्थात् प्रत्यक्ष न हो) और जो स्वर्गादिके समान कभी परोक्ष भी न हो, परन्तु जिसकी अनुभूति सदा होती रहे, वह चेतन है।

अब तनिक सोचें कि यह चेतन कौन है? अरे, वह चेतन तो यह 'मैं आत्मा' ही है: **अयमात्मा**। यही निश्चय है। यह सर्वथा प्रकाशक है।

जो आत्मा है वह ज्ञान, प्रकाश और प्रकाशक है। जो अनात्मा है, वह ज्ञेय, जड़ और प्रकाश्य है। विषय अनात्मा है और विषयी आत्मा। विषय कभी विषयी नहीं हो सकता और न विषयी कभी विषय हो सकता है। अन्धकार और प्रकाशके समान इनके स्वभाव परस्पर विरुद्ध हैं।

श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रश्न ही यह किया है:

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृ - दृश्ययोः।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते॥
आत्माऽव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः॥

(भाग० ११. २८. १०-११)

'भगवन्! आत्मा है द्रष्टा और देह है दृश्य। आत्मा स्वयं प्रकाश है और देह जड़। ऐसी स्थितिमें जन्म-मृत्युरूप संसार न शरीरको हो सकता है और न आत्माको। किन्तु इसका होना भी उपलब्ध होता है। तब यह होता किसे है? आत्मा अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणोंसे रहित, शुद्ध, स्वयंप्रकाश और सभी आवरणोंसे रहित है तथा शरीर विनाशी, सगुण, अशुद्ध, प्रकाश्य और आवृत है। आत्मा अग्निके समान प्रकाशमान है तो शरीर काठकी तरह अचेतन। फिर यह जन्म-मृत्युरूप संसार किसे?'

युक्ति एवं विचारसे द्रष्टा और दृश्य तथा विषयी और विषय-का, जो परस्पर अत्यन्त विविक्त हैं, एकत्व अथवा मिथुनीकरण सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए भाष्यकार ने कहा : **इतरेतर-भावानुपपत्तौ सिद्धायाम्**। अर्थात् विषय और विषयीकी परस्पर आरूढ़ता अनुपपन्न अथवा असिद्ध है, यह सुनिश्चित है।

'जब दो वस्तुएँ नितान्त पृथक्-पृथक् हैं' यह स्पष्ट है तब यह तो सिद्ध ही है कि उनके धर्मोंका भी परस्पर समारोप नहीं हो सकता : **तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः।**

इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि···भवितुं युक्तम्। इस प्रकार 'त्वम्'-प्रत्ययगम्य 'विषय' और उसके धर्मोंका 'अहं'-प्रत्ययगम्य विषयी चेतन आत्मापर अध्यारोप सम्भव नहीं तथा विषयी और उससे धर्मोंका विषयपर भी अध्यारोप असम्भव है। अर्थात् विषय-विषयीका परस्पर अध्यारोप अथवा अध्यास असम्भव है।

विषय-विषयीके परस्पर विरोध और अध्यासकी असम्भवता-को थोड़ा और स्पष्ट करना चाहेंगे :

आत्माको ही विषयानुभवकी उपाधिसे 'विषयी' कहा जाता है। बुद्धिकी उपाधिसे उसीको 'ज्ञाता' कहा जाता है, चित्तको उपाधिसे भोक्ता तथा इन्द्रियोंकी उपाधिसे 'कर्ता' कहा जाता है। आत्मा ही प्रत्येक शरीरमें 'मैं' नामसे प्रसिद्ध है।

प्रत्येक विषयका अनुभव प्रत्ययरूप होता है, यहाँतक कि विषयी 'अहं' भी जिस रूपमें अनुभवका विषय होता है, वह भी प्रत्ययरूप ही होता है। 'अस्मत्' और 'युष्मत्' ('मैं' और 'तू') प्रत्ययों (प्रतीतियों) की दो मूल कोटियाँ हैं। इनके विषय अनेक होते हैं। प्रतीत होनेका नाम प्रत्यय है अथवा प्रत्येक विषय या प्रतीतिमें जो रहे, उसका नाम 'प्रत्यय' है :

प्रत्ययनं प्रत्ययः। प्रत्येकम् अयते इति प्रत्ययः।
प्रतिविषयम् अयते इति वा प्रत्ययः।

यों भी कह सकते हैं कि प्रतीतिके पीछे जो रहता है, वह प्रत्यय है : **प्रतीपम् अयते इति प्रत्ययः**। विषय इन्द्रियोंसे बाहर, उनके आगे रहता है; पर उसका प्रत्यय उनके पीछे वृत्तिस्थ रहता है। विषयका वृत्तिमें प्रतिबिम्बन प्रत्यय है।

विषय और उसके धर्मोंका प्रत्यय होता है; किन्तु स्वयं विषयीका प्रत्यय नहीं होता, केवल उसके धर्मोंका प्रत्यय होता है। सब प्रत्यय आत्मासे ही प्रकाशित एवं सत्तावान् होते हैं।

आत्मा धर्मी नहीं होता, औपाधिक रूपसे उसके धर्मोंकी चर्चा की जाती है। आत्माका स्वरूप चैतन्य, ज्ञान अथवा प्रकाश है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि सभी अवस्थाओंमें, भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कालोंमें प्रकाशित रहना उसका स्वरूप-धर्म है। इसीलिए कहते हैं कि आत्मा अबाधित सत्य है। अबाधित सत्यका अर्थ है, आत्माके 'होने' में कभी कोई बाधा नहीं। दूसरे शब्दों में :

नहि कश्चित् प्रतीयात् नाहमस्मीति। (पञ्चदशी)

'मैं नहीं हूँ' यह कभी किसीको अनुभव नहीं होता। स्पष्ट है कि वर्तमान और जाग्रदवस्थामें यदि कोई कहे कि 'मैं नहीं हूँ' तो पूछना चाहिए कि फिर कह कौन रहा है? यह तो 'वदतो-व्याघात' दोष हुआ कि बोलनेवाला कहे कि 'मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है' : **मन्मुखे जिह्वा नास्ति**। अपने-आपका निषेध करने-वाले का निषेध संभव नहीं। स्वप्नावस्थामें भी अपने 'मैं' का अनुभव होता है। अवश्य ही सुषुप्ति-अवस्थामें यह अनुभव नहीं होता कि 'मैं हूँ' (अहं-प्रत्यय सुषुप्तिमें नहीं रहता। फिर भी वहाँ 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव भी तो नहीं होता। यों सुषुप्तिकी अभाव-

प्रतीति और सुखका अनुभव वहाँ 'मैं' ही करता है। अन्यथा जाग्रत होनेपर 'सुखसे सोया, कुछ पता नहीं रहा' इस अनुभवका कथन वह नहीं कर सकता। समाधिमें तो 'मैं' रहता ही है। भूत भी कभी वर्तमान था, अतः भूतकालमें भी अपने भावाभावका साक्षी मैं ही था और भविष्यमें भी मैं ही रहूँगा। अतः 'मैं' आत्मा अबाधित रूपसे स्वयंप्रकाशमान रहता है।

इस अबाधित सत्यके ज्ञानका कभी लोप नहीं होता, अतः 'मैं' आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है।

अपने अस्तित्व एवं ज्ञानसे कभी वैराग्य न होनेके कारण आत्मा आनन्दरूप है। सब कुछ आत्माके लिए (अपने लिए) प्रिय है—इस युक्तिसे आत्मा परम प्रेमास्पद है।

इस प्रकार आत्मा सच्चिदानन्दमात्र है। अनुभवसे यह आत्मा शुद्ध साक्षीके रूपमें उपलब्ध होता है। श्रुति कहती है कि यह साक्षी ही ब्रह्म है।

'आत्मा स्वरूपतः ज्ञानमात्र है'—जब यह ज्ञान बुद्धिमें अभिव्यक्त होता है, तो वह विषयका प्रकाशन करता है। उस समय इसकी संज्ञा 'विषयी' होती है और प्रत्ययके रूपमें विषय-ज्ञान होता है। जब वही ज्ञान विषयाकारवृत्तिमें अभिव्यक्त होता है तो उसे 'स्फुरण' कहा जाता है और जब पाप-पुण्य-जन्य वृत्तिमें अभिव्यक्त होता है, तो उसीको 'आनन्द' कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान-मात्र ही ज्ञान स्फुरण और आनन्दके रूपमें प्रकट होता है। ज्ञानमात्र स्वरूप है, धर्म नहीं और 'ज्ञान, स्फुरण तथा आनन्द' उसके औपाधिक धर्म हैं। ज्ञानमात्रका निरूपण सब औपाधिक धर्मोंके निषेध या तिरस्कारपूर्वक ही किया जा सकता है।

विषयका धर्म भिन्न है। बाहरके विषय एकदेशमें होते हैं,

किसी एक अवस्था या कालमें होते हैं, इन्द्रियों द्वारा प्रकाशित होते हैं, वृत्तिकी गोदमें होते हैं; परिच्छिन्न होते हैं, अनेक होते हैं, और होते हैं अनित्य। भीतरके विषय जैसे स्मृति, धृति, मति भी आते और चले जाते हैं। बुद्धि जाग्रत्में जागती है और स्वप्नमें सोती है। मन जाग्रत् और स्वप्नमें जागता है और सुषुप्तिमें सो जाता है। अहंकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंमें जागता है और समाधिमें सो जाता है। चित्त समाधिमें भी जागता है। इस प्रकार विषय बाधित सत्य हैं, परप्रकाश्य होनेसे जड़ हैं और अन्यके लिए (आत्माके लिए) प्रिय होनेसे प्रेमास्पद नहीं हैं। दूसरे शब्दोंमें असत्, जड़ एवं दुःखरूप हैं।

विषय और विषयीका विरोध अब अधिक स्पष्ट हो गया होगा। विषय परप्रकाश्य होनेसे असत्तावान् हैं, जब कि विषयी स्वयंप्रकाश होनेसे अबाध-सत्तावान्। विषय अनेक, असत्, जड़, दुःखरूप हैं, जब कि विषयी एक, सत्-चित्-आनन्दरूप। विषय मालूम पड़ते हैं और विषयीको मालूम पड़ते हैं (प्रत्ययगोचरयोः)। विषय और विषयी वस्तुतः दो हैं, एक नहीं (युष्मत्, अस्मत्) और उनके प्रति व्यवहार भी भिन्न-भिन्न हैं। (गोचरयोः)। विषय के प्रति ममता विषयीके लिए होती है; विषयीके प्रति राग-द्वेष नहीं होता।

ऐसे विरुद्धधर्मी तत्त्वोंका परस्पर अध्यास कैसे सम्भव है, अर्थात् कदापि सम्भव नहीं।

पूर्वपक्षी : बहुत ठीक ! यही तो हम भी कहते हैं कि दो विरोधी वस्तुओंका अध्यास संभव नहीं। किन्तु जब अध्यास ही नहीं तो उसके निवर्तक अद्वैत-वेदान्तके ज्ञान अर्थात् ब्रह्म-विचार की भी क्या आवश्यकता है ? **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**··· के अनुसार श्रवण-मनन, निदिध्यासनकी कोई आवश्यकता नहीं। केवल द्रष्टा-दृश्य-

विवेक ही अपेक्षित है। उसके अभ्याससे शान्ति प्राप्त हो जायगी। त्यागपूर्वक अभ्याससे विविक्त आत्माका ज्ञान हो जायगा। उसकी उपासनासे तदाकारता प्राप्त हो जायगी।

सिद्धान्ती : नहीं भाई ! यह ठीक नहीं। ब्रह्म-विचार आवश्यक है, क्योंकि अभ्यासकी सिद्धि प्रत्येकके जीवनमें पायी जाती है।

पूर्वपक्षी : कैसे ?

सिद्धान्ती : सुनिये ! प्रत्येक व्यक्तिको यह अनुभव होता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ' : **अहम् अज्ञः**। अहम्-प्रत्ययगोचर जो आत्मा है वह तो ज्ञानस्वरूप है, यह पूर्वमें भलीभाँति बता चुके हैं। तब उसमें अज्ञानकी कल्पना कहाँसे ? निश्चय ही स्वरूपमें अज्ञान न होनेसे यह अज्ञता आगन्तुक है, बाहरसे आयी है। विषयीके जो बाहर है, वह विषय है। तब विषयकी जड़ता ही आत्मामें अज्ञताके रूपमें प्रतिबिम्बित होती है। अज्ञतारूप अध्यास आत्मा और अनात्मामें किसी सादृश्य अथवा संसर्गके कारण नहीं; क्योंकि वे तो **तमःप्रकाशवत्** विरुद्ध-स्वभाववाले हैं; अपितु अयुक्त स्थानके कारण हैं। आत्मामें अज्ञान नहीं और न विषयमें ज्ञान है। फिर भी आत्मामें अज्ञान भासता है और विषयमें ज्ञान। इस अयुक्त-स्थानीय अध्यासका कारण अविवेक या भूल है।

इसीलिए भाष्यकारने कहा कि यद्यपि दो विरुद्ध वस्तुओंका परस्पर अध्यास असम्भव है, फिर भी इनके स्वयंके विषयमें तथा इनके धर्मोंके विषयमें अविवेकके कारण सत्यका मिथ्याके साथ मिथुनीकरण अथवा अध्यास हो जाता है और उसका परिणाम होता है यह नैसर्गिक लोकव्यवहार कि 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' : **तथापि अन्योऽन्यस्मिन्'''लोकव्यवहारः**।

अब कहो कि अविवेक क्यों हैं ? तो वह भी अविवेकसे ही है। अतः यह प्रश्न ठीक नहीं। अन्यथा इसमें अनवस्था-दोष होगा।

क्योंकि अविवेकका कारण अविवेक, फिर उसका कारण अविवेक और फिर उसका कारण अविवेक.....इस प्रकार अनवस्थासे बचनेके लिए हम केवल प्रथम अविवेकको ही दोषी मान लेते हैं।

यदि अविवेक न होता, तो क्या यह विरोध और असंगति जीवनमें देखनेको मिलती कि मैं आत्मा निखिल दृश्योंका द्रष्टा, साक्षी, चैतन्य भी (जिसे श्रुति ब्रह्म बताती है) और सुखी दुःखी भी हो ? मैं साक्षी आत्मा भी और पापी पुण्यात्मा भी ? मैं साक्षी सम्पूर्ण देशका भी और लोक-लोकान्तरमें भ्रमण करनेवाला जीव भी ? मैं साक्षी सम्पूर्ण कालका भी और जन्मने-मरनेवाला भी ? मैं साक्षी चेतन भी और पंचमहाभूतोंका पुतला देह भी ? मैं साक्षी भी और हिन्दू-मुसलमान भी ? मैं साक्षी भी और मनुष्य भी ?

यह असंगति बुद्धि एवं विचारके विपरीत है, श्रुतिके विपरीत है। इसीलिए श्री शंकराचार्यको कहना पड़ा :

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत् ।

'यदि साक्षी दुःखी है, तो उस दुःखका साक्षी कौन होगा ?' कल धन चला गया, इसलिए दुःखी थे। आज पुत्र चला गया, इसलिए दुःखी हैं। कल यश चला जायगा, इसलिए दुःखी होंगे। कल दुःख और आज सुख ! जो दुःखका साक्षी है, वही सुखका भी साक्षी है। अतः इन बदलते सुख-दुःखोंका साक्षी सुखी-दुःखी नहीं हो सकता। इससे तो यही सिद्ध होता है कि :

दुःखिनः साक्षिता नास्ति साक्षिणो दुःखिता तथा ।

'जो दुःखी है, वह साक्षी चेतन नहीं और जो साक्षी है, वह दुःखी नहीं हो सकता।'

बिना अपनेको विकारी माने कोई अपनेको दुःखी नहीं मान

सकता। जन्म-मरण, संयोग-वियोग, सुखाकार-दुःखाकारवृत्ति, आदि ये सब विकार हैं* जो बुद्धि, मन या शरीरमें रहते हैं। साक्षी तो बुद्धिके इन सहस्र-सहस्र विकारोंका साक्षी है, उसे ये स्पर्शतक नहीं कर सकते। इस प्रकार अविवेक और तज्जन्य अध्यास सामान्यतः उपलब्ध है। अविवेकका नाम ही अज्ञान है। यही वह 'महामाया' है, जो बलात् विवेकियोंको भी मोहित कर देती है :

बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

(दुर्गा-सप्तशती)

यहाँ भाष्यकारने 'सिद्धायाम्' और तथापि' शब्दोंका प्रयोग कर मानो यह बताया है कि सत्य द्रष्टा और सत्य दृश्य का विवेक मात्र अनर्थका समूल उच्छेद करनेके लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि यद्यपि द्रष्टा और दृश्य अतिविविक्त हैं, फिर भी जबतक द्रष्टाके एकमात्र सत्यत्व और दृश्यके मिथ्यात्वका बोध नहीं होगा, तब-तक अनर्थकी निःशेष निवृत्ति नहीं हो सकती। 'सत्यानृते मिथुनी-कृत्य'में यह बात छिपी है।

अतिविविक्त और विरुद्ध धर्मवाले पदार्थोंमें भी अयुक्त-स्थानीय अध्यास स्पष्ट उपलब्ध होता है। अतः अध्यास सिद्ध है और इसीलिए ब्रह्म-विचार भी आवश्यक है।

---

* क्रिया और विक्रियामें अन्तर है। क्रिया कर्तृत्वपूर्वक और कर्ता-के अधीन होती है, जब कि विक्रिया प्रकृतिमें होती है और किसी कर्ताके अधीन नहीं। बाल उगना, पसीना आना, बाल्य, यौवन, जरा—ये सब विक्रियाएँ हैं। किन्तु किसीको मारना, यज्ञ करना क्रिया है। क्रियासे अपूर्वकी उत्पत्तिद्वारा पाप अथवा पुण्य होता है, परन्तु विक्रियासे पाप-पुण्य कुछ नहीं होता। साक्षी न कर्ता है, न प्रकृति। अतः साक्षी विकारी भी नहीं है। वह तो क्रिया-विक्रियाओं का साक्षी है।

मान्यता और विचार अलग-अलग वस्तु हैं। मान्यताएँ साधक अथवा बाधक हो सकती हैं, परन्तु उनमें नासमझी बनी रहती है। विचार नासमझी हटाकर सत्यका दर्शन कराता है।

केवल सत्-चित्-आनन्दरूप आत्मा का असत्-जड़-दुःखरूप अनात्मापर अथवा अनात्माका आत्मापर अध्यारोप अध्यास नहीं है। किन्तु अविवेकसे आत्माको अनात्मा और अनात्माको आत्मा जानना अधिष्ठानको अध्यस्त और अध्यस्तको अधिष्ठान जानना तथा सत्यको मिथ्या और मिथ्याको सत्य जानना अध्यास है।

आत्मा सत् है, इसलिए 'है'। विषय असत् हैं इसलिए 'नहीं हैं'। परन्तु हम कहते हैं : 'विषय तो हैं, हम चाहें हों या न हों'। विषयोंमें जो 'अस्ति' है वह आत्म-धर्म है, विषय-धर्म नहीं। स्व-प्रकाश आत्मा 'है', इसीलिए विषय भी प्रतीति हैं। पुनः आत्मा-'चित्' और विषय जड़ हैं। परन्तु हम कहते हैं : 'आत्मा प्रतीत नहीं होता, विषय तो प्रतीत होता है।' प्रतीत होना सत्-चित् आत्मा का धर्म है; विषयका नहीं।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(कठ० २.२.१५)

'उसके प्रकाशित होनेपर ही सब प्रकाशित होते हैं। उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है।' इस प्रकार विषयोंमें जो 'भाति' है, वह विषयका नहीं, आत्माका धर्म है। पुनश्च, आत्मा आनन्दरूप है और विषय दुःखरूप। परन्तु 'विषयोंमें सुख है' यह किस सामान्य पुरुषका अनुभव नहीं है? विषयमें जो 'प्रियता' है वह विषय-धर्म नहीं, आत्मधर्म है।

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

(बृहदा० २.४.५)

'अरी मैत्रेयी, आत्माके लिए ही सब प्रिय होते हैं (सबके लिए सब प्रिय नहीं होते) ।

इस प्रकार विषयमें जो अस्ति, भाति, प्रियता है वह विषय-धर्म नहीं, आत्म-धर्म हैं । आत्माके सत्-चित्-आनन्दके ही ये प्रत्यावर्तन अथवा विवर्त हैं । विषयोंके नाम-रूप केवल व्यावहारिक हैं और हैं देश, काल, व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय द्वारा संस्कारित । नाम-रूप न तो विषयके गुण हैं, न विषयीके । नाम-रूप व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक सत्तामें हैं तो सत्-चित्-आनन्द पारमर्थिक सत्तामें ।

अबाधित सत्ताको 'पारमार्थिक सत्ता' कहते हैं । परमार्थ-सत्ता स्वयंप्रकाश और सर्वाधिष्ठानरूप ही हो सकती है, अन्यथा नहीं । व्यावहारिक सत्ता पारमार्थिक सत्तामें अध्यस्त होती है तथा केवल उसी (अधिष्ठान-सत्ताके) ज्ञानसे वह बाधित होती है । प्रातिभासिक सत्ता उन पदार्थोंकी होती है जो अविचार अथवा मिथ्याज्ञानसे सिद्ध है; परन्तु विचार तथा यथार्थ ज्ञानसे जिसकी निवृत्ति हो जाती है । प्रातिभासिक सत्ता व्यावहारिक सत्तावाले पदार्थोंके अज्ञानसे ही उत्पन्न होती है ।

विषय व्यावहारिकसत्ताक हैं; विषय-विषयी-सम्बन्ध प्रातिभासिकसत्ताक हैं; विषयका अधिष्ठान परमार्थ है ।

द्रष्टा-दृश्य-विवेकसे उक्त प्रातिभासित सत्ताका नाश तो हो जाता है, किन्तु उस प्रातिभासिकताका कारण जो यह अज्ञान है कि 'द्रष्टा और दृश्यकी पृथक्-पृथक् सत्ता है', वह नष्ट नहीं होता । अतः अनर्थ या अध्यासकी पुनः सम्भावना रहती है । द्रष्टा-दृश्य-की जो समूची व्यावहारिक सत्ता है, उसके अधिष्ठान-ज्ञानके बोधसे सम्पूर्ण अध्यास और अनर्थकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । इसी पारमार्थिक सत्ताके ज्ञानके लिए ब्रह्म-विचार किया जाता है । ●

(३. २.)

अध्यासकी स्थापना : १

…'तथापि अन्योऽन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मांश्च-अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोः धर्मधर्मिणोः मिथ्या-ज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहम्, इदम्' 'मम इदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोक-व्यवहारः। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य)

आत्मा 'अहं'-प्रत्ययगोचर है तथा अनात्मा 'इदम्' अथवा 'युष्मत्'-प्रत्ययगोचर है। आत्मा अन्तःकरणकी उपाधिसे इदं-गम्य विपयका प्रकाशन करता है और इसीलिए वह 'विषयी' कहा जाता है। यद्यपि विषय और विषयी अंधकार-प्रकाशकी भाँति परस्पर विरुद्धधर्मी हैं, फिर भी अविवेकसे अयुक्त-स्थानीय अध्यास सम्भव हो जाता है। विषयको विषयी और विषयीको विपय समझना या विषयके धर्मोंका विषयीमें और विषयीके धर्मोंका विपयमें अध्यास उत्पन्न हो जाता है। इस अध्यासका निमित्त 'अज्ञान' कहो अथवा 'मिथ्याज्ञान', उसमें सत्यका मिथ्याके साथ मिथुनीकरण होकर 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है'—ऐसा द्विविध प्रकारका नैसर्गिक व्यवहार लोकमें प्रतीत होता है।

हमारा सम्पूर्ण व्यवहार दो कक्षाओंमें विभाजित कर दिया गया है: 'यह मैं हूँ' ('अहमिदम्') और 'यह मेरा है' ('ममेदम्')। दोनों व्यवहार अध्यासरूप हैं। 'यह मैं हूँ' यह 'अर्थाध्यास' कह-लाता है, तो 'यह मेरा है' 'संसर्गाध्यास'।

'यह मैं हूँ' दो प्रकारसे अनुभवमें आता है: १. 'यह शरीर मैं हूँ'; इसमें अनात्म-विषय शरीरमें आत्म-बुद्धिका आरोप है। २. 'मैं यह शरीर हूँ'; इसमें आत्मामें अनात्म-विषय शरीरका अध्यारोप है। प्रथम अध्यासमें आत्मा और शरीरके धर्मोंका अध्यारोप है, तो द्वितीयमें आत्मा और शरीरकी पृथक्ताको भुला दिया गया है। द्रष्टा-दृश्य तथा अधिष्ठान-अध्यस्तका अविवेक ही 'अर्थाध्यास' का मूल निमित्त है।

'यह मेरा है' इस वाक्यमें 'यह' शब्द शरीर या अन्य सभी पदार्थों (विषयों) का वाचक है। यह अध्यास विषयका विषयीके साथ सम्बंधरूप है। इसमें विषय और विषयीकी पृथक्-पृथक् सत्यसत्ताका मूल निमित्त मिथ्याज्ञान है।

प्राणियोंका सम्पूर्ण लोक-व्यवहार इन्हीं दो विज्ञानोंसे प्रेरित है। भाष्यकारने इसी तथ्यको **अहमिदं ममेदम् इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः** शब्दसे कहा है।

'लोक्यते इति लोकः' इस व्युत्पत्तिसे 'लोक' का अर्थ है साफ़-साफ़। इसलिए '**लोकव्यवहारः**' का आशय यह है कि जीवनमें 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है' यह व्यवहार 'स्पष्टम्-स्पष्टम्' है। यह भी नहीं कि यह व्यवहार अज्ञानियोंके जीवनमें ही देखनेको मिलता हो। ज्ञानी हो या अज्ञानी, सभीके जीवनमें व्यवहारका आश्रय ये ही दो मिथ्याज्ञान हैं। इसी कारण कहा गया कि यह व्यवहार 'नैसर्गिक' अर्थात् निसर्गसे प्राप्त अथवा प्राकृत है; सभी प्राणियोंके लिए एक-सा है।

स्मरण रहे कि अध्यासकी आत्यन्तिक निवृत्ति विषय और विषयीके एक स्वयंप्रकाश-अधिष्ठानके बोधसे होती है। उसीकी पारमार्थिक सत्ता है। यह तो साधारण विचार है कि संसारकी कोई वस्तु मेरी नहीं हो सकती; क्योंकि प्रथम तो 'मैं' सम्बन्ध-गन्ध-

से शून्य चेतन हूँ और दूसरी सभी वस्तुएँ 'आपणन द्रव्य' हैं, अर्थात् मोल देकर कुछ कालके लिए वेश्याकी भाँति खरीदी गयी हैं। इस साधारण विचारसे भले ही ममताके बन्धनकी दृढता ढीली हो जाय, परन्तु ममता नष्ट नहीं हो सकती। वह तो विषय और विषयीके एक-अधिष्ठानके बोधसे ही निवृत्त हो सकती है।

इस अधिष्ठानकी खोज बौद्ध-बन्धुओंने भी की थी। 'इदम्' और 'अहम्' प्रत्ययोंका नाम उन्होंने क्रमशः 'प्रवृत्ति-विज्ञान' और 'आलय-विज्ञान' रखा। उन्होंने कहा कि ये दोनों पृथक्-पृथक् विज्ञान हैं जो क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। व्यवहार इन दोनों विज्ञानोंके क्षणिक तथा क्षण-क्षण-नवीन अध्यासोंके कारण होता हैं और व्यवहारमें जो सादृश्यमूलक एकत्व अनुभूत होता है, वह इन विज्ञानोंके परस्पर घात-प्रतिघात तथा आरोपण-प्रत्यारोपणके कारण है। अन्यथा प्रत्येक प्रत्यय नितान्त एकाकी और क्षणिक होता है। अध्यास प्रत्येक क्षण उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। व्यवहारमें जो कल और आजकी सदृशता अनुभूत होती है, वह प्रत्ययरूप तरंगके सादृश्यसे है। बौद्धोंके मतसे 'प्रवृत्ति' और 'आलय' दोनों विज्ञान मिथ्या हैं; क्योंकि दोनोंका आधार शून्य है। उनके अनुसार जो अध्यास होता है, वह मिथ्याका मिथ्याके साथ मिथुनीकरण है। 'शून्य' की एकरसचैतन्यता और अधिष्ठानत्वको स्वीकार किये बिना ही वे झूठ (अनृत) और झूठका मिथुनीकरणरूप अध्यास स्वीकार करते हैं। उनके मतमें मानो अध्यासका स्वरूप है : **अनृतानृते मिथुनीकृत्य।**

किन्तु यह तो सामान्य समझकी बात है कि 'शून्य' को यदि अहं-प्रत्ययका अधिष्ठान और इदं-प्रत्ययका प्रकाशक होना हो तो उसे सत्-चित् होना ही पड़ेगा।

अद्वैत-वेदान्तके अतिरिक्त अधिष्ठान-अध्यस्तका गम्भीर विचार

किसी अन्य वेदान्तमें उपलब्ध नहीं है; क्योंकि उन सभी विद्वानोंका या तो 'अहम्' या 'इदम्'में या दोनोंमें, या इनसे भिन्न तीसरेमें पूर्वाग्रह पाया जाता है। सत्य किसी आग्रहकी अपेक्षा नहीं रखता। इसके विपरीत पूर्वाग्रह सत्यका आवरक होता है, स्फोरक नहीं।

अद्वैत-वेदान्त कहता है कि 'अहम्' और 'इदम्' प्रत्यय अनुभव-सिद्ध हैं। इनका स्वरूप और धर्मोंका परस्पर अध्यारोप भी, अविवेकसे ही सही, उपलब्ध है। यह भी साधारण समझकी बात है कि 'मैं' का प्रकाशक 'मैं' से भिन्न नहीं हो सकता। अतः मैं चेतन है, यह स्पष्ट है। फिर, चेतनका अधिष्ठान चेतनसे अतिरिक्त नहीं हो सकता। अतः 'अहं' स्वयंप्रकाशरूप एवं स्वयं-अधिष्ठान-रूप है। 'इदम्'-प्रत्यय प्रकाश्य है और 'अहम्' है उसका प्रकाशक। 'अहं' से पृथक् 'इदं' सत्ताशून्य है। अतः 'इदं' का जो प्रकाशक 'अहम्' है, वही उसका अधिष्ठान है। इस प्रकार 'इदं' और 'अहं' दोनों प्रत्ययोंका एक ही प्रकाशक एवं एक ही अधिष्ठान है और वह है 'अहंतत्त्व'। इसलिए अद्वैत-वेदान्तके अनुसार 'अहं' और 'इदं' प्रत्यय भले ही मिथ्या हों, पर उनका अधिष्ठान एकरस-चैतन्य है। साथ ही 'अहं और इदं' का अध्यास झूठ-मूठका अध्यास नहीं, वरन् सत्य (अहं) और झूठ (इदं) का अध्यास है अथवा अधिष्ठान (अहं) और अध्यस्त (इदं) का अध्यास है। इसी बातको भाष्यकारने **सत्यानृते मिथुनीकृत्य** द्वारा स्पष्ट किया है। इसकी बौद्धोंके 'अनृतानृते मिथुनीकृत्य' से तुलना कर लेनी चाहिए।

अहमर्थ आत्मा सत्-रूपसे अधिष्ठान है और चित्-रूपसे प्रकाशक। शरीरका जो सत् अधिष्ठान है, वही शरीरका प्रकाशक 'मैं' है। यह शरीर, यह पृथ्वी, यह जल, यह भूगोल, यह खगोल,

यह ब्रह्माण्ड, ये कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड, किसमें हैं ? किसमें दीखते हैं ये सब ? जब ये सब दीखते हैं तो जिसमें ये सब हैं, वह भी होना चाहिए ! इनका अधिष्ठान शून्य नहीं हो सकता। शून्य तो दीखता है, अतः वह जड़ है और उसका प्रकाशक-अधिष्ठान भी कोई अन्य होना चाहिए। वेदान्त कहता है कि जो कुछ दीखता है, उसकी कारणभूता शक्तिके परिच्छिन्न देशमें जो चैतन्यसत्ता है, वह इसका अधिष्ठान है। उसीको 'ईश्वर' कहते हैं।

किन्तु वेदान्त यह भी पूछता है कि इन कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों-की कल्पनाका प्रकाशक कौन है ? और उत्तर देता है कि इस कल्पनाका प्रकाशक अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, जिसे 'जीव' भी कहा जाता है। यही अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य 'अहं'-गम्य है।

इस प्रकार दो चैतन्योंकी उपपत्ति प्रतीत होती है : एक जीव-चैतन्य जो कार्यावच्छिन्न (अन्तःकरणावच्छिन्न) है और दूसरा ईश्वर-चैतन्य जो कारणवच्छिन्न (सम्पूर्ण दृश्य-वर्गकी कारणभूत-शक्त्यावच्छिन्न) है। प्रथम प्रकाशक है तो द्वितीय अधिष्ठान। प्रथम चिन्मात्र है तो द्वितीय सन्मात्र।

किन्तु इन दो चैतन्योंमें भेदक क्या है ? अन्तःकरणके जिस कारण-देशमें ईश्वरकी सत्ता भासती है, उसी देशमें कारण-कार्यका प्रकाशक चेतन्य 'अहं' और 'इदं' प्रत्ययोंको प्रकाशित करता है। अतः इन दो चैतन्योंमें देशका भेद नहीं है।

इनमें कालका भेद भी नहीं है; क्योंकि यद्यपि कालकी दृष्टिसे कारण ज्येष्ठ-भ्राता है (पहले उत्पन्न होनेके कारण) और कर्म कनिष्ठ-भ्राता है (बादमें उत्पन्न होनेके कारण) तथा पहले और पीछेके क्रमका ज्ञान 'काल' कहलाता है। ज्ञानमें स्वयं पहले-पीछे कुछ नहीं होता; क्योंकि पहले और पीछे दोनोंका प्रकाशक ज्ञान

ही है। ऐसा भी नहीं कि एक चेतन ज्येष्ठ-भ्राता होनेसे ही श्रेष्ठ चेतन हो जाता हो; क्योंकि जैसे किसी वृक्षके ठूँठमें प्रथम (और इसलिए ज्येष्ठ) ज्ञान चोरका होता है तथा द्वितीय (और इसलिए कनिष्ठ) ज्ञान ठूँठका होता है। किन्तु इन दोनों ज्ञानोंमें जैसे कनिष्ठ ज्ञान हो श्रेष्ठ होता है; क्योंकि वह वस्तु (ठूँठ)के यथार्थ ज्ञानका पक्षपाती है। इसी प्रकार ज्ञानमें ज्येष्ठता-कनिष्ठता-के आधारपर श्रेष्ठता आरोपित नहीं की जा सकती। ज्ञानकी यथा-र्थता ही उसकी श्रेष्ठता होती है। ज्ञान स्वयं न श्रेष्ठ है और न निम्न, न ज्येष्ठ है और न कनिष्ठ। वह तो इन सब प्रत्ययोंका प्रकाशक है।

तब क्या इन दो चैतन्योंमें वस्तुगत भेद है? चेतनमें द्रव्यगत भेद संभव नहीं; क्योंकि चैतन्य-वस्तुमें केवल चेतन ही द्रव्य होता है, अन्य कुछ नहीं। ज्ञप्तिमात्र, चिन्मात्रता, चेतनका स्वरूप होता है। अतः ईश्वर-चैतन्य और जीव-चैतन्यको पृथक् करनेवाली कोई वस्तु ही नहीं है। यह कारण-कार्यबुद्धि ही अन्तःकरणके प्रकाशक और अन्तःकरणके अधिष्ठानको दो चैतन्योंके रूपमें स्वीकृति देती है। यही अज्ञान है।

वास्तविकता यह है कि जो अधिष्ठान-चैतन्य है, वही प्रकाशक-चैतन्य है। अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न चेतनमें कोई भेद नहीं होता। जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके उदय-अस्तके अनुकूल शक्तिसे अवच्छिन्न सत्ता है, वही एक शरीरके उदय-अस्तके अनुकूल शक्तिसे अवच्छिन्न सत्ता है और वही सत्ता उस शरीरकी प्रकाशिका भी है। जो परिच्छिन्न इदंका प्रकाशक-अधिष्ठान है, वही इस परिच्छिन्न अहंका भी प्रकाशक है। जो ईश्वर है, वही जीव है और जो जीव है, वही ईश्वर है। यहाँ (जीवमें) उसकी चेतनता भासती है और वहाँ (ईश्वरमें) उसकी सत्ता। यह नियम है कि जो वस्तु अपनेसे अन्य भासेगी, वह सत्-रूप होगी

और जो स्वरूपके रूपमें भासेगी, वह चेतन होगी। चैतन्य कभी अन्यरूपमें नहीं भास सकता; क्योंकि अन्य जड़ होता है।

यही एक चैतन्य देश, काल, वस्तुकी कल्पनाका अवभासक एवं इनका अधिष्ठान है; वह सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदोंसे शून्य है और प्रत्येक प्राणीके अहंसे अभिन्न है। जबतक ऐसा प्रबोध नहीं होता, अर्थात् जबतक मनुष्यको आत्मचैतन्यकी ब्रह्मरूपताका अनुभव नहीं होता, तबतक वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य, आना-जाना लोक-परलोकसे त्राण नहीं पा सकता।

यही अहं-गम्य आत्मा परमार्थ सत्य है, ब्रह्म है। इसमें देश, काल या वस्तु कुछ नहीं है। यह इनकी कल्पनासे भी अतीत है; क्योंकि वह इस कल्पनाका प्रकाशक है। ऐसा होते हुए भी इसीमें देश, काल, वस्तुकी कल्पना भी होती है; इनकी आत्मासे भिन्न उपलब्धि भी होती है और इनके प्रति ऐन्द्रियक व्यवहार भी होता है। अधिष्ठानकी सत्यतासे सत्य भासता हुआ अध्यस्त मिथ्या होते हुए भी सभी सांसारिक अनर्थोंका हेतु होता है। यह अयुक्तस्थानीय अध्यास है और 'सत्य और अनृतका मिथुनीकरण' है।

अधिष्ठान सत्य है, अनृत माया है। वेदमें लिखा है :

अनृतेन हि प्रत्यूहा उपर्युपरि संचरन्तो नाविन्दे उत्समर्थम्।

घरमें करोड़ों रुपये गड़े हों और नित्य हम उसपर चलते हों, किन्तु उसका अज्ञान होनेसे हम अपने कष्टोंको निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं होते, वल्कि चोरी, वेईमानी कर अपना पेट भरते हैं। उसपर भी यह अहंकार है कि जो चोरी-वेईमानी करके अपना पेट भरता है, वह उन लोगोंसे श्रेष्ठ है जो भजन करते हैं और भिक्षा मांगकर किसी प्रकार अपना पेट भर लेते हैं। लोग अनृतके

चक्करमें फँसे हैं। घरमें चिन्तामणि है, पारस पत्थर है, पर केवल न जाननेसे कंगाल बने हैं।

एक सज्जन बताते थे कि एकबार उनका हाथ बहुत तंग हो गया। उधर सरकारी जाँच भी प्रारम्भ होनेवाली थी। डरके मारे वे एक दिन अपने बाप-दादाके जमानेके बही-खाते टटोल रहे थे कि कहीं कोई बात सरकारके माफिक और उनके विरुद्ध उसमें लिखी न हो। एकाएक उसमें लिखे एक ब्यौरेपर उनकी निगाह गयी। लिखा था : 'दरवाजेके ऊपर खिड़कीके बाँयें इतनी दूरीपर दीवालमें··· ।' उन्होंने तुरन्त दीवाल तुड़वायी। वे बताते थे कि वहाँ उन्हें १० लाख रुपयेका सोना-चाँदी मिला। अब क्या था, उनकी सारी परेशानियाँ दूर हो गयीं।

इसी प्रकार वेद कहता है कि 'हे मनुष्यो, आपका खजाना आपकी आत्माकी गहराइयोंमें छिपा पड़ा है। वह अज्ञानरूप कुहासेसे ढँक गया है : **नीहारेण प्रावृत्ताः** (ऋग्वेद)। उस अज्ञानको, उससे उत्पन्न अध्यासको मिटा दो!' आश्चर्य है, लोग वेदके कर्मरूप अनुशासनका तो पालन करते हैं, किन्तु उसमें जो सत्यका शंसन किया गया है, उससे उदासीन रहते हैं!

'मैं हूँ, मैं मनुष्य हूँ' यह बात तो किसी सीमातक बुद्धिमें आती है। 'मैं' में यह शरीर, मनुष्याकार दीखता है, अतः इस मनुष्य-शरीरमें बैठकर 'मैं मनुष्य हूँ' कहना बन सकता है। किन्तु 'यह शरीर मेरा है' यह तो घोर अज्ञान है। अज्ञान ही नहीं; अपराध भी है; क्योंकि पंचमहाभूतोंकी वस्तुको अपना मानना, दूसरेकी वस्तुको अपना मानना, अपराध ही है।

'यह सब ब्रह्म है' (**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**); तथापि जगत् दीखता है॥ 'आत्मा ब्रह्म है' (**अयमात्मा ब्रह्म**); तथापि जीवत्वकी

प्रतीति होती है। आत्मा अजन्मा और अमर है; तथापि 'मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ' यह ज्ञान होता है। आत्मा असंग है, तथापि 'मैं पापी हूँ, पुण्यी हूँ, दुःखी हूँ, सुखी हूँ' यह ज्ञान स्पष्ट भासता है। आत्मा देशका प्रकाशक है, परन्तु 'मुझ आत्माका आवागमन, पुनर्जन्म होता है' यह स्पष्ट मान्यता होती है। आत्मा समस्त परिच्छेदोंका प्रकाशक-अधिष्ठान है, परन्तु 'मैं परिच्छिन्न हूँ' यह अज्ञान होता है।

उपर्युक्त सभी उदाहरण अध्यासके हैं। आचार्य कहना यह चाहते हैं कि 'अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्ममें जो यह देश, काल, वस्तु कार्य-कारणरूपमें अथवा भावाभावरूपमें प्रतीत हो रहे हैं, वे सब मिथ्या हैं, अनृत हैं; सत्य और अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है। उस अधिष्ठान सत्यका उसमें अध्यस्त मिथ्या वस्तुओंके साथ सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य अनर्थका भागी हो रहा है। यही **मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य**' का भावार्थ है।

अब प्रश्न यह है कि 'आखिर अध्यास हुआ तो कैसे ?' इस प्रश्नकी पृष्ठभूमि यह है कि प्रश्नकर्ताने इतनी बातें तो स्वयं मान ली हैं कि "अध्यास है, यदि है तो कालके चक्रमें कभी न कभी इसकी जन्मतिथि अवश्य रही होगी, तथा यदि उत्पन्न हुआ होगा तो किसी न किसीसे अवश्य उत्पन्न हुआ होगा।" इसके उपरान्त उसका यह प्रश्न है कि अध्यास कैसे हुआ ? जैसे कोई प्रश्न करे कि 'आकाश नीला कैसे ?' वैसा ही यह प्रश्न है। आकाश नीला है, नीलापन पैदा हुआ, किसीसे पैदा और हुआ, अब पूछते हैं कि आकाश नीला कैसे ?

जैसे 'आकाश नीला कैसे ?' प्रश्नका सही उत्तर यही है कि आकाश नीला है ही नहीं, आकाशमें नीलिमा दीखती भर है, उसी प्रकार 'अध्यास कैसे ?' इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर यही

है कि आत्मामें अध्यास है ही नहीं, आत्मामें अध्यस्त और अध्यास तथा उसका नाश दीखता भर है। यह आवश्यक नहीं कि प्रतीति सत्य ही हो अथवा 'मिथ्या'-वस्तु प्रतीति की विषय न हो; क्योंकि आकाशमें नीलिमा प्रतीत होती है और मिथ्या भी है तथा रज्जुमें सर्प प्रतीत होता है और मिथ्या भी है। यदि कहें कि आकाशसे भिन्न नीलिमा सत्य है, रज्जुसे भिन्न सर्प सत्य है, इसलिए ये दृष्टान्त विषम हैं, तो इसका उत्तर यह है कि जो सर्वाधिष्ठान है, उससे भिन्न सत्यता किस अध्यस्तमें आरोपित अथवा प्रतीत होगी ? इसलिए सभी अध्यासोंमें सत्य और मिथ्याका मेल है और वहाँ निमित्त है केवल वस्तुके प्रकाशक और अधिष्ठानकी एकताका अज्ञान।

मिथ्याका कोई अन्य कारण नहीं होता, सिवा अज्ञानके, इसपर एक दृष्टान्त है।

हमारे गाँवमें एक बारात आयी। बारतमें काशीके प्रसिद्ध धुरन्धर शास्त्रवेत्ता पण्डित भी आये थे। हमारे गाँवके पण्डित थे विद्या-बुद्धिमें छोटे। उनको डर हुआ कि बाराती-पण्डितोंने यदि शास्त्रार्थ किया तो वे हार जायँगे। इनमें हमारे एक भाई लगते थे, वे भी थे। उन्होंने आश्वासन दिया कि आवश्यकता पड़नेपर वे स्वयं शास्त्रार्थ करेंगे। आखिर शास्त्रार्थ ठन ही गया। हमारे उन भाईने संस्कृतमें ललकारा : **पावा इति सूत्रं किमर्थम्** ? अर्थात् 'पावा' इस सूत्रका क्या अर्थ है ? धुरन्धर पण्डित बगलें झाँकने लगे। आखिर पूछना पड़ा कि वह सूत्र किस ग्रंथका है ? इसपर सूत्रार्थ पूछनेवाले पण्डितकी बन आयी। वे जोरसे हँसकर बोले : 'इतना भी नहीं मालूम तो पण्डित कैसे ? जब पोथी काँखमें दबाकर हमारे घर आओगे, तब बतायेंगे कि सूत्र कहाँका है ?' विद्वान् पंडितोंकी बड़ी हँसी हुई। बादमें

उन्होंने (हमारे भाईने) बताया कि वह तो कोई सूत्र हो नहीं था। यों ही उन्होंने बनाकर कह दिया।

दार्ष्टान्तमें, अध्यास अज्ञानकक्षामें निसर्गसे उपलब्ध होता है, अतः उसकी स्थापना तो करनी पड़ती है। किन्तु यदि उसका मूल खोजने जाते हैं तो अध्यास स्वयंमें न कोई वस्तु है और न उसकी कोई संगति है। केवल अधिष्ठानका अज्ञान ही मूलमें प्राप्त होता है। इसलिए यदि यह प्रश्न किया जाय कि **कोऽयम् अध्यासो नाम?** तो उसका उत्तर यही है कि **मिथ्याज्ञान-निमित्तः** अर्थात् मिथ्याज्ञान (अज्ञान) ही उसका आधार है।

मिथ्याज्ञाननिमित्तः के अर्थमें विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थानमें किंचित् मतभेद अवश्य है, किन्तु वह बुद्धिका प्रकर्षमात्र है; अद्वैत-सिद्धान्तकी रक्षा ही दोनोंका प्रयोजन है। इसी प्रकार दोनों प्रस्थानोंमें कई प्रक्रियाओंमें भी मतभेद हैं, परन्तु निष्कर्ष दोनोंका एक-जैसा तत्त्वज्ञान ही है। उदाहरणार्थ, दोनोंका निष्कर्ष है कि 'ब्रह्म-जिज्ञासा अवश्य करनी चाहिए।' परन्तु विवरणकारके मतसे इसलिए जिज्ञासा करनी चाहिए कि ब्रह्म है कर्म, भोग, देश, काल, वस्तु को परिच्छिन्नतासे रहित और जीव है ब्रह्मसे विरुद्ध कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सहित परिच्छिन्न। इसके विपरीत भामतीकारका तर्क है कि ब्रह्मजिज्ञासा इसलिए करनी चाहिए कि आत्मा ब्रह्म है—यह श्रुतिसे स्पष्ट होनेपर भी अविवेकवश आत्मा अब्रह्म ही अनुभूत होता है।

मिथ्याज्ञाननिमित्तः को विवरणकार (श्री सुरेश्वराचार्य) यों समझाते हैं :

मिथ्या अज्ञानमेव निमित्तं यस्य सः मिथ्याज्ञाननिमित्तः। मिथ्याशब्दस्य अनिर्वचनीय वचनत्वात्। मिथ्या अज्ञानमेव मिथ्या अर्थात् जिसका निमित्त मिथ्या अज्ञान हो, वह 'मिथ्याज्ञाननिमित्तः'

है। मिथ्या-शब्द का अर्थ है—अनिर्वचनीय। वह अनिर्वचनीय अज्ञान भी मिथ्या ही है।'

विवरणकारका कहना है कि अध्यासका निमित्त अनिर्वचनीय अज्ञान है। कोई आदमी रस्सीको साँप क्यों समझता है अथवा एक वस्तुको दूसरी क्यों समझता है, इसका कारण यही तो है न कि 'जो सच्ची वस्तु पहलेसे विद्यमान है, उसे वह नहीं जानता।' रस्सीको साँप जाननेका कारण रस्सीका अज्ञान ही है। आकाशको नीला जाननेका कारण आकाशके स्वरूपका अज्ञान ही है। इसी प्रकार हम अपने आपको मनुष्य इसलिए जानते हैं कि अपने आपको ब्रह्म नहीं जानते। जो ब्रह्मत्व हमारा असली स्वरूप है, उसीके अज्ञानसे हम अपने आपको अनगिनत मिथ्या-रूपोंमें जानते हैं।

विवरणकार का यह मत है कि अज्ञान और अध्यास दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। अज्ञान कारण है और अध्यास कार्य। रस्सीको न जानना अज्ञान है और उसे सर्प, माला, भूछिद्र या दण्ड जानना अध्यास अथवा भ्रान्ति है। अज्ञान अधिष्ठानका होता है और होता है एक, जब कि अध्यास या भ्रान्ति उस अज्ञानसे उत्पन्न होती तथा अनेकरूपा होती है। **इतरेतराविवेकेन** और **अन्योऽन्यस्मिन्** '**अध्यस्य** तथा **मिथ्याज्ञाननिमित्तः** से भी यही बात समझायी गयी है।

यह अज्ञान और भ्रम का 'वैलक्षण्य' है। 'वैलक्षण्य' और 'भेद' में अन्तर होता है। आकाश और नीलिमामें भेद नहीं, वैलक्षण्य है; क्योंकि नीलिमा चक्षुर्ग्राह्य होती है, पर आकाश चक्षुर्ग्राह्य नहीं होता। दो पृथक्-पृथक् सत्य वस्तुओंमें भेद होता है, किन्तु जब एक वस्तु अज्ञानसे दूसरी प्रतीत होती है तब उनमें भेद नहीं, वैलक्षण्य होता है। रज्जु और सर्पमें भेद है; पर रज्जु और उसमें

प्रतीयमान सर्पका वैलक्षण्य है। इसी प्रकार अज्ञान और भ्रम (अध्यास) का वैलक्षण्य है, भेद नहीं।

यदि कहें कि 'आत्मामें अज्ञान तो हो ही नहीं सकता, फिर अध्यास कैसे ?' तो हम आपसे पूछते हैं कि क्या आपको यह ठीक-ठीक अनुभव होता है कि आपमें अज्ञान नहीं है ? छातीपर हाथ रखकर सच-सच बताइये कि क्या आप अपनेको अज्ञानी अनुभव नहीं करते ? यदि नहीं तो 'आप ब्रह्म हैं' इसमें कोई संशय नहीं। यदि अनुभव करते हैं तो आत्मामें अज्ञान स्पष्ट ही सिद्ध है। 'मैं अज्ञ हूँ' यह सभीका अनुभव है। यों 'सुषुप्तिमें आत्मा अज्ञान-सहिष्णु है' यह भी सभीका अनुभव है।

स्वप्नमें आपने देखा कि आप पृथ्वीके एक कोनेमें खड़े हैं। वहाँ यदि आपसे कोई पूछे कि पृथ्वीके आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दायें - बायें क्या है ? तो आपका यही उत्तर होगा कि 'मैं नहीं जानता'। वहाँ आपको अपने अज्ञानकी स्वीकृति देनी पड़ेगी। किन्तु जग जानेपर यदि उसी स्वप्नके सम्बन्धमें वही प्रश्न आपसे किया जाय तो आप झट उत्तर देंगे : 'स्वप्नकी पृथ्वीके उत्तर-दक्षिणमें, ऊपर - नीचे, आगे - पीछे सब मैं ही था; क्योंकि सम्पूर्ण स्वप्न-प्रपंच मुझीमें अध्यस्त था।' जाग्रदवस्थामें अज्ञानकी कोई हस्ती शेष नहीं रहती। इसी प्रकार यदि आपसे जाग्रत्‌की पृथ्वीके ऊपर-नीचे, दाँये-बाँयेके बारेमें प्रश्न किया जाय तो आपका यही उत्तर होगा कि 'मैं नहीं जानता'। किन्तु यदि आप औपनिषद ज्ञानसे प्रबुद्ध हो जायँ जग जायँ तो आप भी औपनिषद ऋषिकी भाँति कह उठेंगे :

अहमेव अधस्ताद् अहमेवोपरिष्टात् अहं पश्चाद् अहं पुरस्ताद् अहं दक्षिणतः अहम् उत्तरतः अहमेवेदं सर्वमिति।

अर्थात् 'मैं ही नीचे हूँ, मैं ऊपर हूँ, मैं पीछे हूँ, मैं आगे हूँ, मैं दायें हूँ, मैं बाँये हूँ, यह सब जो कुछ भी है मैं ही हूँ।'

तत्त्वकी दृष्टिसे विचार करें, तो ब्रह्ममें अज्ञानकी सिद्धि नहीं होती, किन्तु व्यवहारदृष्टिसे अज्ञान स्पष्ट भास रहा है। यदि अज्ञानको सत् कहें, तो ब्रह्ममें अज्ञान होना चाहिए जो सम्भव नहीं। यदि असत् कहें, तो व्यवहारमें प्रतीत नहीं होना चाहिए; परन्तु होता है। अतः श्री सुरेश्वराचार्यजी कहते हैं कि जबतक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तबतक अज्ञानको 'सदसद्-विलक्षण, अनिर्वचनीय' मानकर ब्रह्म-विचारकी पद्धति चालू रखनी चाहिए।

मिथ्याज्ञाननिमित्तः के अर्थ में भामतीकार (श्री वाचस्पति मिश्र) का कहना है कि मिथ्याज्ञान ही अध्यासका निमित्त है। **मिथ्याज्ञानमेव निमित्तं यस्य स मिथ्याज्ञाननिमित्तः।** उनका कहना है कि जब 'अहमिदम्, ममेदम्' (यह मैं और यह मेरा) का व्यवहार नैसर्गिक है, तो वह ज्ञान अनादि-परम्परासे प्रत्येकको प्राप्त ही है। यही पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तर-उत्तर अध्यासका कारण होता है, किन्तु निश्चय ही यह कारण-ज्ञान मिथ्या है।

विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थानमें जो कहीं-कहीं मतभेद है, उसका गुर यही है कि विवरणकार अविद्याके आश्रय और विषय दोनोंको ब्रह्म स्वीकार करते हैं, जब कि भामतीकार अविद्याका आश्रय जीवको मानते हैं और विषय ब्रह्मको ही मानते हैं। 'अज्ञानावस्थामें अविद्याश्रय जीवमें ही मिथ्याज्ञान अथवा अविद्या रहती है'—यह भामतीकारका मत है। विवरणकार पूछते हैं कि ज्ञान होनेपर जीव ब्रह्म होता है या नहीं? यदि होता है—और होता ही है, यह भामतीकारको मान्य है, तब ब्रह्मको ही अविद्याश्रय माननेमें क्या आपत्ति है? इसी प्रकार अज्ञाना-

वस्थामें ब्रह्मको जीवरूपसे अविद्याका आश्रय माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है ?

इस तरह दोनों प्रक्रियाओंकी संगति है। वास्तवमें दोनों प्रस्थानोंमें केवल प्रक्रियाका भेद है, सिद्धान्तका नहीं।

अब तनिक अध्यासके उत्कृष्ट लगनेवाले रूपका कुछ वर्णन करते हैं। लोग समझते हैं कि 'मैं देह हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ' आदि धारणाएँ तो अध्यास हैं, किन्तु 'मैं आत्मा हूँ, मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, व्यापक हूँ, ईश्वर हूँ, ब्रह्म हूँ' आदि धारणाएँ यथार्थ हैं, अध्यास नहीं। परन्तु ऐसा समझना उनकी भूल है। 'मैं'को किसी भी नाम-रूपात्मक प्रत्ययके रूपमें ग्रहण करना अध्यास ही है, चाहे वह निकृष्ट श्रेणीका हो अथवा उत्कृष्ट श्रेणीका।

इस विषयमें यह स्मरण रखना चाहिए कि परमार्थ-सत्ता ब्रह्ममें कोई अध्यास सम्भव नहीं। जितना भी अर्थाध्यास या स्वरूपाध्यास है, वह सब व्यावहारिक-सत्तामें है और जितना भी ज्ञानाध्यास अथवा संसर्गाध्यास है, वह सब प्रातिभासिक-सत्तामें है। द्रष्टा-दृश्य-विवेक तथा वैराग्यकी समाधिजन्य प्रतिष्ठासे संसर्गाध्यास नष्ट हो जाता है, किन्तु प्रकाशक अधिष्ठानके ऐक्य-बोधके बिना स्वरूपाध्यासका नष्ट होना संभव नहीं। यह ऐक्यबोध भी व्यावहारिक-सत्तामें अध्यासरूप ही होना चाहिए, तभी वह समसत्तावाले 'निकृष्ट' अध्यासका नाश कर सकता है। अतः उत्कृष्ट' अध्यास की आवश्यकता भी सिद्ध ही है। 'उत्कृष्ट' अध्यास 'निकृष्ट' अध्यासको नष्टकर स्वयं भी ठीक उसी प्रकार नष्ट हो जाता—आत्मरूप हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु-अधिष्ठानका ज्ञान उसमें प्रतीत होनेवाले मिथ्या-सर्पके ज्ञानको

नष्टकर अधिष्ठानरूप ही हो जाता है। अविद्या-नाशका यही स्वरूप है।

'मैं अमुक हूँ' अथवा 'अमुक मैं हूँ' यही तो अर्थाध्यास है न! अर्थात् अपने-आपका कोई नाम या रूप स्वीकार करना अर्थाध्यास है। हम आपसे पूछते हैं कि आदमीका नाम क्यों रखा जाता है? नामका एक ही प्रयोजन है और वह है 'व्यावर्तकत्व', अर्थात् छाँटकर अलग कर देना। नाम एक पहचान है। यदि आपसे कोई कहे कि 'इस समूहमें से हरद्वारीलालको बुला दो' तो आप सोहनलाल, मोहनलाल, किशोरीलाल आदि सब व्यक्तियों-मेंसे छाँटकर हरद्वारीलालको अलग कर देंगे और उन्हें बुला लायेंगे। जिस शब्दमें व्यावर्तकत्व नहीं होता, वह किसीका नाम नहीं हो सकता।

यदि हम आपका नाम 'देह' रख दें तो क्या यह चल पायेगा? स्पष्ट है नहीं; क्योंकि देह तो सभी मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, देव-दानव सबकी होती है। अतः देह-शब्दमें व्यावर्तकत्व न होनेसे वह किसीका नाम नहीं हो सकता।

अच्छा, क्या आपका नाम 'मनुष्य' हो सकता है? निश्चय ही 'मनुष्य' कहनेसे कोई आपको पशु या पक्षी तो नहीं समझेगा। फिर भी मनुष्य तो हाथ, पैर, बुद्धिवाले सभी होते हैं। मनुष्य एक जाति है, कोई व्यक्ति नहीं। तब आपका 'मनुष्य' नाम भी निश्चित रूपसे व्यावर्तक न होनेसे ठीक नाम नहीं है।

अब कि आपका नाम 'हिन्दू' रख दें, तो यह नाम पशु-पक्षियों और अहिन्दू लोगोंसे पृथक् करनेवाला तो है; फिर भी 'हिन्दू' करोड़ों मनुष्य हैं। उनमें आप कौन-से व्यक्ति हैं? अच्छा, आपका नाम 'ब्राह्मण' ही रख दें, तो हिन्दुओंमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रसे तो व्यावर्तन हुआ। परन्तु ब्राह्मण तो अनेक प्रकारके होते हैं—

द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी। कौन-से ब्राह्मण हैं आप? तो कहा 'अमुक वंशवाले' अथवा 'अमुकके पुत्र'। परन्तु एक ही वंशमें अनेक व्यक्ति होते हैं और एक पिताके कई पुत्र होते हैं। तब आपके व्यक्तित्व की छाँट कैसे हो? इसी प्रकार आपका नाम संन्यासी, विरक्त, विवेक, हंस, परमहंस कुछ नहीं हो सकता। ये सब मैं आत्मापर अध्यसित, अनात्मभूत व्यावहारिक नाम हैं।

इनमें भी 'मैं देह हूँ' यह नैसर्गिक अध्यास है और 'मैं मनुष्य हूँ, हिन्दू हूँ, ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ' आदि सब डाले गये अध्यास हैं। इनमें भी 'मैं मनुष्य हूँ' यह मूल-अध्यास है। आकृतिनिष्ठ मनुष्यत्व भौतिकवादियोंका अध्यास है और धर्मनिष्ठ मनुष्यत्व अध्यात्मवादियोंका अध्यास। कहा भी है:

मानुषे सुमहाराजा धर्माधर्मौ प्रवर्ततः।

नामोंका यह क्रम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। थोड़ा अपने आध्यात्मिक नामोंपर भी विचार करें।

मान लें कि आपका नाम 'ज्ञाता' है। आप नेत्रसे मिलकर रूपके ज्ञाता होते हैं, कानसे मिलकर शब्दके, त्वचासे मिलकर स्पर्शके, रसनासे मिलकर रसके और नाकसे मिलकर गंधके ज्ञाता होते हैं। इन्हीं ऐन्द्रियक उपाधियोंको दृष्टिमें रखकर श्रुति आपको, आत्माको, द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता आदि बताती है: **एष हि श्रोता, मन्ता, द्रष्टा, घ्राता**···। जैसे जब आप कैंचीसे कपड़ा काटनेपर दर्जी कहलाते हैं, चाकूसे सब्जी काटते हैं तो रसोइया और कलमसे लिखते हैं तो लेखक, परन्तु वास्तवमें आप न दर्जी हैं, न रसोइया और न लेखक, इसी प्रकार आत्मा करणोंकी उपाधिसे ही श्रोता, मन्ता, द्रष्टा आदि बनता है, स्वरूपसे वह यह सब कुछ नहीं है।

इन्द्रिय-सापेक्ष धर्मको जब आत्मा अपनेमें आरोपित कर लेता हैं तो इसीका नाम 'अध्यास' हो जाता है। ज्ञातापना मिथ्याज्ञान है। ज्ञाता इन्द्रियोंसे मिलता रहता है, परन्तु चैतन्य एकरस रहता है। यह **इतरेतर-प्रकाश-निरपेक्ष** है, अर्थात् नेत्र तो सूर्यके प्रकाशमें ही देखते हैं, किन्तु यह आत्मदेव बिना यंत्रके स्वयं प्रकाश बने रहते हैं; क्योंकि यह चेतन है। गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं :

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

(गीता १३.२२)

'इस देहमें यह आत्मा परमपुरुष है, उत्तमपुरुष है, पुरुषोत्तम है, और परमात्मा है, ऐसा कहा जाता है। कौन आत्मा है? जो उपाधिसे उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर हैं—वही, कोई अन्य नहीं।'

अच्छा तो हम आपका नाम 'चेतन' अर्थात् जाननेवाला रखे देते हैं। निश्चय ही चेतन शब्द जड़से व्यावर्तन करता है; परन्तु क्या आप जाननेवाले हैं? जरा आप अपने उस स्वरूपपर ध्यान दीजिये जो बदलती दुनियामें केवल जाननामात्र है, जाननेवाला नहीं। जाननेवाला ज्ञानी होता है, ज्ञान नहीं। जैसे धनसे पृथक् धनी होता है, वैसे ही ज्ञानसे पृथक् ज्ञानी होता है। जो ज्ञानसे पृथक् होता है, वह ज्ञानी भी अज्ञानी ही है। श्रुतिका वचन है :

अविज्ञातं विजानताम्, विज्ञातमविजानताम्। (केन० २.३)
नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। (केन० २.२)

आशय यही है कि ब्रह्म ज्ञान अथवा अज्ञानका विषय या अभिमानी नहीं होता, वह केवल ज्ञानमात्र है। चेतन न कर्ता है और न भोक्ता, न मन्ता है और न ज्ञाता। इन्द्रियोंकी उपाधि और प्रकाशके विषय-विषयीभावका निरसन कर देनेपर जो दृङ्मात्र चेतन है, वही आपका स्वरूप है।

जो दृश्यको 'मैं, मेरा' मानता है, वही अज्ञानी है। दृश्य, जैसे यह चश्मा, अज्ञानरूप है; क्योंकि इसे न अपना ज्ञान है और न मेरा—अपने प्रकाशकका। इस अज्ञानरूप चश्मेको जो 'मैं या मेरा' कहें, वही अज्ञानी है।

आपका एक नाम 'नित्य' भी हो सकता है। किन्तु यह भी आपको कालसे परे नहीं पहुँचाता। काल स्वयं प्रवाहरूपसे अनादि-नित्य है। अतः 'नित्य' नाम आपका कालसे व्यावर्तन नहीं करता और आपको ब्रह्म नहीं लखाता। इसी प्रकार आपका 'व्यापक' अथवा 'कारण' नाम भी उपयुक्त नहीं है। देश भी व्यापक है और कारण भी अनेक होते हैं। दूसरे, कारणका प्रकाशक तो चैतन्य होता है, किन्तु चैतन्यमें कारणता नहीं होती।

आप देश, काल, वस्तुके प्रकाशक अधिष्ठान हैं, किन्तु स्वयंमें न देश हैं, न काल और न कोई वस्तु। इनके परिवर्तनमें, कार्य-कारणभावमें, सर्वत्र, सर्वदा आप विराजमान हैं। अतः आपके ये सब नाम भी अध्यसित हैं।

आपका नाम 'जीव' भी नहीं है और 'ईश्वर' भी नहीं है। परिच्छिन्न देश-काल-वस्तुको मैं माननेवाला चेतन जीव कहलाता है तथा सम्पूर्ण देश-काल-वस्तुकी समष्टिको मैं-रूपमें प्रकट करनेवाला चैतन्य 'ईश्वर' कहलाता है। उपाधिको 'मैं-मेरा' माननेवाले चेतनको उपासक 'जीव' कहते हैं और काश्मीरी शैव 'ईश्वर' कहते हैं तथा सांख्य 'पुरुष' कहता है। वेदान्ती लोग उसी

चेतनको 'ब्रह्म' कहते हैं जो सम्पूर्ण उपाधियोंका अधिष्ठान एवं प्रकाशक है।

अन्तमें, आपका नाम 'ब्रह्म' हो सकता है, इसपर विचार करें। ब्रह्म वह सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, स्वयं-प्रकाशक चैतन्य है जिसमें अन्यकी गुंजाइश ही नहीं है। तब यदि व्यावर्तन अपेक्षित हो तो वह सहज ही परिपूर्ण है और यदि आवश्यक न न हो (स्वरूपमें), तो वह स्वयं व्यावर्तनका भी अधिष्ठान है। ब्रह्म वह चैतन्यघन, ठसाठस ठोस चैतन्य है जिसमें सुईकी नोकके बराबर भी अवकाश नहीं है; अवकाश जिसमें कल्पित है और जिसके द्वारा प्रकाशित है और जिसमें न क्षण है, न कण, प्रत्युत क्षण और कणकी कल्पनाका जो प्रकाशक-अधिष्ठान है।

आपका यह 'ब्रह्म'-नाम आपके परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्तिके निवारणके लिए रखा गया है। इस 'ब्रह्म' नामकी वही व्यावहारिक-सत्ता है, जो आपके 'अल्पत्व या परिच्छिन्नत्व'की है। अतः इसका काम केवल भ्रम-निवारण है, आपमें किसी लम्बी-चौड़ी अनादि-अनन्त अन्य सत्ताका अध्यारोप नहीं। अतः 'मैं ब्रह्म हूँ' यह धारणा 'मैं अमुक हूँ' इस धारणाके सदृश होते हुए भी साधन-अध्यास है; क्योंकि ब्रह्म कोई 'मैं' से भिन्न सत्तावाला न होनेसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस साधन-अध्यासकी निवृत्ति 'मैं' में ही, 'मैं' रूप ही होती है।

अविद्या-निवृत्तिके पश्चात् आपके 'ब्रह्म' नामका कोई प्रयोजन नहीं रहता। अतः आप इस ब्रह्म-नामका भी संन्यास कर सकते हैं; क्योंकि जो 'मैं' निषेधावधिके रूपमें शेष रहता है, वह परमार्थ-सत्ता है और परमार्थ-सत्तामें नाम-रूपका व्यवहार नहीं होता। वहाँ न सहयोग है, न विरोध। जड़ता और द्वैत नष्ट हो गया, बाधित हो गया। अब मिथ्या सर्पपर लाठी मारनेकी कोई आवश्यकता नहीं रही।

सभी नाम औपाधिक होते हैं और उपाधि अनृत होती है। उपाधि जिसमें दीखती है, वह चेतन सत्य है। प्रकाशकतामात्र सत्य है। प्रकाश्यता सत्य नहीं है। उपाधि जिस अधिष्ठानमें दीखती है, उसीकी वह अन्यथा प्रतीति करा देती है—अज्ञानसे अथवा मिथ्याज्ञानसे। परन्तु इस अन्यथाप्रतीत अध्यासमें है सत्य और अनृतका मेल। 'मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य' का यही आशय है।

लोग कहते हैं कि परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अध्यास सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञानस्वरूपमें अज्ञानकी स्थापना तथा असंग ब्रह्ममें अनात्माका अध्यारोप दोनों सम्भव नहीं हैं। इसपर अद्वैती कहते हैं कि अध्यास और अज्ञान तो अद्वैतपक्षमें भी विचार करनेपर सिद्ध नहीं होते। किन्तु अज्ञान और अध्यासका कार्य रहते उनकी सत्तासे, प्रातिभासिक ही सही, कोई इनकार भी नहीं कर सकता। तत्त्वज्ञान हो जानेपर अध्यास न मालूम पड़ना ज्ञानका भूषण है, दूषण नहीं। किन्तु तत्त्वज्ञानसे पूर्व उसकी सत्ताको अस्वीकार करना मानो ब्रह्म-विचारका द्वार ही बन्द कर देना है।

अविद्यायाः अविद्यात्वम् इदमेव हि लक्षणं यद् विचारासहिष्णुत्वम्।

वास्तवमें अपने बारेमें हमारी जो भी मान्यता है, अर्थात् हमारा जितना स्वरूपाध्यास है, वह सब अविचारसे सिद्ध होता है और विचारसे मिथ्या-निश्चय होता है। पंचभूतोंके ढेरका नाम 'देह' होता है। उसी देहमें मनुष्य पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े और दैत्य-दानवोंकी नाना आकृतियाँ ठीक वैसे ही गढ़ी जाती हैं, जैसे स्वर्णमें नाना आभूषणोंकी आकृतियाँ गढ़ी जाती हैं, अथवा लकड़ी या पत्थरमें मूर्तियाँ गढ़ी जाती हैं। ये आकृतियाँ न कार्य हैं, न कारण; क्योंकि सांख्यके अनुसार प्रकृति आदिम तथा अन्तिम

कारण है, पंचमहाभूत अन्तिम कार्य हैं और इनके बीचके महत् आदि तत्व कारण और कार्य, दोनों हैं।

ये मनुष्यादि-आकृतियाँ तो वाचारम्भणमात्र हैं, सत्य तो पंचमहाभूतरूप मृत्तिका ही है, जिसका ढेर प्रत्येक शरीर है। **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** यह श्रुतिका प्रसिद्ध वचन ही है। परन्तु उसी देहमें हमें 'मैं मनुष्य हूँ' यह भ्रान्ति हुई है। आकृतिमें हेतु बताते हुए महात्माजन कहते हैं कि वासनावान् अन्तःकरणकी उपस्थितिसे ही पंचभूत इकट्ठे हो जाते हैं, जैसे लोहेके चूर्णमें चुम्बककी उपस्थितिमात्रसे अनेक-अनेक आकृतियाँ बन जाती हैं।

यदि आप 'मैं मनुष्य हूँ' इस धारणाको हटाकर 'मैं पंचमहाभूतोंका ढेर हूँ' इस अध्यासको स्थापित करें अथवा पंचमहाभूतोंमें भी 'मैं पृथ्वी हूँ, मैं जल हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं वायु हूँ, मैं आकाश हूं' ये अलग-अलग धारणा करें, तो देखेंगे कि आप भौतिक स्तरपर ही अल्पता, परिच्छिन्नतासे युक्त हैं। आप अनुभव कीजिये कि आप यह नाक, कान, आँख, आकृतिवाले मनुष्य नहीं हैं, वरन् पृथ्वीमात्र है! आप यह अनुभव कीजिये कि आप यह लाल-लाल खून नहीं हैं, बल्कि जलमात्र हैं। आप घर्ममित्र (थर्मामीटर) से नापो जानेवाली अथवा नाड़ीगत उष्मा नहीं हैं, अपितु उष्मामात्र हैं। आप साँस नहीं, वायुमात्र हैं। आप सब शरीरोंमें अखण्ड आकाश हैं! तनिक अनुभव कर देखिये तो! क्या इस आकाश-चिन्तनमें हिन्दुत्व, मनुष्यत्व, प्राणित्व, जीवत्व, अजीवत्व, अपना-पराया कुछ शेष रहता है? सब मान्यताओंमें मानो आग ही लग जाती है। जब भौतिक स्तरपर तत्त्व-दृष्टिका यह परिणाम है, तो भौतिक-अभौतिक, जड़-चेतन, सबका जो एक अधिष्ठान तत्त्व है, उस स्तरपर कोई भेद, परिच्छिन्नता, भय, शोक, अज्ञान या मोह कहाँ शेष रहेगा?

हम विना विचारे ही सब कुछ मानते हैं। शास्त्र कहता है कि आप चेतन अद्वितीय ब्रह्म हैं। आपका प्रत्यक्ष-ज्ञान कहता है कि आप मरने-जीनेवाले कर्ता-भोक्ता मनुष्य हैं। इन दोनोंमें कौन बड़ा है, यह विचारसे सिद्ध होगा। अतः ब्रह्म-विचार करना चाहिए।

आप कहेंगे कि बाबाजी लोग तो शास्त्रको ही बड़ा बतायेंगे। परन्तु बाबाजीके गुरु आद्यशंकराचार्यने प्रत्यक्षके बारेमें क्या लिखा है, तनिक यह भी तो देखिये :

नहि श्रुतिशतैरपि घटः पटं कर्तुं शक्यते।

अर्थात् 'सौ वेदमंत्र भी यदि घटको पट कहें तो भी प्रत्यक्षके विरुद्ध होनेसे वेद प्रमाण नहीं होगा।' बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञान शब्द, स्पर्श, रूप, रूप, रस, गंधके विषयमें होता है, स्थूल-परिच्छिन्न विषयविषयक होता है, अपरिच्छिन्न वस्तुविषयक नहीं। आप प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा कालकी आयु और देशका दैर्घ्य-विस्तार नहीं नाप सकते। सचाई यह है कि आत्माके अज्ञानसे ही देश-काल सच्चे मालूम पड़ते हैं और आत्माके ज्ञानसे ही ये बाधित होते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण व्यावहारिक वस्तुके बारेमें प्रमाण होते हैं, परमार्थ-वस्तुके बारेमें नहीं। जिस प्रमाणसे पैसा, स्त्री, स्वाद मिलता है उस प्रमाणसे परमार्थ नहीं मिलता।

एक ज्ञान होता है पुरुषकी इन्द्रियोंसे सिद्ध; उसे पौरुषेय ज्ञान या विषय ज्ञान कहते हैं। परन्तु पौरुषेय ज्ञानमें चार दोष हो सकते हैं : भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव। ज्ञाताकी बुद्धिमें भ्रम हो सकता है; क्योंकि उसका ज्ञान कभी बाहर जाता है तो कभी भीतर। यह बाहर-भीतरका भ्रमण ही भ्रम उत्पन्न करता है। ज्ञानकी क्रियामें ज्ञाताका प्रमाद हो सकता है। ज्ञानके प्रयोजनमें ठगी (विप्रलिप्सा) हो सकती है, जिसके परिणाम-स्वरूप ज्ञाता जाने कुछ और बताये कुछ! अथवा ज्ञानके करण

इन्द्रियादिकी अशक्यता (करणापाटव) हो सकती है, जिससे वे सीमित ज्ञान ही ग्रहण कर सकती हैं। (जैसे नेत्र अतिदूरकी वस्तु नहीं देख सकते अथवा एक ही वस्तुको देरतक नहीं देख सकते, वैसे ही पौरुषेय ज्ञान सदैव निर्दोष नहीं होता।

दूसरा ज्ञान होता है प्रमाताका ज्ञान। वह किसी इन्द्रियसे सिद्ध नहीं हो सकता। सारे परिच्छिन्न पदार्थ साक्षीभास्य होते हैं, परन्तु साक्षी न इन्द्रियोंसे भास्य होता है और न स्वयंसे भास्य होता है। अतः साक्षोके बारेमें प्रत्यक्षादि पौरुषेय-ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। उसके सम्बन्धमें तो अपौरुषेय वेद-ज्ञान ही प्रमाण होता है। अपनी मुट्ठोमें जितने पौरुषेय-ज्ञानके साधन हैं, उनको छोड़कर देखो तो आप ज्ञानमात्र हैं। ज्ञानमें ज्ञाता-ज्ञेयके तिरस्कारकी महावाक्यजन्य प्रज्ञा ही अपौरुषेय प्रमाण है। आप देखेंगे कि आप ऐसे ज्ञानमात्र हैं, जिसमें कालकी दाल नहीं गल सकती, देश प्रदेश नहीं बन सकता और द्रव्य नव्य आकार ग्रहण नहीं कर सकता।

आप अद्वितीय चेतन ब्रह्म हैं, यह अपौरुषेय ज्ञानका उद्घोष है और आप संसारी जीव हैं, यह प्रत्यक्ष ज्ञानका निर्णय है। विचारसे सत्यका ज्ञान होता है और उसीसे अज्ञानजन्य अध्यास निवृत्त होता है। अतः ब्रह्म-विचार करना चाहिए।

अन्तमें अज्ञानके बारेमें कुछ भ्रान्तियोंकी निवृत्ति आवश्यक है :

१. **अज्ञानका कोई कारण नहीं होता :** एकबार एनीबेसेंटसे यह प्रश्न पूछा गया था कि अज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? उन्होंने उत्तर दिया था कि अज्ञानकी कोई पाठशाला नहीं होती; वह तो बना-बनाया आता है। अज्ञानकी सिद्धिके लिए प्रयत्न नहीं किया जाता। उसकी निवृत्तिके लिए ही प्रयत्न किया जाता है।

२. अज्ञान अनादि और सान्त होता है : यदि अज्ञानकी कहीं आदि मानी जाय तब तो अज्ञान होता ही नहीं। मान लें, आपको यह ज्ञान है कि 'मैं आत्माको अमुक तिथिसे नहीं जानता।' इसका यह अर्थ हुआ कि आपको आत्माका अज्ञान नहीं है। इसी प्रकार यह साधारण अनुभव है कि अज्ञान समझदारी और सीखनेसे नष्ट हो जाता है।

३. अज्ञान जान लेनेमात्रसे नहीं मिटता : कारण यदि आप लंदनके किसी व्यक्तिको (मान लें स्मिथको) नहीं जानते और आपको इस अज्ञानकी जानकारी है, तो यह जानकारी मात्र स्मिथका अज्ञान नहीं मिटा सकती। आश्रय और विषयसहित अज्ञानकी जानकारीसे अज्ञान मिटता है। इसी प्रकार 'मुझे ब्रह्मका अज्ञान है' इस स्थितिमें अज्ञानके आश्रय और विषय 'ब्रह्म' के ज्ञानसहित अज्ञानके ज्ञानसे अज्ञान नष्ट होगा।

४. अज्ञान न सत्य है, न असत्य; अपितु सदसत्से विलक्षण, अनिर्वचनीय है : इसका विवरण दिया जा चुका है।

५. अज्ञान ज्ञानका अभाव नहीं भावरूप है : कारण यह है कि अभाव किसीका आवरण या अवरोध नहीं कर सकता, जब कि अज्ञान आत्माके ब्रह्मत्वका आवरण करता है।

(३-३)

अध्यास की स्थापना : २

प्राचीन विद्वानों एवं महात्माओंकी मान्यता है कि लक्षण और प्रमाण दोनोंसे ही किसी वस्तुकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं :

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः इति प्राचां वचनम् ।

अतः कोई भी वस्तु पहचाननेके लिए लक्षण और प्रमाण दोनों चाहिए। यहींसे 'दर्शनशास्त्र' प्रारम्भ होता है। जैसे आपको पृथ्वीको पहचानना है, तो उसका लक्षण है गंध और उसके लिए प्रमाण (प्रकाशक करण) है नासिका।

गन्धवत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम् ।

'गन्धवती होना पृथ्वीका लक्षण है'। यह गंध नासिकासे मालूम पड़ती है, अतः गंधमें नासिका प्रमाण है। नासिकासे जहाँ-जहाँ गंध मालूम पड़े, सर्वत्र समझना चाहिए कि पार्थिवांश उपस्थित है। इसी प्रकार जलका लक्षण है रस और प्रमाण है रसना (जिह्वा)। अग्निका लक्षण है रूप और प्रमाण हैं नेत्र। वायुका लक्षण है स्पर्श और प्रमाण है त्वचा। आकाशका लक्षण है शब्द और प्रमाण हैं श्रोत्र। ये ही पाँचों तत्त्व 'पंचीकृत' होकर या 'अपंचीकृत' रहकर संसारकी सभी दृश्य-अदृश्य वस्तुओंका निर्माण करते हैं। अतः संसारकी सभी वस्तुओंके ज्ञानकी यही

प्रणाली है कि वे लक्षण और प्रमाण (इंद्रियों या ज्ञानकरणों) दोनोंसे ही पहचाने जाते हैं।

यहाँतक कि जो 'वस्तु' नहीं है, उसका भी हम लक्षण बना लेते हैं।' जैसे : जहाँ वस्तु दीखती हो उसका वहीं न होना; अथवा अपने अधिष्ठानके ज्ञानसे मिथ्या सिद्ध हो जाना; अथवा ज्ञानसे निवृत्त हो जाना; अथवा अपने ज्ञानके लिए दूसरोंकी अपेक्षा रखना (दृश्यत्व); अथवा परिवर्तनशील होना; अथवा प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव होना, आदि। ये सब वस्तुके न होनेके लक्षण हैं।

अब यदि किसी वस्तुका लक्षण अथवा प्रमाण न हो, तो क्या वह वस्तु होती ही नहीं ? संसारके बारेमें, अपनेसे अन्य वस्तुओंके बारेमें तो यही स्थिति है। किन्तु तनिक उस वस्तुकी ओर ध्यान दीजिये जिसका हमारे महान् पुरुषों, सत्पुरुषोंने वर्णन किया है तथा जिसका न कोई लक्षण है और न प्रमाण। उसे माण्डूक्योपनिषद्के ऋषिने कहा है :

अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः।

(माण्डूक्य०, ७)

लक्षणमें व्यावर्तन करनेकी क्षमता होनी चाहिए। किन्तु जो अद्वितीय तत्त्व है, जिससे कोई अलग नहीं और जो किसीसे अलग नहीं, उसमें लक्षणकी गुंजाइश कहाँ है ? उसका तो 'अलक्षण' ही लक्षण है। 'अलक्षणम्' में लक्षण और लक्षणा सभीका निषेध है। यह वस्तु आपका आत्मा 'मैं' ही है। श्रुति इसी आत्माको ब्रह्म बताकर 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि लक्षणोंसे अतीत यानी 'अलक्षणम्' घोषित करती है।

आत्माके लिए प्रमाणकी भी आवश्यकता नहीं है। सुननेमें यह बात तर्कशील महानुभावोंको बड़ी विलक्षण लगेगी कि कोई वस्तु ऐसी बतायी जा रही है, जिसका न कोई लक्षण है और न प्रमाण, साथ ही वह है भी! बात विलक्षण होते हुए भी सच्ची है। आपके स्वयंके होनेमें किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। विषयका होना, न होना; इन्द्रियोंका होना, न होना, मंद होना; वृत्तियोंका होना, न होना और विरुद्ध होना; यहाँतक कि वेदका होना, न होना और विवादग्रस्त होना—ये सब आप द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। आपकी सिद्धिके बिना प्रमाण भी सिद्ध नहीं होते।

आप वेदके बारेमें आश्चर्य न करें कि वेद भी कभी 'नास्ति'को प्राप्त हो जाते हैं। स्वयं वेदमें ही लिखा है कि अमुक-अमुक स्थानोंपर वेद नहीं रहते :

तत्र माता अमाता भवति, पिता अपिता भवति,
देवाः अदेवा भवन्ति, वेदाः अवेदा भवन्ति।

"गाढ़सुषुप्ति-अवस्थामें माता अमाता हो जाती है, पिता अपिता हो जाता है, देवता अदेवता हो जाते हैं और वेद अवेद हो जाते हैं।'

वृत्तिकी उदित-अवस्थामें ही वेदकी सिद्धि है, वृत्तिकी लय-अवस्थामें नहीं। तब प्रमाणका क्या अर्थ हुआ?

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज हम लोगोंको समझानेके लिए यह श्लोक बोला करते थे :

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिद्ध्यन्ति तत् सिद्धौ किमपेक्ष्यते॥

'प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा—जिस आत्मचैतन्यसे सिद्ध होते हैं, उसकी सिद्धिके लिए किस प्रमाणकी आवश्यकता है?'

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको ही 'प्रमाता' कहते हैं, प्रमाता नामक कोई स्वतंत्र जीव नहीं होता। अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न चैतन्य एक ही हैं, अर्थात् आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं, यही सिद्धान्त है। अवच्छेद और अवच्छेद्य दोनों ही अनवच्छिन्नमें ही भासमान होते हैं। यही अनवच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है। उसके लिए प्रमाणकी कोई आवश्यकता नहीं।

प्रमाण भी दो तरहके होते हैं: एक वह, जो सुनकर बताता है और दूसरा वह, जो देखकर बताता है। इनमें जो देखकर बताता है, वह सुनकर बतानेवालेकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक माना जाता है। वेदमें इसका वर्णन है।

फौजदारी अदालतकी भाषामें इसे 'चश्मदीद गवाह' कहते हैं। चश्मदीदका अर्थ है, प्रत्यक्ष-दर्शी अर्थात् जिसने प्रत्यक्ष अपनी आँखोंसे घटनाको देखा है। अदालतमें दूसरा सहयोगी प्रमाण 'लिखंत' अर्थात् दस्तावेज भी माना जाता है। लिखंत और चश्मदीद गवाह मिलकर किसी परोक्ष घटना या वस्तुके सम्बन्धमें प्रमाण माने जाते हैं।

इसके विपरीत संसारमें एक वस्तु ऐसी है, जो सम्पूर्ण देखने-वाले करणोंके पीछे बैठा रहती है, जो देखी नहीं जाती। जो सब अनुभवोंके पहले था और पीछे रहेगा और जो सब अनुभवोंका अन्तरंग स्वात्मा है, वह अनुभवका विषय नहीं है। तब उसका न तो लक्षण बनेगा और न प्रमाण।

काशीमें एक शास्त्रार्थ हुआ। उसमें विचारका विषय था: 'प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है अथवा प्रमेयसे प्रमाणकी सिद्धि?' सर्वसाधारण तो यही जानते हैं कि प्रमाणसे प्रमेयकी

सिद्धि होती है। किन्तु आखिर प्रमाण क्या है? जो अबाध्य प्रमेयका दर्शन कराये, वही तो। फिर प्रमेयके अबाध्यत्वका बोध कैसे होगा? पहले प्रमेयके अबाध्यत्वका बोध होगा या पहले प्रमाणके प्रमाणत्वका—यही विचारका विषय था उस शास्त्रार्थमें। उस शास्त्रार्थके निर्णयसे हमें कोई मतलब नहीं। हमें तो इस विषयमें वेदान्तके दृष्टिकोणसे विचार करना है।

वेदान्त मानता है कि जो वस्तु प्रमाणसे सिद्ध होती है, वह दृश्य होती है। अर्थात् प्रमेय व्यावहारिक है तथा जिस प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है, वह प्रमाण भी व्यावहारिक है। इस प्रकार प्रमाण, प्रमेय और इनका समूचा व्यवहार व्यावहारिक सत्तामें है (त्रिसत्तावादकी दृष्टिसे) अथवा प्रातिभासिक सत्तामें (एक जीववादकी दृष्टिसे)। किसी भी दृष्टिसे पारमार्थिक सत्तामें ये प्रमाण, प्रमेय और इनका व्यवहार नहीं है। परमार्थ-सत्ताका स्पर्श भी ये नहीं करते। यदि प्रमेयका यथार्थबोधकत्व प्रमाणका प्रमाणत्व है, तो प्रमाणका विषयत्व ही प्रमेयका प्रमेयत्व है। इस प्रकार प्रमाण और प्रमेय दोनों सापेक्ष सिद्ध हैं। किन्तु वेदान्त जिस वस्तुका वर्णन करना चाहता है, वह न तो प्रमाण-सापेक्ष प्रमेय है और न प्रमेय-सापेक्ष प्रमाण। प्रमाण और प्रमेय दोनों जिससे सिद्ध होते हैं, वह आत्म-तत्त्व वेदान्तकी विषय-वस्तु है।

यहाँ दो प्रश्न उठ खड़े होते हैं: (१) यदि वेदान्तका प्रतिपाद्य प्रमाण और प्रमेय नहीं, तब इनका बखेड़ा वेदान्तमें है ही क्यों? (२) क्या वेदान्त-प्रतिपाद्य आत्मवस्तु प्रमाण और प्रमेयकी अपेक्षा कोई तीसरी है?

श्रुति आत्मतत्त्वका निरूपण **नेति-नेति** द्वारा करती है। 'नेति-नेति' का अर्थ है 'यह नहीं है, यह नहीं है'। इसमें जो

'इति इति' है, वह सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारका वाचक है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जीव, जगत्, आदिका जो प्रमेय-जाल है, वह आत्मा नहीं—यह प्रथम 'नेति'का तात्पर्य है। द्वितीय 'नेति'में जो इति है, वह सम्पूर्ण प्रमाण-जालका वाचक है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द, ऐतिह्य, संभव, चेष्टा आदि समस्त प्रमाण आत्मा नहीं है। वेदान्तमें जो प्रमाण-प्रमेयका बखेड़ा है, वह प्रमाण-प्रमेयके निरूपणके लिए नहीं; यही बतानेके लिए है कि निषेध किन-किनका करना है। प्रमाण-प्रमेयके व्यवहारमात्रके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो आत्मस्वरूप है, वह यथार्थ सत्य है और वही परमार्थ है। इस प्रकार आत्मा प्रमाण-प्रमेयकी अपेक्षा कोई अत्यन्त विविक्त तीसरी वस्तु नहीं, बल्कि प्रमाण-प्रमेयकी समूची व्यावहारिक सत्ताका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण, उसका प्रकाशक अधिष्ठान है—यह वेदान्तका वर्णन है। आत्माके स्वरूपबोधकी व्यतिरेक-प्रक्रियाके रूपमें **नेति-नेति** श्रुति-वाक्यका उपयोग है तथा अन्वय-दृष्टिके अनुवादके रूपमें **आत्मैवेदं सर्वम्** आदि श्रुतिमन्त्र हैं।

अब आप आत्माके **अलक्षणम्, अप्रमेयम्** लक्षण-प्रमाणपर ध्यान दीजिये। आत्माका यही एक लक्षण है या उसका कोई लक्षण नहीं है और यही एक प्रमाण है या उसका कोई प्रमाण नहीं है।

आप डरें नहीं कि हम आपको लक्षण-प्रमाणके निषेधकी बात बताते हैं और बार-बार केवल श्रुतिका नाम लेते हैं। सत्य यह है कि आत्मा केवल श्रुति द्वारा ही गम्य है; क्योंकि वह आपका स्वरूप ही है और केवल अज्ञानसे ही अप्राप्त है। अज्ञानसे जो वस्तु अप्राप्त होती है, वह पहलेसे ही प्राप्त होती है; केवल यथार्थ अपरोक्ष श्रवण द्वारा ही उसमें ज्ञातता उत्पन्न हो जाती

है। इस श्रवणमें अनात्माका निषेध ही मुख्य प्रक्रिया है। श्रुति-सरीखा ऐसा कौन निषेधक है जो प्रमाण-प्रमेयके सम्पूर्ण अनात्म-व्यवहारके निषेधके साथ-साथ स्वयं अपना भी निषेध कर दे! यदि कहो कि हम 'अहं' से ही निषेध कर लेंगे, तो अपने निषेधक 'अहं' का निषेध नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि हम अपने आप ही निषेध कर लेंगे, तो स्वयं कर्ता बनकर रह जायँगे। सच्चा परमार्थ तो तभी उपलब्ध हो सकेगा, जब श्रुतिके अनुसार 'नेति-नेति' द्वारा वेदान्तका विचार करेंगे।

अब अध्यासकी बात देखिये। अध्यास प्रमाता और प्रमेयका परस्पर आरोप है। प्रमेयपर चढ़ बैठा प्रमाता और प्रमातामें घुस गया प्रमेय! **अहमिदम्** में 'अहं' प्रमाता है और 'इदं' है प्रमेय। बौद्ध कहते हैं कि 'अहं और इदं' दोनों मिथ्या हैं, तो वेदान्त कहता है: 'अहं सत्य है और इदं मिथ्या'। 'इदम्' 'अहम्' से भिन्न मालूम पड़ता है, परन्तु वह अपनेमें ही मालूम पड़ता है, केवल प्रतिभासमात्र है और इसीलिए मिथ्या है।

अध्यासका निमित्त है मिथ्याज्ञान—**मिथ्याज्ञाननिमित्तः**। ज्ञानका मिथ्यात्व क्या है? ज्ञानका अध्यस्तत्व ही उसका मिथ्यात्व है।

ज्ञानका 'अध्यस्तत्व' क्या होता है? आप अपने ज्ञानके दो भेद कर लीजिये: १. व्यष्टि देश, काल, वस्तुके स्फुरणके रूपमें और २. समष्टि देश, काल, वस्तुके स्फुरणके रूपमें। ज्ञान एक है, पर व्यष्टि-उपाधिसे उसीकी संज्ञा 'जीव' है और समष्टि-उपाधिसे उसी ज्ञानकी संज्ञा है 'ईश्वर'। इन जीव और ईश्वरमें जो एक, सत्य, निरुपाधि ज्ञान है; जो इन उपाधियोंका प्रकाशक अधिष्ठान है, किन्तु जो इन उपाधियोंसे विलक्षण है, वही शुद्ध ज्ञान है। उसी शुद्ध ज्ञानको 'ब्रह्म' भी कहते हैं। इस शुद्ध-ज्ञानमें

देश-काल-वस्तुका कोई प्रवेश नहीं है। ज्ञान जब जीव या ईश्वर-रूपमें स्फुरित होता है, तब वह अध्यसित रूपमें होता है। अन्यथा वह ज्ञान शुद्ध ज्ञान रहता है। ज्ञानका अध्यसित रूप उपाधिसे तादात्म्यरूप अध्यासका परिणाम होता है, अतः वह मिथ्या होता है। किन्तु निरुपाधि-ज्ञान अबाधित रहता है, अतः वह सत्य है।

ज्ञानके ये दो भेद क्यों किये? इसीलिए कि आप अपनी वृत्तिमें समष्टिको लेनेमें असमर्थताका अनुभव करते हैं। 'मनुष्योऽहम्' (मैं मनुष्य हूँ) यह अध्यास आपके साथ जुड़ गया है न, इसीसे व्यष्टि-समष्टि, जीव-ईश्वरका भेद करना पड़ता है। अध्यास ही इसका मूल है। यदि आप अपनेको देश, काल, कर्म, संस्कारके उपादानभूत अज्ञान, प्रधान अथवा अव्याकृतके साक्षी-अधिष्ठानके रूपमें देख सकें, तब तो आपमें अज्ञान और उसका परिवार है ही नहीं। तब आपको ज्ञानका भेद करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु यदि आप यह समझते हैं कि आप इसी देहमें हैं, तब जो यह विशालता देहसे बाहर दीख रही है उसके अधिष्ठानके रूपमें, उस स्थितिमें इसके आश्रय और संचालकके रूपमें ईश्वरकी स्थापना अनिवार्य है। यदि ईश्वर सर्वदेश, सर्व-काल और सर्ववस्तुमें है, तो वह आपके व्यष्टि देश, व्यष्टि काल और व्यष्टि वस्तुमें भी है। इसका अर्थ यह है कि या तो 'भामती'-कारके समान अविद्या (अज्ञान) के दो रूप मानें—कारण-अविद्या जो ईश्वरमें रहती है और कार्य-अविद्या, जो जीवमें; अथवा 'विवरण'कारके समान अविद्याका एक ही रूप मानें, जिसका आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म हैं। फिर भी प्रत्येक दशामें ज्ञानके विषयगत भेदोंका हेतु अपने ब्रह्मत्वका अज्ञान ही ठहरता है। जब हम अपनेको ब्रह्मरूपमें (शुद्ध ज्ञानरूपमें) देखते हैं, तो

अज्ञानकी भित्तिपर खड़ा यह भेदका महल तुरन्त धराशायी हो जाता है।

संसारके छोटे-बड़े समस्त-ज्ञान 'मैं' को होते हैं, इसमें न कोई शंका है और न विवाद। जीवत्व और ईश्वरत्व, अल्पत्व और भूमात्व—सभी ज्ञानोंका आश्रय 'मैं' ही है। अल्प-कर्तृत्व, अल्प-भोक्तृत्व और अल्प-ज्ञातृत्वका अनुभव सबको नहीं होता। क्या आपको यह मालूम पड़ता है कि देश, काल, वस्तु सब मेरे ज्ञानसे ही पैदा हुए हैं? क्या आपको यह अनुभव होता है कि यह प्रवाही काल—जिसमें भूत, भविष्य, वर्तमान और इनकी संधियाँ हैं, यह अनन्त विस्तारवाला देश—जिसमें बाहर-भीतर, पास-दूर और इनकी संधियाँ हैं, तथा ये सब वस्तुएँ—पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे, सब मेरी वृत्तिके विलास हैं?' यदि आपके अनुभवमें विचार-से यह सब कुछ आता है, तो आपमें ईश्वरका अवतरण हो चुका है और आपके अज्ञानका पर्दा फट चुका है। आप और ईश्वर एक हैं। वेदान्त इस अनुभवको, इसमें कारणताका निषेध कर, समरसता प्रदान कर देता है; आपमें संस्कारित जीव और ईश्वरके भेदका नाश कर देता है: **तत्त्वमसि**। ज्ञानी और अज्ञानीकी उपमा विद्वानोंने कौआ और उल्लूसे दी है:

काकोलूकनिशेवालं संसारो ज्ञात्मवेदिनोः।

एक आँखवाला कौआ उल्लूके पास गया। सूर्य चमक रहा था। कौआ बोला: 'क्या उजाला है!' उल्लू बोला: 'कहाँ है उजाला, चारों ओर अंधेरा ही तो है? रात हुई।' अब उल्लू बोला: 'क्या उजाला है!' कौएने कहाँ: 'कहाँ है उजाला? चारों ओर तो अंधेरा है!' बात क्या थी कि कौआ तो सूर्यके प्रकाशको और उसमें प्रकाशित वस्तुओंको देखता था, परन्तु

उल्लू प्रकाश ही नहीं देख पाता था, फिर अन्य वस्तुओंको बात ही क्या ?

ज्ञानी काग-भुशुण्डि है। वह आत्माके प्रकाश एवं उसके प्रकाशमें उसीसे आलोकित वस्तुओंको यथावत् देखता है। किन्तु अज्ञानी उल्लूके समान न अपनेको जानता है और न अन्यको ही।

जिसने 'अलक्षणम्, अप्रमेयम्' आदिसे अपनेको ब्रह्म जान लिया, उसके लिए अविद्या और उसके साथ रहनेवाली सभी वस्तुएँ कुछ नहीं रह जातीं। जीवनके सब दुःख एक साथ सदैवके लिए उससे विदा हो जाते हैं। भवरोगकी अद्भुत महौषधि है यह ब्रह्मज्ञान !

वेद कहता है कि आत्माको केवल जान लेनेसे ही सब दुःख मिट जायगा। आप इस जाननेके साथ कोई पंख क्यों लगाते हैं ? क्या आप यह मानते हैं कि ज्ञान और योगाभ्यास अथवा ज्ञान और उपासना अथवा ज्ञान और धर्मके समुच्चयसे दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होगी ? वेद कहता है : 'नहीं, केवल ज्ञानसे ही तुम मृत्युको तर जाओगे; इसके अतिरिक्त कोई अन्य रास्ता ही नहीं है' :

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

(श्वेता० ३.३.८)

इन पंखोंके साथ आपका यह अज्ञान है कि आत्मा समाधिमें ही रहता है, विक्षेपमें नहीं, भावमें रहता है, अभावमें नहीं अथवा विधिमें ही रहता है, अविधिमें नहीं। आत्मा वह वस्तु है जो लय, विक्षेप और समाधि, भावातिरेक, भावसामान्य और दुर्भाव, विधि और निषेध सभीमें समानरूपसे असंग, उदासीन, कूटस्थ बनी रहती है, जिसमें ये सब स्थितियाँ और अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं।

अज्ञानकी भी सीमा नहीं है। कुछ भले लोग अपनेको ज्ञानी भी मानते हैं और हरद्वारसे नीचे आनेमें वे अपने ज्ञानका ह्रास भी मानते हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि कलियुगमें ज्ञान होता ही नहीं। कुछ कहते हैं, केवल ब्राह्मणको ही ज्ञान होता है, तो कुछके अनुसार केवल संन्यासीको ही ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार कोई देश, तो कोई काल, कोई वर्ण तो कोई आश्रमको ज्ञानसे प्रबल मानते हैं। किन्तु इसके विपरीत श्रुति आत्मज्ञानमें कोई प्रतिबंध नहीं लगाती। बस, इसे जानो और मृत्युसे पार हो जाओ!

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति। 'उसे जाननेमात्रसे ही मृत्युका अतिक्रमण हो जाता है।' इसका अर्थ यह है कि यह जो मृत्यु पीछे लगी है, वह केवल अज्ञानसे ही लगी है। आत्माको सत् नहीं जानते, इसलिए मृत्यु-भय है। आत्माको सत् जानो तो आपका जन्म-मृत्युका भय समाप्त!

आप आत्माको आनन्दस्वरूप नहीं जानते, इसीलिए इतने दुःखी हैं और सुखसे वंचित हैं। आप आत्माको 'आनन्द' जानिये तो सुख-दुःख दोनोंसे तत्काल मुक्त हो जायँगे। किन्तु अज्ञानसे जब कोई स्वर्गमें सुख ढूँढता है, तो मानो वह अपने सुखके ढेलेको ऊपरकी ओर फेंक देता है। जब कोई संसारके सुधारमें सुख खोजता है तो मानो वह एक असम्भाव्य सुखकी खोज करता है; क्योंकि मानव-मनकी गति बड़ी विचित्र होती है। सृष्टिके आदिमें जो संसारमें काम-क्रोधादिक विकारोंकी समष्टि थी, वही आज भी है, केवल मामूली-सा अन्तर काल-भेदसे प्रतीत होता है। इतिहास इस तथ्यका साक्षी है। अनात्मामें सुखकी खोज निराशाका मार्ग है; क्योंकि अनात्मामें सुख होता ही नहीं।

निश्चित ही आत्माके सुखस्वरूपका अज्ञान ही इस प्रवृत्तिमें हेतु है। श्रुति कहती है :

मत्वा देवं हर्षशोकौ जहाति।

'आत्मदेवको जानकर हर्ष और शोकको त्याग देता है।' इसका अर्थ यही है कि हर्ष-शोक अज्ञानसे ही होते हैं, वास्तवमें नहीं।

श्रुतिका दूसरा वचन है : **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।** 'ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती।' इसका तात्पर्य है कि वन्धन केवल आत्माके अज्ञानसे है, वास्तवमें नहीं।

पुनः आत्मज्ञानीके लिए श्रुतिका वचन है कि देहपात होनेपर उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह आवागमनसे मुक्त हो जाता है :

न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ते।

इससे यही सिद्ध होता है कि जीवका आवागमन, संसारित्व, अज्ञानका ही कार्य है।

इस प्रकार जीवका जन्म-मरण, सुख-दुःख, वन्ध-मोक्ष, आना-जाना, ज्ञान-अज्ञान, कर्तापन-भोक्तापन और परिच्छिन्नत्व सभी अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं और स्वरूप-ज्ञानसे एक साथ निवृत्त हो जाते हैं। जो अज्ञानसे होते और ज्ञानसे निवृत्त हो जाते हैं, वे वास्तवमें होते ही नहीं। अतः वे सव प्रातीतिक हैं।

वेदान्तकी इस मान्यताके विरुद्ध धार्मिक लोग कहते हैं कि जीवके ये सव वन्धन अधर्मसे उत्पन्न होते हैं तथा धर्मसे निवर्त्य हैं। उपासक लोग इसे ईश्वरकी विस्मृतिका परिणाम मानते हैं और ईश्वर-स्मरणसे इसकी निवृत्ति। योगी लोग विक्षेपको इसका हेतु मानते हैं और समाधिको इसका निवर्तक। इसपर वेदान्तका कहना यह है कि अधर्म, विस्मृति और विक्षेप तथा धर्म, स्मृति

और समाधि ये सब अज्ञानसे देहमें तादात्म्य करनेसे सिद्ध होते हैं। अतः धर्माधर्म, स्मृति-विस्मृति और विक्षेप-समाधि स्वयं अज्ञानके कार्य हैं। इसीलिए बन्धन अज्ञानसे है—इस कथनमें कोई दोष नहीं। हाँ, ज्ञानकी विशेषता यह है कि आत्माका ज्ञान होते ही अज्ञान और उसके समस्त कार्यका एक साथ तुरन्त नाश हो जाता है।

'अहम्'का 'इदम्'के साथ तादात्म्यापन्न होना अज्ञान है, और 'अहं' में 'इदं' का अत्यन्ताभाव देखना ज्ञान है।

'नेति-नेति' द्वारा 'इदं' का निषेध करते जानेपर अन्तमें निषेधावधिरूप 'अहम्' की स्पष्ट उपलब्धि होती है जो जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, आना-जाना, परिच्छिन्न-अपरिच्छिन्न सभी विकल्पोंसे सदा विनिर्मुक्त है।

'इदं' समष्टि-विकल्प है और और उस विकल्पका आधार है 'अहम्'। अहं व्यष्टि और समष्टिमें एक ही है; क्योंकि व्यष्टि और समष्टि दोनों इदं-सृष्टि हैं। इस शुद्ध 'अहं' का 'इदं' के साथ अध्यास सम्भव नहीं। परन्तु अज्ञानसे यह प्रथम परिच्छिन्न अहंके रूपमें उपलब्ध होता है। तदनन्तर इस परिच्छिन्न अहंका प्रतिभासित इदंके साथ तादात्म्य अथवा अध्यास होता है।

विचार यह करना चाहिए कि क्या वास्तवमें मुझ आत्माका देहके साथ तादात्म्य सम्भव है?

एकबार एक महात्माने मुझसे कहा : "तुम्हारे बाल सफेद हो गये। अब तो तुम्हारा बुढ़ापा आ गया।" मैंने कहा : "गाय-बैलके सब बाल सफेद हैं तो वे बूढे क्यों नहीं?' वे बोले : "बछड़ा पशु है, तुम मनुष्य हो। गाय-बैलकी बात तुमपर लागू नहीं हो सकती।" मैंने कहा : 'मैं तो आत्मा हूँ। यदि यह मनुष्य-शरीर

मेरा है तो गाय-बैलका शरीर भी मेरा ही है। इस शरीरका धर्म अपने ऊपर आरोप करूँ और अन्य शरीरोंका नहीं, ऐसा क्यों ? कोई चोर है और मैं साधु, ऐसा क्यों ? चोरविशिष्ट शरीरकी आत्मा और साधुत्वविशिष्ट शरीरकी आत्मा तो एक ही है। यदि हम वहाँ चोरीसे दुःखी नहीं होते, तो यहाँ क्यों ?"

वेदान्त कहता है कि यदि आत्मा शरीरी है तो सब शरीर उसीके हैं, अन्यथा उसका कोई शरीर नहीं। तब उसके किसीके साथ तादात्म्यका प्रश्न ही नहीं उठता। जो सबकी आत्मा है, वह सबके धर्माधर्म, सामान्य-विशेषसे मुक्त है। अन्यथा सर्व आत्मा ही है, यही कहना उचित है।

अध्यास अज्ञानका कार्य है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। अपने आपको यथातथ्य न जानना अज्ञान है तथा अपनेको ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी मानना है अध्यास। अपनेको अपरिच्छिन्न न जानना अज्ञान है और परिच्छिन्न समझना भ्रम या अध्यास है।

योग और सांख्य भ्रान्ति तो मानते हैं, परन्तु वे भ्रान्तिको ही 'अज्ञान' कहते हैं, उसके कारणको नहीं। वे केवल कार्य-भ्रान्तिको ही मानते हैं। उधर वैयाकरणोंमें नागेश‡ एक बड़े विद्वान् हुए हैं, जो अध्यास तो शांकरमतके अनुसार मानते हैं; परन्तु अध्यासके पूर्व अज्ञान नहीं मानते। लेकिन वेदान्तके जो मूर्धन्य प्रवर्तकाचार्य हैं—जैसे : पंचपादिकाकार, भामतीकार, आनन्दगिरि, विवरणकार, विश्वेश्वराचार्य आदि, वे सब मूलाज्ञानको स्वीकार करते हैं।

---

‡ नागेशकी 'वैयाकरण-मंजूषा' प्रसिद्ध ग्रंथ है। उन्होंने व्याकरणके बलपर शांकर-भाष्यका अभिप्राय ही बदल दिया है। बड़े-बड़े विद्वानोंको उन्होंने पक्षमें कर लिया है।

रज्जुका अज्ञान एकरूप होता है, परन्तु रज्जुकी सर्पवत्, मालावत्, भूछिद्रवत् भ्रान्तियाँ होती हैं अनेकरूपा। इसी प्रकार आत्माकी ब्रह्मरूपताका अज्ञान भी एक होता है, किन्तु वही अनेकानेक भ्रान्तियोंका आधार बनता है।

यहाँ जब आचार्य अध्यासको **नैसर्गिकः** एवं **मिथ्याज्ञान-निमित्तः** कहते हैं, तो प्रश्न होता है कि कोई वस्तु नैसर्गिक भी हो और नैमित्तिक, यह कभी नहीं हो सकता। नैसर्गिक वस्तु सहज-स्वाभाविक होती है और नैमित्तिक वस्तु दो वस्तुएँ मिलनेसे होती है? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि भाष्यकारने यहाँ अध्यासके कारण अज्ञानको 'नैसर्गिक' कहा है और अज्ञानके कार्य अध्यासको, जो अनेकानेक निमित्तोंसे बदलता रहता है, 'निमित्तक' भी कहा है।

जो मिथ्याज्ञान-निमित्तक अध्यास हैं, वे सब भ्रान्तियाँ हैं, जो देश-कालरूप निमित्तोंके परिवर्तनसे बदलती रहती हैं। ये सारे भ्रम थोड़ी देरके लिए होते हैं, इसलिए झूठे हैं। 'मैं मनुष्य हूँ, पशु हूँ, पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, जाता हूँ' आदि सब भ्रान्तियाँ हैं। इन सबके मूलमें अपनी ब्रह्मताका अनादि-सिद्ध (नैसर्गिक) अज्ञान है।

'यह मैं हूँ और यह मेरा है' यह मिथ्याज्ञान ही संसारके सब सुख-दुःखोंका कारण है। जो मेरा कहा जाता है, वह मैं नहीं होता। फिर भी अज्ञानसे 'मेरा' को ही 'मैं' मानकर सब दुःखी हैं। 'देह मेरी है, परन्तु मैं देह हूँ' यह किस अज्ञानीका अनुभव नहीं है?

जिसके साथ 'यह मेरा' भाव लगा नहीं कि वहीं दुःखकी सृष्टि तैयार हो गयी। अपनी पत्नी जब परपुरुषके साथ घूमती है तो दुःखका हेतु बनती है। किन्तु तलाक दी हुई पत्नी कहीं भी

घूमे, यह दुःख नहीं देती। स्त्रीका घूमना दुःख नहीं, उसका अपना मानना दुःख है।

दुनियामें अनेक चोर पकड़े जाते हैं, परन्तु जिनसे अपना ममत्व है, केवल उन्हींकी गिरफ्तारीसे हमें दुःख होता है।

काशीमें मणिकर्णिकाघाटके बारेमें यह प्रसिद्ध है कि वहाँ प्रत्येक समय कोई न कोई मुर्दा जलता रहता है। जब हम काशीमें पढ़ते थे तो कभी-कभी मणिकर्णिकापर चले जाते। अनेक मुर्दे आते, जलाये जाते। किन्तु जिनके साथ कोई दूरका भी सम्बंध एवं परिचय होता, उनके मरणकी खबरसे ही दुःख होता था। वहाँ दुःख मृत्युका नहीं, ममत्वका ही था।

दुःखकी हेतु ममता है। देहमें अभिनिवेश, दूसरेको मेरा मानना अथवा मित्र या शत्रु मानना, देहको मैं मानना, अपनेको कर्ता-भोक्ता मानना ये सब मान्यताएँ दुःखकी हेतु हैं, वस्तुएँ या परिस्थितियाँ नहीं।

यह देह व्यावहारिक है। इसके साथ मैं-मेराका सम्बंध प्रातीतिक है, आभास है। मन जबतक फुरता है, तबतक यह भी मालूम पड़ता है; अन्यथा मूर्च्छा-सुषुप्तिमें 'मैं-मेरा' कहाँ मालूम पड़ता है? दूसरे, जितनी देर यह मालूम पड़ता है, उतनी ही देर सुख-दुःख भी मालूम पड़ते हैं।

आत्मा परमार्थ है, सुख-दुःख प्रातिभासिक हैं और देह व्यवहार है। सुख-दुःख भी प्रातिभासिक कैसे? स्वप्नवत्, केवल मानसिक! सुख-दुःख आत्मामें नहीं होते, अन्यथा वे सुषुप्तिमें भी अनुभूत होते। वे देहमें भी नहीं होते; क्योंकि मुर्दा मनुष्य सुख-दुःख-संवेदनशून्य होता है। दुःख केवल मानसिक है! केवल अन्तःकरणका विलास!

यदि आपको यह अनुभव हो जाय कि यह समूचा अन्तःकरण ही 'मैं-मेरा' नहीं, तब तो आपके दुःखके संसारपर मानो बमगोला

ही पड़ गया ! हँसने दीजिये, रोने दीजिये इस अन्तःकरणको, उन सब शरीरोंके अन्तःकरणोंके साथ, जिनमेंसे कोई भी न आप है और न आपका है; जो आपमें बिना हुए ही भास रहे हैं। आप असंग, कूटस्थ, प्रकाशक, अधिष्ठान, एकरस अपनी महिमामें ज्यों-के-त्यों स्थित, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध और नित्य मुक्त हैं !

क्या आप सिनेमामें अवस्तुके लिए हँसते-रोते नहीं ? वहाँ तो रोनेका भी एक आनन्द ही है जो हँसनेके आनन्दसे किसी प्रकार कम नहीं। यह संसार भी ब्रह्मरूपी पर्देपर अवस्तुरूप सिनेमा ही है। यहाँ सब आनन्दका ही विलास है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्ति अभि संविशन्ति।

(तैत्तिरीय० ३.६)

'यह सारी सृष्टि आनन्दसे उत्पन्न हुई है, आनन्दसे ही स्थित है और आनन्दमें ही लीन हो जायगी।' ऐसा ज्ञान दुःखके विनाशकी सर्वोपरि विद्या है।

यदि आप लोग अध्याससे मुक्त होना चाहते हैं, तो एक सूची बनायें और खूब युक्ति, प्रमाण, संकल्पशक्तिसे विचार करें कि (१) आप क्या-क्या नहीं हैं ?, (२) आपका क्या-क्या नहीं है ? और (३) आपके सच्चे स्वरूपमें क्या-क्या नहीं हैं ? यह क्या-क्या ही 'इति' का वाच्य है। इस 'इति' को नकारनेपर आप देखेंगे कि संसारमें न कोई वस्तु आपकी है, न व्यक्ति आपका है और न कोई परिस्थिति आपकी है। आप देखेंगे कि जो आप अपनेको समझते हैं, उनमेंसे कोई आप नहीं हैं। अन्तमें आपको ज्ञान होगा कि आपमें सिवा आपके कोई वस्तु ही नहीं, केवल आप ही आप हैं। यही 'नेति-नेति' का लक्ष्य है और वेदान्तका प्रयोजन है। ●

(३.४)

अध्यासकी परिभाषा

आह—कोऽयं अध्यासो नामेति। उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। (ब्रह्मसूत्रभाष्य)

"यदि पूछो कि यह 'अध्यास' किसका नाम है तो कहते हैं: स्मृतिरूप पूर्वदृष्टका अन्यमें अवभास अध्यास है।"

संसारके विषयोंमें जो अध्यास होता है, वह प्रमाण और प्रमेयका ठीक-ठीक सन्निकर्ष (मेल) न होनेसे ही होता है। रूप-युक्त स्वर्णके सम्बन्धमें हमारे नेत्र प्रमाण हैं, चाहे वह कसौटीपर कसकर देखा जाय, चाहे यों ही परखा जाय। प्रमेय स्वर्ण और प्रमाण हमारे नेत्रका ठीक-ठीक सन्निकर्ष न होनेपर हम स्वर्णको पीतल समझ बैठते हैं। इसी प्रकार पीतलको भी स्वर्ण समझा जा सकता है। ठीक-ठीक सन्निकर्ष न होनेमें कई कारण हो सकते हैं। जैसे: नेत्र और स्वर्णके बीच कोई पर्दा हो, नेत्रमें कोई दोष हो, स्वर्णके बाह्य आवरणमें कोई विपरीत-ज्ञानका सहायक सादृश्य-ज्ञानका हेतु हो अथवा प्रमातामें ही लोभादि कोई दोष हो। इस प्रकार सभी बाह्य-अध्यासोंमें, चाहे वह स्वर्णमें पीतल, रज्जुमें सर्प या शुक्ति (सीपी) में रजत (चाँदी) की भ्रान्तिरूप हो, प्रमाण और प्रमेयका ठीक-ठीक सन्निकर्ष (मेल) न होना ही उसका मूल होता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या आत्मामें अनात्माका अध्यास भी प्रमाण-प्रमेयके ठीक-ठीक सन्निकर्ष न होनेसे है? क्या आँख आत्माको ठीक-ठीक नहीं देख सकती, इसीलिए आत्मामें अनात्मा-का अध्यास है? प्रसिद्ध ही है कि आत्मामें इन्द्रिय-विषयत्व नहीं है। तब उसमें प्रमाण-प्रमेयके सन्निकर्षाभावसे जनित अज्ञानकी सिद्धि कैसे हो सकती है? आत्मा तो स्वतःसिद्ध पदार्थ है, वह प्रमाण-प्रमेयके सन्निकर्षसे ज्ञात नहीं होता। अतः प्रमाण-प्रमेय-सन्निकर्षाभावजन्य अज्ञान केवल बाह्य-वस्तुविषयक है, आत्म-विषयक नहीं।

बहुत-से लोगोंको यही भ्रम होता है कि जैसे हम घड़ीको देखते हैं, उसकी टिक-टिक सुनते हैं, उसकी धातुको चखकर या सूँघकर अनुभव करते हैं, ठीक वैसे ही हमें आत्माका दर्शन, स्पर्शन होनेपर ही हमें आत्माका ज्ञान होगा! अरे भाई, आत्मा कोई ऐन्द्रियक पदार्थ नहीं, जिसका ज्ञान किसी प्रमाणसे हो सके। इसलिए प्रमाण-प्रमेयके सन्निकर्षाभावसे जनित अज्ञान कभी आत्मविषयक नहीं हो सकता।

अब, 'यह आत्मा नित्य शुद्ध-वुद्ध-मुक्त-स्वभाव है' यह ज्ञान किस प्रमाणसे होगा? इसे जाननेका कोई साधन ही नहीं, सिवा किसीसे सुननेके—भले ही आप इस बातको उपनिषद्से न सुनें, श्रीकृष्णमूर्तिसे सुनें। सिवा श्रवणके आपकी दृष्टिको इधर खींचने-वाला कि 'आप आत्मा प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार तथा उसके सन्निकर्षजन्य ज्ञानसे रहित नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव हैं', अन्य दूसरा कोई साधन ही नहीं। इसीलिए शब्दका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

यदि कहें कि यह ज्ञान सुगम कैसे होगा, तो इसके लिए बाहरी वस्तुओंके दर्शन और उनके साथ व्यवहारसे वैराग्य तो

अपेक्षित ही है। यदि आत्मानुसंधान, शान्ति और जीवनमें निवृत्ति इष्ट है, तो महात्माओंका सत्संग करना होगा। उस सत्संग-श्रवणसे ही आत्माकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान सुगम हो सकेगा। नहीं तो अर्थ और कामके लिए आन्दोलन, संघर्ष, हिंसा—ये ही जीवनमें रह जायँगे।

निश्चय ही वाह्य-पदार्थोंमें अध्यास प्रमाण-प्रमेयके सन्निकर्ष-की न्यूनतासे होता है। किन्तु उससे अपने वारेमें अज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होता। वह नैसर्गिक है; उत्पन्न नहीं, अनादिकालसे प्राप्त है। अज्ञानके अनादित्वको प्रकट करनेके लिए ही भाष्यकारने 'अहमिदं ममेदम्' इस अध्यासरूप लोक-व्यवहारको नैसर्गिक कहा है।

प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार आविद्यक है। अविद्या स्वयं प्रमाण-प्रमेयका विषय नहीं। अविद्याका कोई कारण नहीं, वही सब कारणोंका कारण है, क्योंकि उसका कोई कारण वतानेपर भी कारण-जिज्ञासाका अन्त नहीं होता। लगातार एक-एक कारणके कारणकी जिज्ञासा होती रहेगी और इस प्रकार 'अनवस्था' होगी। अतः अविद्याका कोई कारण नहीं होता, वरन् अविद्या ही सबका कारण होती है।

इसी वातको लोग यों पूछते हैं कि नित्य-शुद्ध-वुद्ध-मुक्त आत्मामें अविद्या कव आयी, 'कहाँ आयी, किससे आयी? इसका उत्तर यही है कि 'आत्मामें कव, कहाँ, किससे नहीं होता'—इसी सत्यके अज्ञानसे आयी! 'कव' काल है, कहाँ' देश है और 'किससे' है वस्तु। देश-काल-वस्तु अविद्यासे पूर्व नहीं, उत्तर हैं। काल जड़ताके क्षेत्र, दृश्यमें होता है, दृङ्मात्र चेतनमें नहीं। देश भी जड़-सापेक्ष है, सृष्टिकी उत्पत्तिके पश्चात् देश भासता है, पहले नहीं। इस प्रकार देश-काल-वस्तुसे पूर्व उनके कारणके रूपमें

अविद्या है। अपने ब्रह्मस्वरूपमें अविद्या नहीं है। अपने स्वरूपको न जानना ही अविद्या है और वह स्वरूपज्ञानसे नष्ट हो जाती है।

आत्मामें अनात्माका अध्यास नैसर्गिक है, इस कथनपर पूर्व-पक्षी आक्षेपपूर्वक प्रश्न करता है :

आह—कोऽयमध्यासो नामेति । 'यह अध्यास क्या है ?' अर्थात् प्रश्न यह है कि अध्यासका लक्षण क्या है, अध्यासका स्वरूप क्या है और अध्यास संभव है या नहीं ? इस प्रकार पूर्व-पक्षी अध्यासके लक्षण और प्रमाणकी जिज्ञासा करता है।

इस जिज्ञासामें पूर्वपक्षीका सिद्धान्तीको फँसानेके लिए दोहरा फंदा है। यदि सिद्धान्ती अध्यासको प्रमाणसे सिद्ध करता है तो अध्यास सच्चा सिद्ध हो जाता है। उस दशामें सिद्धान्तीका यह कथन कि 'ब्रह्मविचार या उसके ज्ञानसे, अध्यास निवृत्त हो जायगा', मिथ्या सिद्ध होगा। कारण, सत्य वस्तु ज्ञानसे निवृत्त नहीं होती। यदि सिद्धान्ती अध्यासको प्रमाणका अविषय या झूठा बताता है, तो उसके वेदान्त-विचारका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि असत्की निवृत्तिका कोई प्रयोजन नहीं। दोनों ही दशाओंमें वेदान्त-विचारकी कोई आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। अतः **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** व्यर्थ है—यह आशय पूर्वपक्षी सिद्ध करना चाहता है।

भगवान् भाष्यकार पूर्वपक्षीके इस मन्तव्यसे परिचित हैं। वे कहते हैं कि अध्यास प्रमाण-सिद्ध नहीं, अनुभव-सिद्ध है। 'अहम् अज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) यह सर्वसामान्य अनुभव है। इसी अनुभवका युक्तियुक्त अनुवाद अध्यास है। यह अध्यास सदस-द्विलक्षण, अनिर्वचनीय है तथा उसके कारण अज्ञानके आश्रय और विषयकी एकतारूप ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है। अध्यास अनुभूत होता है, अतः यह असत्से विलक्षण है और ज्ञानसे निवृत्त हो

जाता है, इसलिए सत्से विलक्षण है। यह अध्यास जिसे है, उसीके स्वरूपके बारेमें हैं। अतः आत्माके यथार्थ (ब्रह्मस्वरूपके) अनुभवसे वह निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' की प्रतिज्ञा सार्थक है।

श्री शंकर आत्मामें अध्यास नहीं, अपितु उसकी संभावना सिद्ध करते हैं, जिससे संसारके सब प्राणी दुःखी हैं। उसी दुःखके निवृत्त्यर्थ आचार्य अध्यासका लक्षण यों करते हैं :

उच्यते, स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। "अध्यास स्मृति-सदृश है तथा पूर्वदृष्टका अन्य अधिष्ठानमें अवभास या प्रतीति अध्यास है।"

दर्शनशास्त्रकी प्रणाली है कि उसमें विषयके प्रकाशके लिए पूर्वपक्षकी स्थापना की जाती है। पूर्वपक्षी प्रश्न करता है और सिद्धान्ती प्रश्नके अनुरूप उत्तर देता है। इसी निमित्तसे भाष्यमें 'आह' और 'उच्यते' शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। 'आह' पूर्वपक्ष है, तो 'उच्यते' हैं उत्तर-पक्ष।

अध्यासका लक्षण बताते हैं कि 'किसी अधिष्ठानमें ऐसी चीज भासना, जो बादमें मिथ्या सिद्ध हो जाय, अध्यास है।' यही 'परत्र अवभासः' है। **अवसन्नो भासः अवभासः। अवसन्नो नाम ज्ञानेन यो हि बाध्यते**—अवसन्न-भासका नाम 'अवभास' है। 'अवसन्न-भास' अर्थात् ऐसी प्रतीति, जो बादमें बाधित हो जाय, मिथ्या सिद्ध हो जाय, वह अवभास है। तथा **अवभासः एव अध्यासः**—अवभास ही अध्यास है। यह खण्डान्वयसे अध्यासका लक्षण होगा। परन्तु यहाँ 'परत्र' शब्दको अवभाससे पूर्व स्थापना कर लेनी चाहिए, अन्यथा भाष्यकारकी अध्यास-परिभाषा अन्य सम्प्रदायोंकी परिभाषासे विलक्षण सिद्ध नहीं होगी। (इसके सम्बंधमें आगे कहा जायगा)।

न तो भासमात्र अध्यास है, न केवल बाधित भास (अवभास) अध्यास है; अपितु किसी अन्य अधिष्ठानमें (परत्र) किसी अन्य-का बाधित भासमान होना अध्यास है। यही 'परत्र अवभासः पदोंका लक्ष्यार्थ है।

वस्तुका केवल भासना ही उसके सत्यत्वका प्रमाण नहीं। रज्जुमें सर्प भासता है, शुक्तिमें रजत भासता है, एक चन्द्रमामें (नेत्रपर अंगुली रखनेसे द्वित्व भासता है, परन्तु भ्रमके अधिष्ठानके यथार्थ बोधसे ये सब भास मिथ्या-अनुभव हो जाते हैं; क्योंकि ये वहीं भासते हैं जहाँ ये नहीं हैं। अतः जब कोई वस्तु भासती हो और उस अधिष्ठानमें भासती हो जिसमें वह नहीं है तथा भासकालके पश्चात् उसका अधिष्ठान-बोधसे मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता हो, तब वह भास 'परत्र अवभासरूप' अध्यास' कहलाता है।

भासमानता अर्थात् प्रकाशमानता ! सदा सर्वत्र सर्वरूपमें प्रकाशमान रहना ही प्रकाशमानताका स्वरूप है। सच पूछो तो प्रकाशमानताके अतिरिक्त सत्ता नामकी कोई वस्तु नहीं। अपनी आत्मसत्ता भी सिवा प्रकाशमानताके और क्या है तथा जगत् भी भासके अतिरिक्त क्या है ? अन्तर इतना ही है कि जगत् बाधित भासमान है और आत्मा अबाधित भासमान है। कारण 'घट नहीं है', 'जगत् नहीं है' यह तो भास हो सकता है, परन्तु 'मैं नहीं हूँ' यह कभी अनुभव नहीं हो पाता। अतः मुझ ब्रह्मात्मामें जगत्का प्रतीत होना परत्र अवभास है और इसलिए आत्मामें जगत्का अध्यास है।

यदि कहें कि बौद्ध भी तो जगत्को भासमात्र मानते हैं; तब वेदान्तके अध्यासकी बौद्धोंके अध्याससे क्या विलक्षणता है ? तो इसके विषयमें सुनिये।

शून्यवादी बौद्धोंका कहना है कि अध्यासमें असत्-ख्याति होती है। अर्थात् जो वस्तु है ही नहीं, दूसरे शब्दोंमें जो नितान्त असत् है, उसीका भास होता है। असत्के ख्यापनका नाम 'असत्-ख्याति' है। रज्जु-सर्पके दृष्टान्तमें नितान्त असत् सर्पकी प्रतीति (ख्याति) रज्जुमें होती है और रज्जु भी स्वयं असत् है। अतः वहाँ असत्का ही असत्में अध्यास है। अथवा यों कहिये कि भ्रम निरधिष्ठान है, ऐसी शून्यवादी बौद्धोंकी मान्यता है।

वेदान्तका कहना है कि भ्रम निरधिष्ठान नहीं, साधिष्ठान होता है। आकाशमें नीलिमाका भ्रम होता है, रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है। किसीका किसीमें भ्रम होता है, यह ठीक है; परन्तु जिसमें भ्रम होता है, उस अधिष्ठानका सत्य होना अनिवार्य है। जिसका भ्रम हुआ है, वह मिथ्या होता है। आप भ्रमसे मोहनको सोहन समझ सकते हैं, परन्तु मोहनके अस्तित्वसे आप अस्वीकार नहीं कर सकते। इसी प्रकार आत्मसत्ता सत्य है और उसीमें प्रपंच-सत्ता मिथ्या भास रही है। 'परत्र अवभासः' में 'परत्र' (अन्य अधिष्ठानमें) शब्दसे असत्ख्यातिरूप निरधिष्ठान अध्यासका निषेध किया गया है।

इसपर कोई कह सकता है कि ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय कि जो दीख रहा है, वही है। जैसे प्रपञ्च है तभी दीख रहा है, रज्जुमें सर्प है और दीख रहा है, शुक्तिकामें रजत है और दीख रहा है। दूसरे शब्दोंमें सत्की ही ख्याति होती है अर्थात् अध्यासमें सत् ख्याति होती है—ऐसी (इस पूर्वपक्षको) मान्यता क्यों नहीं? इसमें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि यदि रज्जुमें सर्प सत् है और वह वास्तवमें नेत्र-प्रमाणका विषय बनता है, तो प्रतीतिके अनन्तर सर्पज्ञानका मिथ्यात्व अनुभव नहीं होना चाहिए, परन्तु होता है। सभी भ्रमस्थलोंमें भ्रमाधिष्ठानका

ज्ञान होनेपर भ्रमकी निवृत्ति देखी जाती है। अतः रज्जुमें भ्रमजन्य सर्प सत् नहीं हो सकता।

वास्तविकता यही है कि रज्जुमें सर्प नहीं है और दीख रहा है; शुक्तिकामें रजत नहीं है और दीख रहा है; अनन्तमें सान्त नहीं है और दीख रहा है; अविनाशीमें विनाशी नहीं है और दीख रहा है। अनन्तमें सान्तका कोई स्थान नहीं है, अविनाशीमें विनाशीका कोई काल नहीं है, सत्तामें व्यक्तित्वका कोई निर्माण नहीं है, दृङ्मात्रमें दृश्य नहीं है तब द्रष्टा भी नहीं है। फिर भी देश, काल, वस्तु, व्यक्तित्व, द्रष्टा, दृश्य सब एक ही सच्चिदानन्द-अद्वय-सत्तामें भासते हैं।

प्रश्न होता है कि यह भास किस प्रकारका है? भगवान् भाष्यकार इसका उत्तर देते हैं कि यह अध्यास या भास **स्मृतिरूपः** है। अर्थात् यह स्मृतिके सदृश है, स्मृति नहीं। स्मृतिरूपका हिन्दीमें जो अर्थ है, वह संस्कृतमें नहीं है। 'स्मृतिरूपः' अर्थात् स्मृति-सरीखा।

स्मृति किसकी? तो कहा: 'पूर्वदृष्ट'की—पहले देखे हुए की, पहले अनुभव किये हुएकी। पहले देखा, पहले देखा, पहले देखा—इस प्रकार संस्कारोंकी अनादि परम्परा है और वर्तमान वस्तुमें उनकी याद आनेसे सादृश्य उपस्थित होनेपर अध्यास होता है। यह आवश्यक नहीं कि वह स्मृतिरूप वस्तु सच्ची हो। वह सच्ची भी हो सकती है और झूठी भी। जिसने सच्चा साँप देखा है अथवा जिसने रबड़का साँप देखा है—उन दोनोंको ही रज्जुमें सर्पका भ्रम हो सकता है। स्वप्नकी स्मृति होती है दो वस्तुओंके अविवेककी और जादूके खेलमें पदार्थोंकी स्मृति होती है, यह सबका अनुभव है। 'संक्षेप-शारीरक'में सर्वज्ञात्ममुनिने तथा

भागवत की वेद-स्तुतिकी टीकामें श्रीधरस्वामीने इस प्रसंगको उठाया है।

इस प्रकार 'स्मृतिरूपः' कहकर आचार्यश्रीने सत्ख्यातिकी संभावना काट दी है। 'परत्र'से असत्-ख्यातिका निराकरण पहले ही हो चुका है।

'स्मृतिरूपः' कहनेका अभिप्राय यह है कि अध्यासमें भ्रमजन्य वस्तु प्रमाणका विषय नहीं बनती; फिर भी प्रमाणजन्य ज्ञानके अभावमें भी वह वस्तु फुरती है। आँख देखती है रज्जुको और स्मरण होता है (ज्ञान होता है) सर्पका। अर्थात् प्रमाणजन्य ज्ञानसे विपरीत लक्षणवाली वस्तुका स्फुरण होता है; ऐसी वस्तु-का स्फुरण होता है जो संसृज्यमान कालमें (नेत्र द्वारा विषय रज्जु दर्शनकालमें) नहीं है।

प्रमाण क्या है? **प्रमाकरणं प्रमाणम्**। अर्थात् यथार्थ ज्ञानके करणका नाम प्रमाण है। यथार्थ ज्ञान उसे कहते हैं, जो प्रमाणान्तरसे अनधिगत, प्रमाणान्तरसे अबाधित तथा स्मृतिसे विलक्षण हो। जैसे रूपज्ञानका करण नेत्र है तो रूपमें नेत्र प्रमाण है; क्योंकि रूपका ज्ञान अन्य किसी ज्ञानेन्द्रियसे (कान, त्वचा, जिह्वा या नासिकासे) सम्भव नहीं है (प्रमाणान्तरसे अनधिगत) तथा अन्य इन्द्रियोंके ज्ञानसे बाधित भी नहीं होता (प्रमाणान्तरसे अबाधित)। इसके अतिरिक्त नेत्र-प्रत्यक्ष रूप अन्य पूर्वदृष्ट रूपोंकी स्मृतिसे विलक्षण भी है।

अब रज्जुमें जो सर्पकी प्रतीति है, वह प्रमाणजन्य ज्ञान नहीं है; क्योंकि कालान्तरमें वह बाधित हो जाती है। साथ ही भाष्यकार उसे 'स्मृतिरूपः' भी कह रहे हैं।

सर्प देखा जंगलमें और उसकी याद आ रही है घरके अन्दर पड़ी रस्सी देखकर। रस्सीको देखकर सर्पको (या मालाकी या

भूछिद्रकी) ही याद क्यों आयी (अथवा शुक्तिको देखकर रजतकी ही याद क्यों आयी) ?—यदि यह शंका हो तो उसका समाधान है कि सादृश्यसे यह याद आयी। रस्सी और सर्पमें जो आकृति-साम्य है अथवा शुक्ति और रजतमें जो वर्ण-साम्य है, उससे एक वस्तुको देखकर दूसरी वस्तुकी स्मृति होती है। यह साम्य-संस्कार अनादि संस्कार-परम्पराके अन्तर्गत है। अतः अध्यासकी परम्परा भी अनादि-सिद्ध अथवा नैसर्गिक है। किन्तु अविद्यामूलक अध्यास नैसर्गिक होते हुए भी अधिष्ठान-ज्ञानसे निवर्त्य है।

वेदान्तमें स्मृतिको प्रमाण नहीं माना जाता। स्मृतिको प्रमाण होनेके लिए स्मृतिके विषयको प्रमाण-सिद्ध होना चाहिए। तभी वह प्रमाण-कोटिमें आ सकेगी। असलमें तो स्मृति भी नहीं होती, केवल स्मरणाभिमान ही होता है। आप कहते हो कि भूत-कालका 'कल' था; क्योंकि हमें कलकी स्मृति है। इसका अर्थ है कि आप कलके होनेमें अपनी स्मृतिको प्रमाण मानते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि भूतकालिक 'कल'की स्मृति तो स्वप्नमें भी होती है। स्वप्नके 'कल'की स्वप्नमें जो याद आती है, वह उस 'कल'के अनुभवसे नहीं आती; वह तो स्वप्नकी एक स्वतन्त्र प्रकृति है। स्वप्नमें स्मरणका विषय और स्मृति तत्काल उदित होते हैं, उनका भूतकालसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसे स्वप्नमें होता है, ठीक इसी प्रकार जाग्रत्में भी होता है। जाग्रत्में भी जो 'आज' और 'कल' दिखता है अथवा उसकी स्मृति होती है, वह सब दृष्टि-समकाल ही होता है—ऐसा दृष्टि-सृष्टिवादके माननेवाले वेदान्तियोंका कथन है।

इस प्रकार अध्यासकी परिभाषा **स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टाव-भासः'** में प्रत्येक शब्दका एक महत्त्व है। 'अवभासः' से बाधित

ज्ञान (भास), 'पूर्वदृष्टः' से संस्कारोंकी अनादि परम्पराका बोध; 'परत्र' से भ्रमके साधिष्ठानत्वका कथन तथा 'स्मृतिरूपः' से भ्रमरूप पदार्थके सत्यत्वके खण्डनका बोध होता है। किन्तु इस परिभाषाके गर्भमें अभी कुछ और भी छिपा हुआ है !

बौद्ध कहते हैं कि अहं और इदं दोनों प्रत्यय (आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान) दोनों ही क्षणिक होनेसे मिथ्या हैं। अतः अहंमें इदंका अध्यास असत्यमें असत्यका अध्यास है। सभी प्रत्यय क्षणिक हैं, यह ठीक है; किन्तु क्षण, जिस कालके अवयव हैं, उसका निषेध कहाँ हुआ ? उस अवयवी कालके निषेधके बिना 'शून्य' कहाँ सिद्ध होगा ? अवयव क्षण और अवयवी काल किसे भासते हैं ? क्षणके उदय-विलयके लिए स्थान, काल और एकरस ज्ञानकी आवश्यकता बौद्ध क्यों स्वीकार नहीं करते ? अतः बौद्धोंका अध्यास अयुक्त है।

सांख्यवादी अध्यासका नाम तो लेते नहीं, पर अध्यासको वे भी स्वीकार करते हैं। जब वे जड़-चेतनके अविवेककी चर्चा करते हैं तो वे मानो भाष्यकारके 'इतरेतराविवेकेन' की ही पुष्टि करते हैं। इनके अनुसार जड़ और चेतन दोनों सत्य हैं तथा अविवेकसे ही चेतन अपनेको जड़धर्मी और जड़को चेतनधर्मा मान बैठता है। अतः इस मतमें सत्य और सत्यका अध्यास होता है।

इस सम्बन्धमें यह जानना चाहिए कि क्या सत्य पदार्थ दो हो सकते हैं ? दो सत्योंका भेदक तीसरा पदार्थ होना चाहिए। वह तीसरा पदार्थ यदि सत्य है, तो सत्य दो न होकर तीन हो जाते हैं और तीनके चार, चारके पाँच, आदि, इस प्रकार अनेक सत्योंकी स्थापना होती है। यदि यह भेदक पदार्थ असत्य है,

तो सत्यको दो कहना ही असत्य सिद्ध होता है। जब सत्य ही दो नहीं, तो सत्यका सत्यके साथ अध्यास कैसा ?

पुनश्च, दो सत्योंमें सम्बन्ध भी बताना पड़ेगा। यदि एक सत्य प्रकाशक है और दूसरा प्रकाश्य, तो जो प्रकाश्य है वह बाधित हो जायगा और उसका भाव और अभाव दोनों सत्य मानने पड़ेंगे। इस प्रकार सत्य और उसकी गिनतीका विध्वंस हो जायगा।

यदि एक सत्य आधार है और दूसरा अध्यस्त, तो आधार सत्य होगा, अध्यस्त मिथ्या होगा। तब वेदान्तकी स्थिति प्राप्त होगी।

यदि एक सत्य कारण है और दूसरा कार्य, तो बताना पड़ेगा कि कार्य और कारणका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? कारणसे कार्यमें आरम्भ है या परिणाम है अथवा विवर्त ? आरम्भवादमें कार्यकी कारणमें बीजरूपसे प्राक्सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है; तब कार्य कारणमें ही निहित होगा और उनकी स्वतन्त्र सत्ता माननेका कोई प्रयोजन ही नहीं। परिणामवादमें कारणका परिवर्तनशील होना अनिवार्य है, साथ ही सत्ताद्वयके अबाधितत्वके लिए कारणका एक अंश अपरिवर्तनशील भी रहना आवश्यक है। एक ही सत्ता समकालमें परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दोनों हो, यह संभव नहीं। अतः सत्यमें परिणामवाद अयुक्त है। विवर्तवादमें तो प्रसिद्ध ही है कि एक सत्य ही अज्ञानसे दो भासता है।

एक शास्त्रार्थ हुआ न्याय और वेदान्तमें। न्यायने कहा : 'मृत्तिकामें (कारणमें) घट (कार्य) नामकी एक स्वतन्त्र वस्तु होती है।' वेदान्तने कहा : 'अच्छी बात है। आओ, घट खरीद लें। मृत्तिका हम लिये जाते हैं, घट आप ले जाइये।'

मृत्तिकामें घट नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं होती। घटका देश, घटका काल, स्वयं घट वस्तु, घटका भार, घटका सब कुछ मृत्तिका ही है, उससे पृथक् नहीं। मृत्तिकामें घटाकारता केवल आरोपित है, थापीसे मार-मारकर थोपी गयी है। असलमें मृत्तिका मात्र सत्य है, घट तो नाममात्र है :

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

इस प्रकार सत्य और मिथ्याका अध्यास ही परिशेष-न्यायसे सिद्ध होता है। अहं सत्य है और इदं मिथ्या है। अहं और इदंका मिथुनीकरण है। सत्यमें मिथ्याका अध्यास होता है, यही वेदान्त-सिद्धान्त है।

अध्यासमें अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुका अध्यास होता है, यह 'परत्र' शब्दसे भाव निकलता है। अन्य देशमें अन्य देशका अध्यास होता है, यह 'स्मृतिरूपः' शब्दसे स्पष्ट होता है। अन्य कालमें अन्य कालका अध्यास होता है, यह 'पूर्वदृष्टः' शब्दसे भास होता है। अर्थात् जिस अधिष्ठानमें जिस वस्तुका अध्यास हो रहा है, उस अधिष्ठानमें उस वस्तुका वस्तुत्व, देशत्व, कालत्व सभी अध्यारोपित हैं, प्रमाण-जन्य नहीं। इसीलिए अधिष्ठान-बोधसे यह अध्यासरूप भास निवृत्त हो जाता है, यही 'अवभासः' पदका तात्पर्य है।

अध्यासको समझनेके लिए इस बातपर भी विचार कर लेना उचित है कि सत्ताका लक्षण क्या है? क्या केवल प्रतीत होना ही सत्ताका लक्षण है या और भी कुछ?

प्रतीति दो प्रकारकी होती है। एक वह जो अब, यहाँ यह है अथवा तब, वहाँ, वह है (अर्थात् जो किसी कालमें) किसी देशमें वस्तुरूपसे भासती है); ऐसी वस्तुका अभाव भी भासता हैं। जैसे 'वह अब यहाँ नहीं है' इसका यह अर्थ हुआ कि एक प्रतीति ऐसी है, जो देश-काल-वस्तुके भावाभावरूप होती है। दूसरी

प्रतीति उसकी है, जो देश-काल-वस्तुके भावाभावको प्रकाशित करता है, जो अहं-प्रत्ययका विषय है। इस प्रतीतिका कभी अभाव या बाध अनुभूत नहीं हो सकता; क्योंकि अपने अभावका अनुभव करनेवालेका अभाव तो वदतोव्याघात ही होगा।

आत्मसत्ता अबाधित भासमान है तथा अनात्मसत्ता बाधित भासमान है। आत्मसत्ताका अभाव अनुभवके क्षेत्रमें नहीं आ सकता। आप वेद-पुस्तकका अन्य ईश्वरका और ऐन्द्रियक जगत्का निषेध कर सकते हैं; परन्तु स्वयं अपना निषेध नहीं कर सकते।

अध्यास अहंमें इदंका होता है। इदं बाधित भासमान है और अहं अबाधित भासमान। अहंमें इदं स्वरूपाध्यास है और अहं-का इदंके साथ सम्बन्ध संसर्गाध्यास है।

स्वरूपाध्यासका अर्थ है कि अहंमें इदं तीनों कालमें नहीं है, केवल प्रतीति-कालमें ही है; तथापि अज्ञान और तज्जन्य प्रपंच-संस्कारोंकी अनादि-परम्परासे वह अहंमें स्वरूपसे ही अध्यस्त है। पूर्व-पूर्व अध्यासके अनुभवजन्य संस्कार स्मृतिरूप होकर उत्तर-उत्तर अध्यासके हेतु बनते हैं।

अहंमें अज्ञानजन्य इदं (जो मिथ्या, अनिर्वचनीय है) के साथ जो कल्पित तादात्म्यसम्बन्ध है, वह संसर्गाध्यास है।

शुक्तिमें रजत स्वरूपसे ही अध्यस्त है; क्योंकि श्वेतवर्णके साम्यसे ही रजत, शुक्तिमें त्रिकालमें न होते हुए भी, शुक्तिमें भासता है और मिथ्या भासता है; क्योंकि 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञानसे उसका बाध हो जाता है। किन्तु शुक्तिका अपनेमें मिथ्या भासमान रजतके साथ कल्पित तादात्म्यसम्बन्ध होता है, जो संसर्गाध्यास है। 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञानसे केवल संसर्गाध्यास ही निवृत्त होता है; शुक्तिमें रजतकी अप्रतीतिरूप आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती।

अहंके यथार्थ (ब्रह्मस्वरूपके) बोधसे अहंका इदंके साथ संसर्गाध्यास ही निवृत्त होता है; अहंमें इदंकी अप्रतीतिरूप स्वरूपाध्यासकी निवृत्ति नहीं होती। श्रुतिमें जो नेह नानास्ति किञ्चन आदि निषेध-वाक्य हैं, द्वैत-प्रपंचके अद्वितीय तत्त्वमें मिथ्यात्वका ही प्रतिपादन करते हैं, उनकी अधिष्ठान ब्रह्ममें अप्रतीतिका नहीं।

अब 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' के गूढ़ार्थमें तनिक और प्रवेश कीजिये।

यह पूर्वदृष्ट क्या है और इसकी स्मृति किसे किसमें होती है? सम्पूर्ण इदं-प्रतीति देश, काल, वस्तु इन्हीं तीन कक्षाओंमें विभाजित है। देश दैर्घ्य-विस्तार (लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई) रूप है। आकाश उसका ऐन्द्रियक आधार है, वस्तु द्रव्यरूप है और काल देशमें वस्तुकी गतिसे उत्पन्न एक मानस प्रत्यय है। इन देश-काल-वस्तुकी परिच्छिन्नता ऐन्द्रियक प्रतीति है और इनकी अनादिता या अनन्तता है एक कल्पना। द्रव्यमें कार्य-कारणता भी आनुमानिक है। यही सब देश-काल-वस्तु, इनका भाव, अभाव, अल्पता और महत्ता तथा कार्य-कारणता—इन्हीं सब कुछका ज्ञान-संस्कार अनादि परम्परासे सबका 'पूर्वदृष्ट' है और यह प्रत्येक अन्तःकरणमें रहता है।

जिस अन्तःकरणमें यह संस्कार-समष्टि है, उसी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको इसका भास एवं ज्ञान होता है। इस अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें ही संस्कारावच्छिन्न चैतन्य है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जब (अज्ञानसे) अनवच्छिन्न चैतन्यसे अपनी पृथक् सत्ता अनुभव करता है, तब स्वयंको संस्कारोंका प्रकाशक तथा समष्टि-संस्कारावच्छिन्न चैतन्यको अपनेसे भिन्न ईश्वरके रूपमें कल्पना करता है। स्वयंप्रकाशक तथा ईश्वर अधिष्ठान—यह उसका अज्ञानजन्य विभाग होता है। किन्तु

वास्तविकता यह है कि अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न चैतन्यमें भेद नहीं होता (घटाकाश और महाकाशकी भाँति) तथा स्वयं और ईश्वर दोनों चेतन होनेसे प्रकाशक और अधिष्ठानका भेद भी नहीं हो सकता। जो देश, काल, वस्तु और कार्य-कारणताका प्रकाशक है, वही इनका अधिष्ठान है। देश, काल, वस्तु कल्प्य हैं। जो कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य है, वही इनकी कल्पनाका प्रकाशक चैतन्य भी है। वही अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है और वही अनवच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है। जो देश, काल, वस्तुका प्रकाशक है, वह देश, काल, वस्तुसे अवच्छिन्न नहीं हो सकता। जो आकाश घटके प्रागभाव, प्रध्वंसाभावको जानता है, वही घटके भावको जानता है और वह घटावच्छिन्न नहीं हो सकता। वह घटाकाश प्रतीत होते हुए भी महाकाश ही है।

अन्तःकरण स्वयं भी संस्काररूप ही है, जिसका अभाव सुषुप्तिमें हो जाता है। अतः देश, काल, वस्तुके संस्कारोंके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो चेतन-सत्ता है, उसके बोधसे कल्प्यत्व, कल्पनात्व और कल्पकत्व, तीनोंका बाध हो जाता है। तभी यह मालूम पड़ता है कि देश उसमें भास रहा है जिसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं है; काल उसमें भास रहा है जिसमें आज, कल, परसों, भूत, भविष्य, वर्तमान नहीं है; द्रव्य उसमें भास रहा है जिसमें कार्य-करणभाव नहीं है। अर्थात् देश-काल-वस्तु उसमें भास रहे हैं जिसमें देश-काल-वस्तु नहीं हैं। दूसरे शब्दोंमें देश-काल-वस्तु मिथ्या हैं।

इस प्रकार, जब भाष्यकार 'परत्र' शब्दका व्यवहार करते हैं, तो उनका आशय इसी अद्वितीय चैतन्य-सत्तासे है। 'परत्र' अर्थात् -अद्वितीयवस्तुनि, प्रत्यक्चैतन्ये ब्रह्मणि। जिसमें देश-काल-वस्तु, मैं-तू, व्यष्टि-समष्टि, कार्य-कारण नहीं है, जो परिच्छेद-

सामान्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित आत्मतत्त्व है, उसीमें मिथ्या-दर्शन-परम्पराजन्य जो संस्कार हैं और स्मृतिके समान जिसका स्वरूप है, उस प्रपंचका अध्यास होता है।

आत्मामें प्रपंचकी प्रतीति अनादि अथवा नैसर्गिक है। इस प्रतीतिके सत्यत्वमें कारण है, प्रतीतिके अधिष्ठानके अज्ञानसे उत्पन्न अध्यास। अध्यास यानी पूर्वदृष्ट वस्तुओंका अन्य अधिष्ठानमें स्मृतिरूप बाधित भान।

आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि यदि अध्यास-कालमें तथा अध्यास निवृत्त होनेपर भी जगत्-प्रतीति बनी ही रहती है तथा उसमें लोक-व्यवहार भी बना रहता है, तब अध्यासके बने रहने अथवा निवृत्त होनेमें अन्तर ही क्या हुआ? तो व्यावहारिक अन्तर केवल पराधीनता एवं स्वाधीनताका ही होता है। जो अध्यास-पीडित है वह कर्ममें, भोगमें, दृष्टिमें पराधीन रहता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें विषयकी सत्यता, अनेकता एवं सुखरूपता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है तथा संसारके नियामक ईश्वरकी अन्यता और स्वयं अपनी परिच्छिन्नता भी ज्यों-की-त्यों बनी है। इसके विपरीत जिसका अध्यास निवृत्त हो चुका है, वह एकत्वदर्शी है। उसे शोक-मोह कहाँ, बन्धन-पराधीनता कहाँ? वहाँ व्यक्तित्व वर्तमान रहते हुए भी व्यक्तित्वका भ्रम एवं मोह नहीं है।

हमारी धारणा ऐसी है कि सभी आचार्य तत्त्वज्ञ थे। यह बात दूसरी है कि उन्होंने किसी अधिकारीको शालग्राममें ईश्वर-की पूजा बतायी तो किसीको राष्ट्र, अथवा विश्वमें अथवा हिरण्यगर्भमें। अथवा उन्होंने 'मैं' को ब्रह्म कहा या 'तू' को ब्रह्म कहा। वे अन्वय-व्यतिरेकसे कोई भी लोक-हितकारी कर्म कर सकते हैं। तत्त्वज्ञके जीवनमें स्वातंत्र्य रहता है, जब कि मूढ लोग स्वयं अपने अज्ञानसे दबे रहते हैं तथा दूसरोंको दबाते हैं। ज्ञानीके जीवनमें जीवन्मुक्तिका विलक्षण आनन्द वर्तमान रहता है।

तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें सत् और चित् दोनों एक होकर रहते हैं। सत्ता वह है, जिससे अस्ति-प्रत्यय कभी अलग न हो, और चित् वह है, जो इस अस्ति-प्रत्ययका प्रकाशक है।

यदि चित् सत्से पृथक् है तो वह क्षणिक होगा और विनाशी होगा। यदि सत् चित्से पृथक् है तो वह जड़ होगा, अपनी सत्तास्फूर्तिके लिए भी चेतनके पराधीन होगा, परिणामी होगा, देश-कालसे परिच्छिन्न होगा, विनाशी होगा। यदि सत् और चित् दो हों और सत्से चित् उत्पन्न होता हो, तो मानो जड़से चेतन उत्पन्न होता है, यही कहना होगा न ? उस दशामें विनाशी जड़ (सत्) से उत्पन्न (पृथक्) चेतन भी विनाशी होगा ओर दोनों काल-कवलित हो जायँगे। यदि चेतनसे सत् (जड़) की उत्पत्ति मानें, तो चेतनको परिणामी मानना पड़ेगा जो असम्भव है; क्योंकि चेतन तो परिणामका प्रकाशक है, परिणामी नहीं है। इस प्रकार सच्चिदानन्दरूपसे अनन्त ब्रह्म अहं और इदंके रूपमें तथा इनके लोक-व्यवहारके रूपमें प्रतीत होते भी अपनी महिमामें ज्यों-का-त्यों स्थित है। ब्रह्मका उपनिषद्-वर्णित **सत्यं ज्ञान-मनन्तम् ब्रह्म** स्वरूप तत्त्वज्ञके जीवनमें अबाधित रूपसे प्रतिष्ठित होता है।

यों विद्वानोंने अध्यासके अनेक रूपोंका व्याख्यान किया है, किन्तु उनमें मुख्य ज्ञानाध्यास ही है। जीवनके समस्त दुःख और बन्धन बुद्धिकी गड़बड़ीसे ही प्राप्त होते हैं। यदि यह बुद्धि बचपन-में ही सुधर जाय तो ऐसा हमारा विश्वास है कि उस बच्चेके जीवनमें ऐसी स्वतंत्रता, ऐसी निर्द्वन्द्वता रहेगी कि कोई दुःख पास ही नहीं फटकने पायेगा !

× × ×

यहाँतक अध्यासमें तीन बातें आयीं : जहाँ जो न हो, जब

जो न हो और जो जो न हो, वह अध्यास है। 'जहाँ' देश है, 'जब' काल है और 'जो' वस्तु है। अर्थात् देश-काल-वस्तु जिस प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें नहीं हैं, उसीमें भास रहे हैं। निष्प्रपंचमें प्रपंच भास रहा है, चेतनमें जड़ भास रहा है, आत्मामें अनात्मा भास रहा है। भास या भासित होना अध्यास नहीं है, किन्तु उस भासको उसके अभावके अधिष्ठानसे भिन्न जानना और उनका सजातीय, विजातीय या स्वगतभेद स्थापित करना अध्यास है।

प्रश्न है—इस अध्यासकी निवृत्ति कैसे होगी ?

कल्पना कीजिये कि आपने सांख्यकी प्रणालीसे देश, काल, वस्तुको दृश्य और स्वयंको द्रष्टा जान लिया। परन्तु इससे देश-काल-वस्तुकी विजातीयताका बाध कहाँ हुआ ? साथ ही अन्य द्रष्टाओंके सजातीयत्वका भी निषेध नहीं हुआ ? तब अध्यासकी निवृत्ति कहाँ हुई ?

आप योगकी प्रणालीसे समाधिमें निरुद्ध वृत्तिके द्रष्टा हो गये ! बहुत ठीक, किन्तु इससे निरुद्ध और विक्षिप्त वृत्तियोंके विजातीयत्वका निषेध कहाँ हुआ ? और न स्वशरीरस्थ निरुद्ध वृत्तिके साक्षी और अन्यशरीरस्थ विक्षिप्त वृत्तिके साक्षीकी सजातीयताका बाध हुआ। तब अध्यास तो पूर्ववत् ही रहा !

यदि आपने उपासनासे अपनेसे भिन्न ईश्वरके साथ तादात्म्य अथवा भावात्मक एकता स्थापित कर ली तब भी तो ईश्वर और अपने बीच सजातीय भेद और अपने अथवा ईश्वर और जगत्के बीच विजातीय भेदका अन्त नहीं हुआ ?

यदि आपको यह अनुभव होने लगा कि ईश्वर ही मैं, तू, यह सब कुछ बन गया है; तब भी तो स्वगत भेद कायम रहा !

कर्मकी तो कोई स्थिति भी भेद-शून्य नहीं होती, फिर उसकी चर्चा ही क्या करें ?

जबतक आप उस अबाधित प्रकाशमानताका सम्यक् बोध प्राप्त नहीं करते, जिसके मिथ्यात्वका कभी निश्चय नहीं हो सकता और जो आपकी अपनी स्वरूपभूत प्रकाशमानता है, अर्थात् जबतक आप अपने स्वरूपको अद्वितीय ब्रह्म नहीं जानेंगे; दूसरे शब्दोंमें जबतक आप अपनी अबाधित स्वप्रकाशताको जगदधिष्ठानके रूपमें और जगदधिष्ठानको स्वरूपके रूपमें अनुभव नहीं कर लेते, तबतक अध्यासकी समूल निवृत्ति शक्य नहीं। अध्यास जिसे है और जिसमें है, उन दोनोंकी एकताके ज्ञानसे ही वह निवृत्त होता है।

यह सम्यक्-बोध कैसे होगा? तो इस विषयमें यह जानना आवश्यक है कि बोध कभी ज्ञानका विषय नहीं बनता; केवल अबोधका निराकरण ही बोध है। यह निराकरण ब्रह्मविचारसे उत्पन्न प्रमाण-वृत्तिके द्वारा निष्पन्न होता है। अतः आइये, ब्रह्म-विचार करें—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।**

यहाँ इस बातको पुनः दोहराना आवश्यक है कि 'आत्माका साक्षात्कार कैसे हो ?' इस वाक्यमें जो 'का' विभक्तिका प्रयोग है, वह अज्ञानमूलक है। आत्माका साक्षात्कार नहीं होता, आत्मा स्वयं साक्षात् है। कारण, आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। केवल जड़ वस्तुका ज्ञानसे साक्षात्कार होता है। आत्मामें किसी भी विभक्तिका प्रयोग अज्ञानमूलक है या केवल व्यावहारिक। उसे विकल्प ही कहना उचित है। यह प्रयोग ऐसे ही है, जैसे 'ब्राह्मणका शरीर' अथवा 'पुरुषकी चेतनता'। शरीर स्वयं ब्राह्मण है और पुरुष स्वयं चेतन है।

इस प्रसंगमें कुछ साधनका विवेक आपको सुनाता हूँ। अध्यासके वृहत् स्वरूपको समझनेके लिए यह आवश्यक भी है।

आजकल मशीनें (कम्प्यूटर) भी गणित करती हैं और लोगोंको उनके परिणामोंमें विश्वास भी जल्दी हो जाता है। यदि भगवान् हमें यह सामर्थ्य देते कि हम एक ऐसा कम्प्यूटर बना सकते, जिसमें मनुष्योंकी मानसिक अवस्थाओं, प्रवृत्तियों आदिका 'प्रोग्रामिंग' किया जा सकता तो हम दावेके साथ यह कह सकते हैं कि जो फल वह मशीन धर्म, उपासना, योगके सम्बंधमें बताती वह वही होता जो शास्त्रोंमें ऋषियोंने पहलेसे ही लिख रखा है।

आचार्य कहते हैं कि यह मैं-मेरा लोक-व्यवहाररूप अध्यास नैसर्गिक है। इसपर पूर्वपक्षका कहना है कि शास्त्र तो स्वयं अध्यासका पक्षपाती है। कैसे? इसपर कहते हैं कि शास्त्रने कहा : 'अग्नि ब्रह्म है' :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

(गीता ८. २४)

नाम ब्रह्म है : **नाम ब्रह्मेति उपास्व।**

मन ब्रह्म है : **मनो ब्रह्मेति उपास्व।**

गंडकी-शिला ब्रह्म है : **गण्डकी-शिला ब्रह्म इति उपास्व।**

अग्निमें ब्रह्मरूपता, नाममें ब्रह्मरूपता, मनमें ब्रह्मरूपता गंडकी-शिलामें ब्रह्मरूपता, क्या ये सब अध्यास नहीं हैं? अवश्य हैं, और यदि हैं तो शास्त्रोंका नित्य-पाठ अथवा उनके अनुसार मान्यता बनाकर अध्यासको क्यों दृढ़ किया जाता है?

इसका उत्तर यह है कि उपर्युक्त अध्यास नैसर्गिक अध्यास नहीं हैं। अर्थात् स्वभावसे ही किसीको यह प्राप्त नहीं होता कि अग्नि ब्रह्म है, नाम ब्रह्म है या मन ब्रह्म है, आदि। ये अध्यास

तो शास्त्रोक्त विधिसे जन्य हैं और निवृत्त्युपयोगी हैं, अर्थात् साधनके अंग हैं। शास्त्रमें जो महावाक्य हैं: **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म; नहि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो न विद्यते, तत्त्वमसि, अविनाशित्वात्** आदि, वे वस्तुतत्त्वका स्वरूप-निरूपण करते हैं। जो अन्य अवान्तर वाक्य हैं, वे विधि-निषेधके द्वारा महावाक्य-जन्य ज्ञानकी योग्यता अन्तःकरणमें उत्पन्न करनेके लिए अनुष्ठेय अभ्यासका विधान करते हैं।

'अहमिदं ममेदम्' यह नैसर्गिक लोक-व्यहार है; दूसरे शब्दोंमें नैसर्गिक अध्यास है। 'ईश्वरोऽहम् अहं भोगी' इत्यादि वासना-जन्य अध्यास बाधक अध्यास हैं तथा 'दासोऽहं, ब्रह्माग्नी, मनो ब्रह्म, नाम ब्रह्म' इत्यादि अध्यास निवृत्त्योपयोगी साधक अध्यास हैं जो शास्त्र-विधि-जन्य हैं।

क्रिया नैसर्गिक है, अधर्म वासनाजन्य है और धर्म शास्त्र-जन्य है। शास्त्र कहता है : 'धर्म करो'। धर्म कर्तव्यप्रधान है। जहाँ कर्तापन होता है वहाँ कर्मका (धर्मका) विधान होता है। कर्म स्वयं अनेकरूप होता है और उसका फल भी अनेकरूप होता है। जैसे यज्ञरूप कर्मके लिए अग्नि, साँकल्य, स्रुवा, प्रोक्षणी, प्रणीता, ब्राह्मण, यजमान, ब्रह्मा, होता, ऋत्विज आदि सामग्री चाहिए। यज्ञके फलके रूपमें बताया गया कि यज्ञके फल-फूल नन्दनवन बन जाते हैं, यजमानकी पत्नी स्वर्गमें देवी बन जाती है, साँकल्य-सार अमृत बन जाता है, आदि।

धर्ममें विधि, श्रद्धा, अनुष्ठान और कर्तृत्वका मेल होता है और इस मेलसे उत्पन्न जो अनेकरूप फल होता है, वह सुखप्रद होता है। इसके विपरीत अधर्मानुष्ठानका फल भी अनेकरूप, किन्तु दुःखप्रद होता है। स्पष्ट है कि धर्मका सुख प्रतिद्वन्द्वात्मक होता है। यह फल इहलोक तथा परलोक दोनोंमें हो सकता है; क्योंकि

सुखका करण जो मन है, वह देहसे पृथक् है और देहके न रहने-पर भी रहता है।

शास्त्र कहता है : 'मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करो। नाम ब्रह्म है, ऐसी उपासना करो। गण्डकी-शिला ब्रह्म, है, ऐसी उपासना करो।' इष्ट-प्रधान होनेके कारण इसमें उपासकका कृतंत्र गौण है और उपास्य मुख्य है। उपासना मानसी क्रिया है और धर्मके समान ही यह कर्तृतन्त्रका अंग है। उपासना वस्तुतंत्र नहीं, कर्तृतन्त्र है—इसका विस्तृत निरूपण भगवान् शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रके **तत्तु समन्वयात्** (१.१.४) सूत्रकी व्याख्यामें किया है।

उपासनाका फल एकाग्रताका सुख है। उपास्यसे (इस लोकमें अथवा मरणोपरान्त उपास्य-लोकमें) तादात्म्यापन्न होकर एकाग्रताका सुख उपासकको प्राप्त होता है।

शास्त्र कहता है : **आत्मानं युञ्जीत** (आत्माको जोड़ो)। **योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।** (गीता ६.१०)

योगाभ्यास भी कर्म है और यह भी एक उपासनाके अन्तर्गत है। किन्तु इसमें गौण-कर्तृत्वसे प्रारम्भ करके लीन-कर्तृत्व शेष रहता है। चित्तवृत्तियोंको पहले अभ्यासपूर्वक शान्त रखा जाता है और बादमें अभ्यासकी सहजतासे वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और शान्तिरूप समाधि-फल प्राप्त होता है। किन्तु हेतु-फलात्मक होनेसे समाधि भी परमार्थ नहीं है।

इस प्रकार धर्ममें मुख्य-कर्तृत्व है, उपासनामें गौण-कर्तृत्व है और योगमें लीन-कर्तृत्व है। इनका फल है पुण्य-परिपाकजन्य वृत्तिमें आनन्दरूप आत्माकी अभिव्यक्ति। वह अभिव्यक्ति वृत्ति-विक्षेपसे धर्ममें विक्षेप-प्रधान होती है, वृत्तिकी एकाग्रतासे उपासनामें एकाग्रता-प्रधान होता है तो वृत्तिके निरोधसे योगमें

समाधिरूप होती है। किन्तु तीनों साधन अध्यासके ही अन्तर्गत हैं। अवश्य ही ये साधक अध्यास हैं। जैसे कोई लोहेके सहारे यदि सागर पार करना चाहे तो उसे उस लोहेके जहाजका निर्माण करना ही चाहिए, अन्यथा वह लौह-खण्ड ले डूबेगा। इसी प्रकार यह जो नैसर्गिक अध्यास है, वह एक लौहखण्डके समान है। उसके साथ भवसागरसे पार होनेके लिए शास्त्रने धर्म, उपासना और योगके जहाज बनाये हैं। हाँ, इससे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये सब मूलतः अध्यास ही हैं।

धर्म, उपासना और योग अन्तःकरणमें शमादि बहिरंग साधनकी उत्पत्तिमें परम्परा-साधनके अन्तर्गत स्वीकृत है। ये श्रवणादिक अन्तरंग-साधनकी कक्षामें भी नहीं हैं तब अविद्या-नाशक साक्षात्-साधन तो हो ही कैसे सकते हैं? इसका विवेक 'साधन-विचार' नामक खण्डमें हो चुका है।

जो अध्यास मिटाये वह साक्षात् साधन है। महावाक्यजन्य प्रमाण-वृत्ति ही साक्षात् साधन है। वह ब्रह्मविचारसे होती है। अतः **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**—ब्रह्मका विचार करो, अनन्तकी जिज्ञासा करो, अनन्त तत्त्वको जानो!

(३. ५)

अध्याससम्बन्धी विभिन्न मतोंकी समीक्षा

तं केचित् अन्यत्र अन्यधर्माध्यास इति वदन्ति ! केचित्तु—यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु—यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति।

सर्वथापि त्वन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः स द्वितीयवदिति। (ब्रह्मसूत्रभाष्य)

"कई लोग एकमें दूसरेके धर्मके आरोपको 'अध्यास' कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जिसमें जिसका अध्यास है, उसका भेदाग्रह-निमित्तक भ्रम 'अध्यास' है। अन्य लोग तो जिसमें जिसका अध्यास है, उसमें विरुद्ध-धर्मत्वकी कल्पनाको 'अध्यास' कहते हैं। किन्तु सर्वथा सभी मतोंमें 'अन्यमें अन्यके धर्मकी प्रतीति' इस लक्षणका व्यभिचार नहीं है। इसी प्रकार लोक-व्यवहारमें भी अनुभव है कि शुक्ति ही रजतके समान अवभासित होती है तथा एक चन्द्रमा दो **चन्द्रमाओंके समान प्रतीत** होता है।"

भगवान् भाष्यकार अध्यासकी अपनी (वेदान्तोक्त) परिभाषा दे चुके हैं : **स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।** अर्थात् देश-काल-वस्तुकी उसमें प्रतीति, जिसमें वह है ही नहीं, अध्यास है।

यदि कहें कि जब हैं ही नहीं तो भासती क्यों है ? तो कहते हैं : 'संस्कारोंकी अनादि परम्पराके कारण ही ये स्मृतिरूप भासते हैं।'

दृष्टान्त है, जैसे शुक्तिमें रजत भासता है या रज्जुमें सर्प भासता है और दार्ष्टान्तमें है : आत्मामें प्रपंच भासता है। जैसे शुक्तिमें रजत न सत् है और न असत् (सत् इसलिए नहीं कि उसका बाध हो जाता है और असत् इसलिए नहीं कि भासता है), वैसे ही आत्मामें प्रपंच न सत् है और न असत्। वह सदसत्-युगल भी नहीं; क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। तब आत्मामें प्रपंच सदसद्विलक्षण मिथ्या, अनिर्वचनीय ही है। अनिर्वच-नीयका ही नाम 'मिथ्या' है।

प्रपंचकी आत्मामें न सत्-ख्याति है, न असत्-ख्याति और न सदसत्-ख्याति; है केवल अनिर्वचनीय-ख्याति। जैसे सूर्यकिरणोंमें जलकी मरीचिका अनिर्वचनीय भासती है, शुक्तिमें रजत अनिर्वच-नीय भासता है, रज्जुमें सर्प अनिर्वचनीय भासता है, वैसे ही आत्मामें प्रपंच अनिर्वचनीय भासता है।

वेदान्तमें आत्माको भी 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। इन दोनों अनिर्वचनीयताओंमें भेद जानना आवश्यक है।

प्रपंच सत्त्वेन अनिर्वचनीय है। प्रपंचका सत्त्व नहीं है; वह अपने अधिष्ठानके सत्त्वसे ही सत्तावान्-सा प्रतीत होता है, वास्तवमें वह अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें अनिर्वचनीय (मिथ्या) है।

उधर आत्मा वाणी और मनसे अगोचर होनेसे अनिर्वचनीय है। आत्माका सत्त्व है और कभी कट नहीं पाता; क्योंकि वह अस्ति-प्रत्ययका प्रकाशक है। हाँ, वह मन-वाणीका विषय नहीं, उनका प्रकाशक है। तब अनिर्वचनीयताके प्रकाशकके रूपमें आत्माका निर्वचन तो हो ही सकता है।

सच पूछें तो प्रपंचकी अनिर्वचनीयताका सिद्धान्त वेदान्तका अपना सिद्धान्त नहीं। जो लोग प्रपंचका 'इदमित्थम्' निर्वचन करते हैं, उन्हींकी युक्तियोंसे उन्हींके निर्वचनका निषेध करनेके लिए वेदान्तमें अनिर्वचनीय-ख्याति स्वीकार की गयी है। अपने मतमें प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके सिवा और कोई वस्तु है ही नहीं, फिर निर्वचनीयताका प्रश्न क्या?

खण्डनकारने कहा है: **चिदात्मके ब्रह्मणि सुखमास्महे**। अर्थात् हम तो चिदात्मा ब्रह्ममें आनन्दसे बैठे हैं। यदि तुम कुछ घोटाला (विकल्प) करते हो, तो कहीं न कहीं अज्ञान छिपा बैठा है। तुम्हारा अज्ञान दिखानेके लिए हम प्रपंचको अनिर्वचनीय बोलते हैं। अपने सिद्धान्तमें तो बोलनेकी भी आवश्यकता नहीं; क्योंकि हम तो अबाधित स्वयं-प्रकाश हैं।

अब भाष्यकार दूसरे मतोंमें वर्णित अध्यासके लक्षणोंकी समीक्षा करते हैं। इस प्रकरणको 'ख्याति-प्रकरण' कहते हैं। **तं केचित्** आदिसे आत्म-ख्यातिवादी योगाचार बौद्धों और अन्यथा-ख्यातिवादी नैयायिक-वैशेषिकोंका मत; **केचित्तु** आदिसे अख्यातिवादी सांख्य और मीमांसकोंका मत; **अन्येतु** असत्ख्याति-वादी शून्यवादी माध्यमिकोंका मत तथा **सर्वथापि**से सर्वमतोंसे अविरुद्ध समन्वित सिद्धान्तका उल्लेख आचार्यश्रीने किया है, जिससे उनकी स्वसिद्धान्तर्गत अध्यास-परिभाषा 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'की पुष्टि होती है। अन्तमें **तथा** च से अविरुद्ध सिद्धान्तकी पुष्टि-हेतु दो लौकिक दृष्टान्त दिये गये हैं।

१. **आत्मख्याति**: सर्वप्रथम हम बौद्धों द्वारा मान्य आत्म-ख्यातिका वर्णन करते हैं। बौद्धोंमें चार मत हैं: **माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक** और **वैभाषिक**। माध्यमिक-बौद्धोंके मतमें बाह्य और आन्तर सब शून्य है, अतः उन्हें **सर्वशून्यवादी** भी कहा

जाता है। योगाचारके मतमें बाह्यार्थ शून्य है, परन्तु अन्तरर्थ (क्षणिक) विज्ञान, जिसे वे आत्मा कहते हैं, सत्य है। इसलिए इन्हें **बाह्यार्थ शून्यवादी** भी कहते हैं। सौत्रान्तिक मतमें बाह्यार्थ सत्य है और अन्तरर्थ शून्य है; जब कि वैभाषिकोंके मतमें अन्तर और बाहर दोनों सत्य हैं। अतः इन्हें क्रमशः **अन्तरर्थ-शून्यवादी** तथा **सर्वास्तित्ववादी** कहा जा सकता है।

यदि विभागका आधार शून्य न होकर सत्यत्व हो, तो बौद्धोंके चार विभाग यों भी कर सकते हैं :

१. **बाह्यार्थवादी :** सौत्रान्तिक, अन्तरर्थशून्यवादी। बाहर पदार्थ सत्य है और वही भासता है।

२. **अन्तरर्थवादी :** (योगाचार; क्षणिक विज्ञानवादी; बाह्यार्थ-शून्यवादी)। इनके मतमें आन्तर क्षणिक विज्ञान सत्य है और वही बाहर विषयाकार भासता है।

२. **उभयार्थवादी :** (वैभाषिक; सर्वास्तित्ववादी), इनके लिए बाहर और भीतर दोनों सत्य हैं।

४. **अनुभयार्थवादी :** (माध्यमिक; सर्वशून्यवादी) बाहर-भीतर सब असत् है।

इनमें आत्मख्याति अन्तरर्थवादी योगाचार बौद्धोंकी है। वे कहते हैं कि क्षणिक-विज्ञानरूप बुद्धि ही आत्मा है। इस क्षणिक-विज्ञानके अतिरिक्त बाहर कुछ नहीं है, तो भी अनादि अविद्यावश विज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपसे भासता है। हमें जो यह घड़ी बाहर दीखती है, वह वास्तवमें बाहर नहीं है। हमारा शरीर, बाहरपना और घड़ी—ये सब हमारे भीतर ही बुद्धिमें उसी क्षणिक-विज्ञानके आकार हैं। सम्पूर्ण बाह्य अपनी पृथक्ताके ज्ञानके सहित हमारे क्षणिक-विज्ञान आत्माका ही आकार है।

अतः जगत्-प्रतीति आत्मख्यातिरूप है। इस मतमें अध्यासका लक्षण **अन्यत्र अन्यधर्मावभासः** (अन्यमें अन्यके धर्मोंका अवभास) यही अध्यासका लक्षण हैं। अन्तरर्थ आत्मामें, (क्षणिक-विज्ञानमें वाह्यविषयका अवभास आत्मख्यातिरूप अध्यास है।

किन्तु यह वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि क्षणिक-विज्ञान अनित्य है, इसलिए आत्मख्यातिमें अनित्य आत्माकी अनित्य अनात्मारूपसे ख्याति होती है, जब कि वेदान्तमें सत्य आत्माकी असत् अनात्माके रूपमें ख्याति होती है। बौद्ध-सिद्धान्तमें ज्ञान और आकार दोनों मिथ्या हैं, जब कि वेदान्तमें ज्ञान सत्य है और आकार मिथ्या हैं।[1]

---

1. जैनमतमें ज्ञानको स्वतन्त्र इकाईके रूपमें बदलता सत्य माना जाता है। चींटीके शरीरमें चींटी जैसा और हाथीके शरीरमें हाथी जैसा ज्ञानका आकार 'जीव' माना जाता है। यह जीवात्मा आकारमें बदलता रहता भी शाश्वत सत्य है, संकोच-विकासशील रहता हुआ देशसे देशान्तरमें गमनागमन करता रहता है। प्रत्येक जीवात्मा एक स्वतन्त्र इकाई है। जब वह सदोष होकर रहती है तो 'जीव' कहलाती है और अष्टदूषणोंसे रहित होती है तो 'तीर्थंकर' कहलाती है।

इसमें विचार यह करना है कि जो परिवर्तनशील है, वह शाश्वत कैसे? दूसरे चेतनके संकोच-विकास अथवा देशसे देशान्तरमें गमनागमन करनेके लिए पहलेसे ही दिक्-तत्त्वका होना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञानका आश्रय देश सिद्ध होता है। यह वेदान्तविरुद्ध है; क्योंकि सर्वत्र ज्ञान ही देशका आश्रय होता है।

(वैष्णव लोग भी चेतनको शाश्वत एवं गमनागमन करनेवाला मानते हैं, परन्तु वे परिवर्तनशील या संकोच-विकासशील नहीं मानते।)

बौद्ध कालको ज्ञानका आश्रय तथा ज्ञानको क्षण-प्रध्वंसी मानते हैं। यह भी वेदान्तके विरुद्ध है।

बौद्ध-मतमें कठिनाई यह है कि वे जगत्-प्रतीतिको भ्रम मानते हैं और आत्मख्यातिको उसकी व्याख्या। किन्तु आत्माको वे अनित्य मानते हैं। असत्-भ्रमका अधिष्ठान असत् नहीं हो सकता।

अन्तरर्थके बिना बाहर कोई वस्तु भास नहीं सकती और बाह्यार्थकी किंचित् सत्ताके बिना ज्ञानमें भेदका कोई निमित्त नहीं हो सकता। यदि अन्तरर्थ और बाह्यार्थ दोनों पृथक्-पृथक् सत्य हों अथवा दोनों असत्य हो, तो फिर तीसरा सत्य होगा। इस प्रकार या तो सत्य-पक्षमें अनवस्था होगी या इस वेदान्त-सिद्धान्त-की स्थापना होगी कि एक सत्य है और अन्य सब असत्य। तब असत्की सत्में भासमानतारूप अनिर्वचनीय-ख्यातिकी सिद्धि होगी। इसलिए आत्मख्याति-पक्ष सदोष है।

यों भी आत्मख्याति-पक्ष अनुभवसे असिद्ध है। मनुष्यको शुक्तिमें रजतका भ्रम हो अथवा रज्जुमें सर्पका, उसे यही अनुभव होता है कि सम्मुख ही रजत अथवा सर्प है तथा उसके प्रति लोभ और भयका व्यवहार भी होता हैं। बाधज्ञानसे भी उसकी सम्मुखस्थ शुक्ति या रज्जुमें ही भ्रमकी निवृत्ति होती है।

२. **अन्यथा-ख्याति** : न्याय और वैशेषिक-मतावलम्बी भ्रम-

चार्वाक द्रव्यको ज्ञानका आश्रय मानते हैं, जब कि वेदान्तमें ज्ञान स्वयं द्रव्यका आश्रय है।

इस प्रकार ज्ञानका आश्रय द्रव्य है (चार्वाक), काल है (बौद्ध) अथवा देश है (जैन)—ये नास्तिक दर्शनोंके मन्तव्य हैं। और स्वयं-प्रकाश चेतन देश-काल-वस्तु, तीनोंका आश्रय है, यह वेदान्तमत है। अद्वैतमतमें चेतन एक ही है, अत: यह सब उपाधियोंमें चैतन्यमें ही मिथ्या प्रतीति है। उपासकोंके मतमें ये मायाके अन्तर्गत होनेसे मायापति ईश्वर-चैतन्यके आश्रित हैं तथा इनका प्रकाशक जीव-चैतन्य है।

स्थलमें अन्यथाख्याति स्वीकार करते हैं। प्राचीन नैयायिक ऐसा मानते हैं कि शुक्तिमें सत्य रजतकी ही प्रतीति होती है और उसमें हेतु है नेत्र-दोष। इनके मतमें नेत्रदोषके कारण हट्ट (वाजार) आदिमें उपस्थित सत्य रजत ही शुक्ति-प्रदेशमें दीखता है अथवा उस पूर्वानुभूत सत्य रजतकी संस्कार द्वारा शुक्तिमें प्रतीति होती है। किन्तु नव्य-नैयायिक चिन्तामणिकार इसका खण्डन करते हैं। यदि हट्टादिमें उपस्थित रजत शुक्ति-प्रदेशमें दीखता है, शुक्ति और रजतके मध्यवर्ती सभी पदार्थ दीखने चाहिए और वाधज्ञानका स्वरूप यह होना चाहिए कि 'यह हट्टमें उपस्थित रजत नहीं है।' किन्तु ऐसा कभी किसीको अनुभव नहीं होता। अतः चिन्तामणिकारके मतमें केवल शुक्तिसे भिन्न (अन्यथा) सत्य रजतके पूर्वानुभूत संस्कारों द्वारा शुक्ति ही रजताकार प्रतीत होती है। इस प्रकार अन्यथा (सत्य-रजत) अन्यथामें (सत्य शुक्तिमें) ख्याति होती है। यही अन्यथाख्याति है जिसका लक्षण है: **अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः।**

प्रश्न यह है कि शुक्तिमें रजत-भ्रम या रज्जुमें सर्प-भ्रमका विषय (रजत या सर्प) सत्य है या मिथ्या? वह सत्य है, यह अन्यथाख्यातिवालोंका मत है; और वह आन्तर विज्ञानका परिणाम—आकारविशेष आन्तर-सत्य रजत है, यह आत्मख्यातिवालोंका मत है। इस प्रकार दोनों ख्यातियोंमें केवल ज्ञानाध्यास ही स्वीकार किया जाता है। इनके मतमें शुक्तिमें रजतका अवभास मिथ्या है, रजत मिथ्या नहीं है। अतः 'यह रजत है' यह ज्ञान मिथ्या है और 'यह रजत नहीं है' इस वाधज्ञानसे केवल रजत और शुक्तिके संसर्गरूप मिथ्याज्ञान (संसर्गाध्यास) निवारण होता है।

इसके विपरीत वेदान्तमतमें 'ज्ञानाध्यास'के साथ, 'अर्थाध्यास'

भी स्वीकृत है। शुक्तिमें अनिर्वचनीय रजत है अर्थाध्यास और उस रजतका ज्ञान है ज्ञानाध्यास। यहाँ भ्रमका विषय (रजत) और उसका ज्ञान दोनों ही मिथ्या हैं, दोनों ही बुद्धिस्थ हैं, दोनों ही शुक्तिके अज्ञानके समकाल उत्पन्न हैं और शुक्तिके यथार्थ ज्ञान-द्वारा समकाल ही निवर्त्य हैं। मिथ्या रजतका शुक्तिमें अभाव होते हुए भी मिथ्या प्रतीति होती है, इसलिए उस मिथ्या रजतका शुक्तिके साथ मिथ्या संसर्ग होता है। मिथ्या रजतके अधिष्ठान-ज्ञानसे सभी मिथ्याओंकी एक साथ निवृत्ति हो जाती है। दार्ष्टान्तमें आत्मसत्यमें प्रतीयमान मिथ्या जगत्, उसका ज्ञान एवं संसर्ग आत्माको अबाधित स्वयंप्रकाश, सर्वाधिष्ठान जानते ही निवृत्त हो जाते हैं।

३. **अख्याति** : भ्रमस्थलमें सांख्यवादी और पूर्वमीमांसक **अख्याति** स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि न तो शुक्ति मिथ्या है और न रजत मिथ्या; बल्कि शुक्तिमें रजतरूप ज्ञान मिथ्या है। कैसे? जब हमें शुक्तिको देखकर सदोष नेत्रोंके कारण यह ज्ञान होता है कि 'यह रजत है' तो वास्तवमें दो ज्ञान होते हैं : (१) नेत्रों द्वारा 'इदम्' शब्दकी वाच्य 'शुक्ति'का सामान्य ज्ञान तथा (२) सादृश्यता आदि दोषके कारण पूर्वानु-भूत रजतका स्मृतिज्ञान। दोनों ज्ञान सत्य हैं और इनके विषय शुक्ति तथा रजत भी सत्य हैं। किन्तु नेत्रदोषके कारण शुक्तिका यह विशेष ज्ञान नहीं होता, अतः 'यह' और 'रजत', इन दोनों ज्ञानोंमें विवेक नहीं हो पाता। इसी कारण यह भ्रमज्ञान होता है कि 'यह रजत' है'। जब हमें यह ज्ञान होता है कि 'यह रजत नहीं' तब केवल पहलेके अविवेकका ही बाध होता है। इस प्रकार अख्यातिमें केवल अविवेककी ही ख्याति होती है।

इसीको भाष्यकारने यों उपस्थित किया है :

यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति ।

अर्थात् जिसमें जिसका अध्यास होता है, उसके अविवेकके कारण भ्रम होता है तथा लोभादिकी प्रवृत्ति होती है। भ्रमज्ञान अविवेक-जन्य होते हुए भी मिथ्या नहीं है, ऐसा सांख्य और मीमांसक मानते हैं। उनके मतमें केवल लोभादि प्रवृत्ति-व्यवहार मिथ्या है और बाधज्ञानसे उसीकी निवृत्ति होती है।

इस मतमें दोष यह है कि प्रथम तो उनकी यह धारणा कि भ्रमज्ञान मिथ्या नहीं है, अनुभवसे विरुद्ध है। जो ज्ञान बाधित हो जाय, वह मिथ्या तो है ही। 'यह शुक्ति है, रजत नहीं है' इस बाधज्ञानमें रजतज्ञानका मिथ्यात्व स्पष्ट है। दूसरे, भ्रम-स्थलमें दो ज्ञान होनेकी बात भी युक्तिविरुद्ध है। भ्रमकालमें लोग तो अंगुली दिखाकर यही कहते हैं कि 'यह रजत है' और उसकी ओर दौड़ते हैं। अन्तःकरणमें एक ही साथ स्मृति और प्रत्यक्ष-ज्ञानानुभव नहीं हो सकता। बाधज्ञानमें भी यही अनुभव होता है कि सम्मुखस्थ शुक्तिमें ही रजतका भ्रम हुआ था; न कि यह कि 'मुझे रजतकी स्मृति हुई थी'।

४. असत्ख्याति : अब आचार्य 'अन्ये तु…' आदि लक्षणोंसे सर्वशून्यवादी माध्यमिक बौद्धों द्वारा स्वीकृत असत्ख्यातिका अध्यास-लक्षण वर्णन करते हैं :

यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति ।

अर्थात् जिसमें जिसका अध्यास है, उसीमें विपरीत धर्मकी कल्पना-को अध्यास कहते हैं। जैसे, शुक्तिमें रजतका अध्यास है, तो शुक्ति-में ही शुक्तिसे विपरीतधर्मी रजतकी कल्पनाको अध्यास कहते हैं।

प्रश्न यह है कि शून्यवादी शुक्ति और रजतको तो शून्य (असत्) मानते हैं और फिर अत्यन्त असत् शुक्तिमें अत्यन्त

असत् रजतकी ख्याति भी (असत्-ख्याति) मानते हैं, यह कैसे सम्भव है? यदि अत्यन्त असत्की प्रतीति सम्भव हो तो फिर शशशृङ्ग या गगन-कुसुमादि असत्-पदार्थोंकी भी प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु नहीं होती। अतः असत्ख्याति-प्रक्रिया ठीक नहीं है। दूसरे, भ्रम कभी निरधिष्ठान, असत्में नहीं हो सकता।

भगवान् आद्य शंकराचार्यने विभिन्न ख्यातिवादियोंका केवल अध्यास (भ्रम)-सम्बंधी पक्ष उद्धृत किया है, उनके मतकी समीक्षा नहीं की; अपितु उनके मतोंमें जो स्वपक्ष पोषक तत्त्व हैं, उनका अपने पक्षमें नियोजन किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि भले ही सब वादियोंमें इस पक्षमें सहमति न हो कि भ्रमकी प्रक्रिया क्या है अथवा भ्रमाधिष्ठान और भ्रमरूप वस्तुमें क्या सम्बंध है अथवा उनकी सापेक्ष या निरपेक्ष सत्ता क्या है, परन्तु इस बातमें किसी वादीका मतभेद नहीं है कि अध्यासमें 'अन्यमें अन्यके धर्मकी प्रतीति' होती है:

सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति।

'सभी मतोंमें 'अन्यमें अन्यके धर्मकी प्रतीति' इस लक्षणका व्यभिचार नहीं है।' इस सर्वसम्मत अध्यासके लक्षणकी व्याख्या पहले आचार्यश्री कर चुके हैं। यथा—**अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्त-विविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदं इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।**

सत्यमें मिथ्याका, आत्मामें अनात्माका, अहम्में इदंका, अवभास अध्यास है। इस अध्यासमें अनिर्वचनीय-ख्याति है। दृष्टान्तमें, शुक्तिमें रजत अनिर्वचनीय है। वह रजत न तो अत्यन्त सत्य है; क्योंकि शुक्ति-ज्ञानसे बाधित हो जाता है। वह न अत्यन्त असत् है; क्योंकि प्रतीत होता है। सदसत् भी नहीं है;

क्योंकि सत् और असत् दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः सदसत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है। दार्ष्टान्तमें सत्यमें मिथ्याकी आत्मामें अनात्माकी और 'अहम्'में 'इदम्'की अनिर्वचनीय-ख्याति है।

यदि कहें कि अनिर्वचनीयकी उत्पत्ति और प्रतीतिकी प्रक्रिया क्या है, तो कहते हैं कि अधिष्ठानके अज्ञानसे ही यह सब निष्पन्न होता है। कैसे ? दृष्टान्तमें, जब अन्तःकरण और शुक्तिका सम्बन्ध होता है तो तिमिर आदि दोषोंके कारण वृत्ति शुक्त्याकार नहीं हो पाती, जिससे शुक्तिका आवरण भंग नहीं हो पाता। ऐसी स्थितिमें सादृश्य - सस्कार - मंडित पूर्वानुभूत रजतके संस्कार उदित हो जाते हैं, जिससे शुक्तिके अज्ञानके ही दो विभाग हो जाते हैं—रजत-आकार और रजत-ज्ञान। यही 'अर्थाध्यास' और 'ज्ञानाध्यास' नामसे कहे जाते हैं। प्रमेयमें (शुक्तिमें) रजत-आकारका अध्यारोप होता है और प्रमातामें रजत-ज्ञानका। इस प्रकार भ्रमस्थलमें रजत आदि विषय और उसका ज्ञान एक ही समय अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं। 'यह रजत नहीं है, शुक्ति है' इस बाधज्ञानसे केवल शुक्तिके अज्ञानका नाश होता है जिसके साथ ही उसीसे उत्पन्न मिथ्या रजत और उसके ज्ञानकी भी निवृत्ति हो जाती है।

मूल बात अधिष्ठानके अज्ञानकी है। आत्माके अज्ञानसे ही पूर्व-पूर्व अनुभूत देश-काल-वस्तुके संस्कार आत्मापर आरोपित करके आत्माको अन्यरूपसे (देश-काल-वस्तुरूप, जगत्रूपसे) प्रतीत कराते हैं। यह प्रपंच निष्प्रपंच आत्मामें स्मृतिरूप अध्यारोप है :

स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

अध्यास-सिद्धान्तको अब दृष्टान्तसे स्पष्ट करनेके लिए आचार्यश्री दो दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं :

तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः स द्वितीयवदिति।

'लोकमें भी यह अनुभव है कि शुक्ति रजतके समान भासती है तथा एक चन्द्रमा (अंगुली आदि व्यवधानके कारण) दो चन्द्रमाओंके समान प्रतीत होता है।'

यहाँ शुक्ति-रजतका दृष्टान्त उदाहरणमात्र है। रज्जुमें सर्प, स्वर्णमें पीतल, गेरुआ साड़ीवाली स्त्रीमें संन्यासी—ये सब लोकमें एक ही कोटिके उदाहरण हैं। इन सबमें अन्य वस्तुमें अन्यकी प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है। किन्तु यदि वस्तु अद्वितीय हो तो उसमें अध्यास नहीं देखा जाता। इसमेंसे पूर्वपक्ष यह निकलता है कि यदि वेदान्तमतमें चिदात्मा अद्वितीय है तो उसका अनेक जीवोंके रूपमें प्रतीत होना संभव नहीं; क्योंकि वहाँ अध्यासको गुंजाइश ही नहीं है!

श्री शंकर कहते हैं: ऐसा नहीं है। अभिन्न (एक) वस्तु भी लोकमें दो देखी जाती है। जिस प्रकार एक चन्द्रमा नेत्रपर अंगुली लगानेसे दो चन्द्रमा प्रतीत होता है उसी प्रकार अविद्या-उपाधिसे एक चिदात्मा ही दो—ब्रह्म और जीव, अथवा अनेक, ब्रह्म और अनेक जीवके रूपमें प्रतीत होता है।

इससे पूर्व कि हम आचार्यके संभावना-भाष्यका अध्ययन प्रारम्भ करें, इस बातपर विचार कर लेना उचित है कि वेदान्तकी द्रष्टा-दृश्यकी प्रक्रिया सांख्यके द्रष्टा-दृश्यकी प्रक्रियासे, न्यायके कार्य-कारणकी प्रक्रियासे तथा पूर्वमीमांसाकी कर्तृ-कर्म प्रक्रियासे किस प्रकार भिन्न है और उनसे क्यों श्रेष्ठ है। इस विवेचनमें ही अध्यासकी भूतपूर्व व्याख्याकी स्पष्टता तथा भविष्यकी संभावना और प्रमाण-भाष्यकी व्याख्याके बीज सन्निहित हैं।

(३.६)

द्रष्टा-दृश्य दो या एक ?

प्रश्न है कि अध्यास प्रमाणसे सिद्ध है या नहीं ?

इसमें दोहरी पकड़ है। यदि प्रमाणसे सिद्ध है तो वह ज्ञानसे निवर्त्त्य नहीं होगा। यदि असिद्ध है तो उस झूठे अध्यासकी निवृत्तिके लिए शास्त्रारम्भ अनावश्यक है।

श्री शंकराचार्य अध्यासकी संभावना लक्षण-प्रमाणसे केवल 'अनिर्वचनीय' रूपसे सिद्ध करते हैं, 'सत्त्वेन' नहीं। अनिर्वचनीय अध्यास ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे निवर्त्त्य है, अतः शास्त्रारम्भकी उपयोगिता है।

अध्यास ही सर्वदोषों सर्वदुःखोंका बीज है और उसकी निवृत्ति है सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति। इसकी प्रक्रिया क्या है ?

जितने मत-मतान्तर हैं पहले व्यक्तित्वकी स्थापना करते हैं और उससे पुनः साध्य-साधनका निरूपण करते हैं। जहाँ हम साधनकी चर्चा करते हैं वहाँ व्यक्तित्वकी स्थापना, उसका परिच्छिन्नत्व और उसका कर्तृत्व स्वीकार करके ही कुछ कहा जाता है।

कर्म कर्तृ-प्रधान है और साधन तथा फल, दोनोंमें विक्षेपरूप है।

उपासनामें कर्ताका कर्तृत्व गौण है, साधनमें भाव-वृत्तिकी

एकाग्रता है तथा फलमें, इष्टमें वृत्तिकी एकाग्रता है। उसी एकाग्र वृत्तिसे इष्टके साथ तादात्म्य तथा उसके संस्पर्शजन्य सुखका अनुभव होता है।

योगमें प्रारम्भमें तो मुख्य कर्तृत्व रहता है; क्योंकि योगीको प्रतिलोम परिणामकी अन्तर्मुख क्रिया इष्ट होती है। किन्तु एकबार इस क्रियाको चालू करनेके पश्चात् कर्तृत्व गौण हो जाता है और अन्तमें समाधिमें कर्तृत्व अज्ञातरूपसे रह जाता है। समाधिकालमें वृत्ति न रहनेके कारण लीन-कर्तृत्व रहता है; क्योंकि उसमें कर्तृत्वकी भ्रान्ति मिटानेवाली वृत्ति ('मैं पुरुष अकर्ता हूँ') का नाश नहीं होता। समाधिमें कर्तृत्वका बीज और इसलिए जगत्का बीज भी अज्ञातरूपसे शेष रहता है। तभी तो समाधिसे उत्थान होनेपर पुरुषको समाधिसे पूर्वकी ही भाँति सब भेद फुरते हैं। जैसे : पुरुष-पुरुषका भेद, पुरुष-जगत्का भेद, पुरुष-ईश्वरका भेद, ईश्वर-जगत्का भेद और जगत्-जगत्का भेद। समाधिसे उठनेपर मनुष्य अपने बेटेको भी पहचानता और अधूरे काम भी पूरे करता है।

इस प्रकार कर्म, उपासना और योग, तीनोंमें कर्तृत्व रहता है। इस कर्ता द्वारा होनेवाले कर्मका फल उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य, विकार्य, अथवा विनाश्य इन्हींमें से कुछ होगा। घटका उत्पादन किया जा सकता है, वह किसीसे उधार लाया जा सकता है, उसे सजाया विकृत किया अथवा फोड़ दिया जा सकता है। किन्तु हर हालतमें कर्मका फल विनाशी होता है तथा कर्ताके अधीन होनेसे परतंत्र। इसलिए यदि ईश्वर-प्राप्ति भी किसी कर्म, उपासना या योगसाधनका अंग हो तो उसे भी विनाशी एवं परतंत्र होना पड़ेगा। साथ ही साधकका कर्तापन और परिच्छिन्नत्व नष्ट न होनेसे आत्माकी ब्रह्मरूपताका अनुभव ही सिद्ध न होगा; फिर अध्यासकी निवृत्ति कैसे होगी?

इसपर कुछ लोग कहते हैं, जिनमें वेदान्ती भी हैं, कि निवृत्तिके लिए विचार करना चाहिए। किन्तु विचारका क्या स्वरूप हो? कार्य-कारणका विचार भी विचार है, कर्तृ-कर्मका विचार भी विचार है, व्यापक-व्याप्यका विचार भी विचार है। पूर्वापरका विचार, नित्यानित्यका विचार, सर्वात्मकताका विचार, द्रष्टा-दृश्यका विचार—ये सभी तो विचार हैं। इनमेंसे किस विचारसे अध्यासकी निवृत्ति होती है?

तनिक कार्य-कारणका विचार करें। हम पहले कार्यकी सिद्धि इन्द्रियों द्वारा कर लेते हैं, पश्चात् उसके कारणकी सिद्धि उसके उपादानके रूपमें करते हैं। कारण अपने कार्यमें अनुगत होता है, यह ऐन्द्रियक अनुभवसे ही सिद्ध है। घटमें मृत्तिका, आभूषणमें स्वर्ण तथा शस्त्रोंमें लोहरूप कारणकी व्यापकताके उदाहरण हैं। अतः कारण सर्वात्मक तथा सर्वव्यापक होता है। यह दूसरी बात है कि प्रतीयमान जगत्का कारण जड़ है अथवा चेतन। जड़ है, यह भौतिकवादियोंका मत है और चेतन है, यह है उपासकोंका मत। किन्तु कारण (जड़ द्रव्य, अथवा देश अथवा द्रव्यदेशावच्छिन्न चैतन्य) की सर्वव्यापकता ऐन्द्रिक अनुभवके आधारपर ही सिद्ध है। उसके लिए शास्त्रप्रमाणकी आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार, पूर्वापरका कालविभाग भी द्रव्याश्रित होनेके कारण तथा जगत्कारणकी नित्यता भी ऐन्द्रिक अनुभवके आधारपर सिद्ध है।

जैन यदि सर्वव्यापक देशको कारण स्वीकार करते हैं, तो बौद्ध नित्यकालको और चार्वाक सर्वात्मक द्रव्यको। तीनों जड़वादी दार्शनिक हैं और इनको व्यापकता, लुप्तता तथा सर्वात्मकता द्रव्यमूलक ही है।

भक्त लोग चेतन ईश्वरको देश-काल-वस्तुरूप जगत्का कारण

मानते हैं तथा ईश्वरको सर्वव्यापक, नित्य तथा सर्वरूप मानते हैं। साथ ही ईश्वरको अन्य भी मानते हैं।

प्रश्न यह है कि ईश्वरकी सर्वव्यापकता, नित्यता तथा सर्व-रूपता उसकी चेतनताके धर्म हैं या उनमें कोई अन्य प्रमाण है ? यदि चेतनताके धर्म हैं, तो जीव-चैतन्यमें भी वे होने चाहिए, जो नहीं हैं। वस्तुतः चेतनका केवल एक ही धर्म है और वह है प्रकाशकता। ईश्वरके सर्वव्यापकता आदि गुण द्रव्यमूलक ही हैं। वास्तवमें चेतनमें कारणताके आरोपके फलस्वरूप ये चेतनके औपाधिक धर्म हैं। किन्तु उपासक ऐसा नहीं मानते। ईश्वर यदि हमसे भिन्न है और यदि उसकी कृपासे अध्यास निवृत्त होता है, तो उसकी कृपाको आकृष्ट करनेके लिए कुछ करना पड़ेगा। वहाँ पुनः व्यक्तित्वका प्रस्थापन तथा साध्यकी अल्पताका प्रसंग प्राप्त होगा।

कारण चाहे जड़ मानें या चेतन, उसकी व्यापकता, नित्यता अथवा सर्वरूपताके विचारसे अध्यास निवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयंव्यापकता आदि धर्म चेतनके उपाधिजन्य अध्यास हैं। कार्य-कारणविचार, व्यापक-व्याप्यविचार, पूर्वापर-विचार, नित्यानित्य-विचार तथा सर्वात्मकताका विचार, इनमेंसे कोई भी अथवा सब मिलकर भी अध्यासको निवृत्त करनेमें साक्षात् उपयोगी नहीं है।

कर्तृ-कर्म-विचार भी अध्यास-निवृत्तिमें उपयोगी नहीं है। कर्ममें कर्ता और उपादान दोनोंकी आवश्यकता है। उपादानका विकारी होना तथा कर्ताका चेतन होना अनिवार्य है। साथ ही दोनोंकी पृथक्ता भी आवश्यक है। इस प्रकार कर्तृ-कर्मविचारसे विचारककी अपनी परिच्छिन्नता तथा उपादानके प्रति पराधीनता ही हाथ लगेगी। अधिक-से-अधिक अपनेसे पृथक् महान् ईश्वरका

कर्तृत्व तथा महान् उपादान प्रकृतिका विकारित्व सिद्ध हो पायेगा। इससे न तो विचारकका अध्यास मिटेगा, न परिच्छिन्नता और न पराधीनता। चेतनका कर्तृत्व, चाहे वह जीवमें आरोपित हो या ईश्वरमें, केवल अध्यासमूलक है। यों भी कर्तृ-कर्मविभाग निर्माण-विभाग है।

यदि अध्यास किसीका किसीके ऊपर वास्तविक (कर्म-मूलक) अथवा भावनात्मक लेप होता, तब तो वह कर्म या उपासना या कृपा या कार्य-कारण-विचारसे निवर्त्य होता। परन्तु अध्यासका स्वरूप तो यह है कि द्रष्टामें जहाँ दृश्यकी अन्यता, पराधीनता, परप्रकाश्यता, परिच्छिन्नता, द्रव्यता, विनाश्यता नहीं हैं, वहाँ उनकी प्रतीति होकर उनके अविचारसे 'यह मैं और यह मेरा' रूप व्यवहार होता है। दूसरे शब्दोंमें आत्मामें जहाँ देश-काल-वस्तु नहीं हैं, वहीं उनका प्रतीत होना अध्यास है। **स्वाभावेऽधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्**—अपने अभावके अधिकरणमें भासमान हो रहे मिथ्या-पदार्थोंका भासमान होना तथा उनकी संस्कारमूलक अनादि-परम्परासे प्रेरित होकर स्मृतिरूप 'अहमिदं ममेदं' का व्यवहार अध्यास है। इसका अर्थ हुआ कि अध्यास अज्ञानमूलक है। द्रष्टाके स्वरूपका अज्ञान ही अध्यासका जनक है तथा उसका ज्ञान ही अध्यासका निवर्तक है।

इसलिए जब अध्यास-निवर्तक विचारकी बात हम करते हैं, तो उसका तात्पर्य द्रष्टा-दृश्यविचार, अधिष्ठान-अध्यस्तविचार, सत्य - मिथ्याविचार, अनन्त-सान्त - विचारसे होता है। दो वस्तुओंके अविवेकसे एकका दूसरेपर अध्यास होता है तथा विवेकसे उनका यथावत् अलगाव हो जाता है। ('विवेक' शब्दका अर्थ ही पृथक्करण है। 'विचिर पृथक्भावे' से विवेक शब्द निष्पन्न होता है) यह आवश्यक नहीं है कि पृथक् की गयी दोनों वस्तुएँ

सत्य ही हों। अध्यासमें 'सत्य' और 'मिथ्या'का मिथुनीकरण है, सत्य और सत्यका नहीं। यही वह मूल अन्तर है, जो वेदान्तोक्त द्रष्टा-दृश्य-विवेकका सांख्योक्त द्रष्टा-दृश्य-विवेकसे भेद करता है। सांख्यमें दृश्य और द्रष्टा दोनों सत्य हैं, जब कि वेदान्तमें दृश्य मिथ्या है और 'द्रष्टा है सत्य।

दीखनेमात्रसे दृश्य सत्य नहीं हो सकता। अस्तित्व और भासमानतामें अन्तर है। दृश्य कभी दीखता है, कभी नहीं भी दीखता और द्रष्टाका कभी अभाव नहीं होता। यदि कहें कि दीखनेमात्रके अतिरिक्त अस्तित्व भी क्या होगा तो ठीक है, द्रष्टा-दृश्य दोनों भासमान हैं। किन्तु वस्तुएँ जो कभी दीखती हैं और कभी नहीं दीखतीं, बाधित भासमान हैं। जो वस्तु कभी किसी कालमें अभासमान नहीं होती, वह अबाधित भासमान है और वही सत्य है, वही अस्तित्वमान है। आत्मा (द्रष्टा) हो वह अबाधित सत्य है। जो दृश्य है, वह द्रष्टासे ही भावाभावको प्राप्त होता है, अतः मिथ्या है। दृश्याभावके अधिष्ठानमें ही दृश्य प्रकाशित होता है, अतः मिथ्या है। न तो मिथ्याका अभासमान होना आवश्यक है और न भासमानका सत्य होना। बाधित भास-मान मिथ्या है और अबाधित भासमान सत्य। अबाधित भासमान-बाधित भासमानका सत्यवत् भास तथा स्वीकृति अध्यास है और अबाधित-भासमानके स्वरूपमें बाधित भासमानका अत्यन्ताभाव-बोध है-अध्यास-निवृत्ति। हाँ, अबाधित भासमानमें बाधित भास-मानकी मिथ्या-प्रतीति जीवन्मुक्तिका सूत्र है।

वेदान्तमें सत्यको 'वस्तु' और मिथ्याको 'अवस्तु' भी कहा जाता है। इसपर सांख्यवादी पूछते हैं कि वेदान्तियोंकी अविद्या या अज्ञान वस्तु है या अवस्तु? यदि वस्तु है तो वेदान्त-सिद्धान्तकी हानि होती है; क्योंकि सत्य दो नहीं हो सकते तथा सत्यकी

निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि अवस्तु है, तो मिथ्या होनेसे उसमें वन्धनकी योग्यता नहीं है, तव ब्रह्म-विचार व्यर्थ है? इसपर वेदान्ती उत्तर देते हैं कि अज्ञान न तो 'वस्तु' है और न 'अवस्तु', अपितु 'अनिर्वचनीय' है। अर्थात् वस्तु-अवस्तुसे विलक्षण, प्रत्येकके अनुभवसे सिद्ध तथा अपने आश्रय और विषयकी एकताके ज्ञानसे निवर्त्य तथ्य है।

यहाँ थोड़ा यह भी विचार कर लें कि द्रष्टा और दृश्यमें अथवा चेतन और जड़में अथवा 'मैं' और 'यह'में कौन अधिष्ठान है और कौन अध्यस्त?

चार्वाकका मत है कि जड़ अधिष्ठान है तथा चेतन अध्यस्त है। उपासक-वर्ग चेतनको अधिष्ठान तथा जड़को अध्यस्त मानता है। बौद्ध लोग जड़ और चेतन दोनोंको अध्यस्त मानते हैं तथा एक तीसरे तत्त्व 'शून्य' को इनका अधिष्ठान मानते हैं। वेदान्ती कहते हैं कि किसी भी वस्तु-अवस्तुकी सत्ताका पता ज्ञानसे ही होता है। ज्ञान पूर्ववर्ती होता है तथा जड़ उत्तरवर्ती; इसके विपरीत नहीं हो सकता। फिर दोनों समानसत्ताके भी नहीं हो सकते, अन्यथा उनका प्रकाशक चैतन्य उनसे पृथक् होगा। इस प्रकार वेदान्तमतमें चेतन ही सर्वाधिष्ठान है, परन्तु वह जड़का कारण नहीं, कर्ता नहीं। चेतन अबाधित भासमान रहता है तथा जड़ उसीमें बाधित भासमान प्रतीत होता है। वस्तुतः दृश्यत्व ही जड़त्व है। अतः कालका अनन्तत्व-क्षणिकत्व, देशका संकोच-विस्तार तथा द्रव्यकी कार्य-कारणता सभी कुछ दृश्य होनेसे जड़ हैं। जड़त्व और क्षणिकत्वसे विलक्षण, संकोच-विस्तार और कार्य-कारणभावसे विलक्षण जो प्रकाशमानता अथवा ज्ञान है, वह आत्मस्वरूप है, द्रष्टाका स्वरूप है। यह चेतन साक्षी ही देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान है और इनकी उपाधियोंसे यही सर्वाधार, सर्वव्यापक, नित्य और सर्वात्मक ईश्वर कहलाता है।

यह शुद्ध चेतन द्रष्टा दृश्यके साथ मिलकर अपनेको बाधित अनुभव करता है—यही अज्ञान और अध्यास है। अध्यास तीन प्रकारसे बन्धन उपस्थित करता है :

(१) दृश्य धर्मके साथ अध्यास अपनेमें जड़ताका, परिच्छिन्नताका तथा जन्म-मृत्युका बन्धन उपस्थित करता है। उदाहरणार्थ : हम अपनेको जन्म-मरणवाला क्यों मानते हैं ? अपनेको देह माननेके कारण।

(२) धर्मीके साथ अध्यास अपनेमें सुख-दुःख, राग-द्वेष, आवागमनका भ्रम और बन्धन उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ : हम अपनेको पापी-पुण्यात्मा क्यों मानते हैं ? अपनेको देही, कर्ता तथा इन्द्रियमान् मानकर। हम अपनेको रागी-द्वेषी क्यों मानते हैं ? अपनेको अन्तःकरणवान् मानकर। हम अपनेको सुखी-दुःखी क्यों मानते हैं ? अपनेको भोक्ता मानकर। हम अपनेको आवागमन-शील क्यों मानते हैं ? अपनेको लिंगशरीरवाला मानकर, आदि। अपनेको मनुष्य, देवता, ईश्वर कोई भी धर्मी मानना इसी अध्यासके अन्तर्गत है।

(३) वस्तुसत्ताका अध्यास अपनेमें कल्पित श्रेष्ठता अथवा कनिष्ठताका बंधन उत्पन्न करता है। मैं व्यष्टि हूँ, समष्टि हूँ, उपादान हूँ, नित्य हूँ, कारण हूँ, कार्य हूँ, व्यापक हूँ, सर्वात्मक हूँ आदि—ये सब इसी अध्यासके उदाहरण हैं।

मूल बात है कि अपने आपको स्वयंप्रकाश, अबाधित चिद्-वस्तुके अतिरिक्त कुछ भी मानना और उसका किसी भी दृश्यके साथ कोई भी सम्बन्ध मानना अध्यास है। संसारके समस्त अनर्थ इसी अध्यासके कार्य हैं। आत्मामें अपने अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है और 'कुछ' आत्माके विना सत्तावान् नहीं है, यही यथार्थ बोध है। सब कुछ बाधित हैं और आत्मा अबाधित। जिसका

आत्मामें बाध है, उसका आत्मामें कोई परिच्छेद नहीं है और इसलिए आत्मा सर्वतंत्रस्वतंत्र है।

किसीने महात्मासे पूछा : "शास्त्रका सार बताइये कि पूजा कैसे करें ?" महात्माने कहा : "अहं एतत् न' अर्थात् 'मैं यह नहीं हूँ' यही शास्त्रका सार और पूजाका प्रकार है।" 'यह' का अर्थ साढ़े तीन हाथकी देहमात्र नहीं होता। सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, सम्पूर्ण जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-समाधि अवस्थाएँ सम्पूर्ण कार्य-कारण सत्ताएँ और उनकी प्रक्रियाएँ, सम्पूर्ण अभिमान और भोग, सुख-दुःख, राग-द्वेष—ये सब तथा वह सब कुछ, जो भी दृश्यमान है, होता है, होगा—'यह'का वाच्यार्थ है। 'वह यह मैं नहीं हूँ' यही अध्यास-निवर्तक विचार है।

यह द्रष्टा-दृश्य-विचार बड़ा विलक्षण है। कारण, कार्य स्वयं तथा उनकी पूर्वापरता (कारण पूर्व होता है, कार्य उत्तर), अन्तरंगता (कारण अन्तरंग होता है, कार्य बहिरंग) तथा आकृतिभेद, सभी कुछ दृश्यकी कोटिमें है। द्रव्यमूलक देश-काल-वस्तु जो प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय हैं तथा उनके आधारपर अनुमित जो अनन्त देश, अनन्त काल, द्रव्य-समष्टि, तथा इनका ऐक्य है, सभी कुछ दृश्य है। जो दृश्य है वह सत्य भी हो, यह आवश्यक नहीं। स्वप्नके, मायाके, गन्धर्व-नगरके पदार्थ भी तो दृश्य होते हैं, परन्तु दृश्य होनेसे ही वे सत्य नहीं हो जाते। सम्पूर्ण दृश्य-पदार्थ अपने देश और कालसहित जो अन्यत्र भासते हैं, वे वास्तवमें अन्यत्र नहीं, अपनेमें होते हैं। 'मैं नहीं हूँ' इस बाध-कल्पनासे विनिर्मुक्त जो आत्मसत्ता है, उस द्रष्टामें ही उसीको, उसीसे वही दृश्यरूपमें दीख रहा है। दृश्यमें अन्यत्वकी कल्पना मिथ्या है।

अनन्तदेशकी सीमाएँ तथा अनन्तकालका आदि और अन्त

अज्ञान ही हैं। वे केवल कल्पनाकी वस्तु हैं। जो कल्प्य है, वह द्रष्टासे अन्य नहीं हो सकता। जो कल्प्यावच्छिन्न चेतन है, वही कल्पनावच्छिन्न चैतन्य है और वास्तवमें वही निरवच्छिन्न चैतन्य है। दृश्य वहीं दिखता है, जहाँ दृश्याभाव है। अतः द्रष्टामें दृश्य मिथ्या है, यद्यपि प्रतीति-कालमें वह व्यवहार्य है। दृश्य व्यवहार्य है तो द्रष्टा अव्यवहार्य। दृश्य मिथ्या है तो द्रष्टा सत्य। सत्य और मिथ्याका मिथुनीकरण ही व्यवहार है। अविविक्त मिथुनीकरण अध्यास है और विविक्त मिथुनीकरण अध्यास-निवृत्तिका साधन।

द्रव्यप्रधान प्रक्रियामें कार्य-कारणका विचार होता है। काल-प्रधान प्रक्रियामें पूर्वापरका विचार होता है। देशप्रधान प्रक्रियामें लम्बाई-चौड़ाईका विचार होता है। किन्तु वेदान्तमें द्रष्टा-दृश्यका विचार होता है। वही अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्मतत्त्वके अधिगमके सन्निकट है। हमारा जो आत्मचैतन्य है, वह देश-काल-वस्तुकी कल्पनासे विनिर्मुक्त होनेके कारण न देहसे देहान्तरको प्राप्त होता है, न जन्म-मरणको प्राप्त होता है। न गमनागमनशील बनता है और न रूपान्तरको प्राप्त होता है। यदि द्रष्टामें यह सब कुछ प्रतीत होता है, तो उसके शुद्धस्वरूपके अज्ञानसे ही प्रतीत होता है। प्रतीति तो दृश्य है और उस प्रतीति-का प्रकाशक एवं अधिष्ठान द्रष्टा आप स्वयं हैं। आपमें ये सब कुछ नहीं हैं। ये सब दृश्यमें और आपमें केवल अध्याससे प्रतीत होते हैं। अतः द्रष्टा-दृश्यके सत्य-मिथ्या-विवेकसे, अधिष्ठान-अध्यस्त-विवेकसे तथा द्रष्टाके शुद्ध स्वरूपके विचारसे यह बन्धक अध्यास निवृत्त हो जाता है।

द्रष्टामें दृश्य कहाँ? द्रष्टामें दृश्य कब, क्या? द्रष्टामें यदि कहाँ, कब, क्या हो तो वह दृश्य हो जायगा। यह तो केवल

द्रष्टाकी दृष्टि है। अतः आइये इस अध्यासके निरूपणमें बड़ा भारी लाभ है। यह साधन-साध्यका विवेक नहीं है, वह तो कार्य-कारणके विचारमें होता है। यह द्रष्टा-दृश्यका विचार है, ब्रह्म-विचार है। अनीश्वरवादी (बौद्ध और जैन) और ईश्वरवादी (नैयायिकादि) दोनों आत्माका देश-देशान्तरमें गमनागमन, पुनर्जन्म और कर्मानुसार सुखी-दुःखी होना मानते हैं। परन्तु वेदान्त ही केवल एक ऐसा दर्शन है, जो आत्माके पुनर्जन्म आदिको अज्ञानजन्य मानता है। कार्य और कारण दोनों दृश्य हैं। चेतन जड़ नहीं हो सकता और जड़ चेतन नहीं। द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता और दृश्य द्रष्टा नहीं। व्यावहारिक जड़ और चेतन दोनों दृश्य हैं, एक इदं-प्रत्ययका विषय है और दूसरा अहं-प्रत्ययका। सोपाधिक चेतन ही चेतनपदके व्यवहारका विषय होता है। चेतनका विभुत्व अथवा अणुत्व औपाधिक ही है, वास्तविक नहीं। विभुत्व, अणुत्व, नित्यत्व, क्षणिकत्व सब दृश्य कोटिमें ही हैं, द्रष्टाके स्वरूपमें नहीं। अन्तःकरणमें तत्तदाकार कल्पना विषय अथवा विषयीरूपमें भासती है। कल्पनासे भिन्न कल्प्यका कोई अस्तित्व नहीं है और कल्पनामात्र दृश्य है।

जो दृश्य है वह मिथ्या है। प्रपंच दृश्य है, अतः मिथ्या है : **प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्।** प्रपंच मिथ्या है; क्योंकि दीख रहा है। एक मूर्खकी बात और एक विद्वान्‌की बातमें कितना अन्तर है। मूर्ख कहता है : प्रपंच सच्चा है, क्योंकि दीख रहा है। विद्वान् कहता है : प्रपंच मिथ्या है; क्योंकि दीख रहा है। एक ही हेतुसे दो नितान्त भिन्न निष्कर्ष!

दृश्यस्य दृश्याभावाधिष्ठाने दृश्यमानत्वात्।

दृश्य उसके दृश्यभावके अधिष्ठान आत्मवस्तुमें दीख रहा है। दृङ्मात्रके ज्ञानस्वरूपमें यह ज्ञेय दीख रहा है, जिसमें ज्ञेयका

अभाव दीखता हैं। प्रपंच ज्ञानमात्र ही है और उसकी विषयता इसके अभावके अधिष्ठान अन्तःकरणमें ही है। इसलिए जब हम अपनेको 'यह' बोलते हैं—सुन्दर, सुसज्जित, अमेरिका रिटर्न आदि, तब हम आत्माको ज्ञेयकी कोटिमें, दृश्यकी कोटिमें डाल देते हैं। आकृतिकी ये रेखाएँ आप नहीं हैं, हड्डी-माँस-चाम आप नहीं हैं। आप वे हैं जिसे 'यह' सब मालूम पड़ता है। कितने सुन्दर, सभ्य, सुसंस्कृत आये और चले गये, परन्तु जिसमें ये सब समा गये, उसीमें ये दिखते थे। उसीमें उसीको ये दिखते हैं और वही स्वयंप्रकाश अधिष्ठान आप हैं!

अध्यासकी परिभाषाओंमें मतभेद हो सकता है (जैसा पूर्व-अनुच्छेदमें हम देख चुके हैं), परन्तु एक बातमें सब वादी एकमत हैं कि अध्यासमें अन्यमें अन्यके धर्मोंकी प्रतीति होती है। द्रष्टामें जहाँ देश-काल-वस्तु नहीं हैं, वहीं उनकी प्रतीति होती है, और जिसे ये प्रतीत होते हैं वही अपने स्वरूपको न जाननेके कारण इन्हें अपनेसे अलग देखता है, बाहर देखता है!

द्रष्टामें चार बातें बिलकुल गलत हैं: कहाँ, कब, क्या और अन्यत्व। कहाँ, अर्थात् देश-कल्पना, बाहर-भीतरकी कल्पना, संकोच-विस्तारकी कल्पना। देश केवल कल्पना है और द्रव्य उसका आधार है। द्रष्टा कल्पनाका प्रकाशक है। इसलिए देशमें द्रष्टा नहीं है। इस भौतिक देहको आधार मानकर कल्पित किये अन्तर्देश और बहिर्देशमें द्रष्टा नहीं है, अपितु देशकी कल्पना स्वयं द्रष्टामें है। वह कल्पना जाग्रत् और स्वप्नमें द्रष्टामें खेलती है और सुषुप्तिमें उसीमें लीन हो जाती है।

कब, अर्थात् काल-कल्पना, पूर्वापरकी कल्पना, आदि-अन्तकी कल्पना, कार्य-कारणकी कल्पना। काल भी केवल कल्पना है और उसका आधार है द्रव्यकी गति। द्रष्टा कल्पनाका प्रकाशक

है, इसलिए द्रष्टा कालमें उत्पन्न नहीं होता और न मरता है। द्रष्टाको वन्धन न कभी पहले था, न है और न कभी आगे होगा।

मुसलमान तथा ईसाई मानते हैं कि सृष्टि (अर्थात् कर्म, जीव, जगत् और द्रव्य) पहले नहीं थी, पीछे ईश्वरने वना दी। दूसरे शब्दोंमें जीवका वन्धन पहले नहीं था, पीछे ईश्वरने बनाया, अतः वह सृष्टि रहते नाश्य नहीं है। सांख्य और योगमतावलम्बी वन्धनको अनादि मानकर सान्त मानते हैं और उसमें विवेक-ख्याति अथवा निर्विकल्प समाधिको हेतु मानते हैं। पूर्वमीमांसा-वाले वंधनको अनादि नित्य मानते हैं (न कदाचित् नीदृशं जगत्)। वौद्धोंका कहना है कि वन्धनका अनादित्व अथवा सान्तत्व अज्ञानदशामें सांवृतिक है और शून्यतापत्तिसे निर्वाण होता है। वेदान्ती कहते हैं कि अवाधित सत्ता आत्मसत्य है। देश, काल, कर्म, कारण, कर्ता, सर्वज्ञता आदि सव औपाधिक होनेसे दृश्य हैं, प्रकाश्य हैं। जो दृश्य है वह द्रष्टाकी दृष्टिके अतिरिक्त कुछ नहीं है और दृष्टि दृङ्मात्र ही है। प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

जो आत्मवस्तु है, वही अन्यरूपसे भासतीभर है। आत्मामें अन्यत्व नहीं है अथवा अन्यत्व आत्मामें वाधित भासमान हैं। इसी प्रकार आत्मामें देश, काल और द्रव्य वाधित भासमान हैं, अतः वे मिथ्या हैं, आत्माका स्वरूप नहीं हैं। जैसे जो काल है, वही क्षणके रूपमें भासता है, परन्तु कालमें क्षण नहीं है, वैसे ही आत्मा ही इस निखिल प्रपंचके रूपमें भासता है, परन्तु आत्माके स्वरूपमें यह निखिल प्रपंच नहीं है।

एक दिन हमने कालसे भेंट की थी। चार वार हमें मृत्युके रूपमें कालके दर्शन हुए—वैठे-वैठे, लेटे-लेटे, वीमारीमें तथा साधनामें। चारों वार कालने हमें यही वताया कि वह निरवयव

है। क्षण, दिन, रात, पक्ष, मास, कल्प, मन्वंतर आदिके जो कालिक-विभाग हैं, वे सब औपाधिक हैं। लोग सूर्यसे, चन्द्रसे, पृथ्वीसे, घड़ीसे कालको मिलाकर उसके खण्ड-खण्ड कर देते हैं। कालसे हमने कहा : 'यदि तू निरवयव है तो ब्रह्म है!' कालने कहा : 'ठीक-ठीक, हमारी आत्मा ब्रह्म है, मैं निरवयव ब्रह्म हूँ, मैं अपनी कल्पनाके अधिष्ठान-चैतन्यसे पृथक् नहीं।' वास्तवमें, ब्रह्म ही कालारूढ़ होकर नित्यरूपसे भासता है।

एकबार पौराणिक मृत्यु मेरे पास आयी। मैं लेटा हुआ था, बीमार था। वमन हुआ था और तत्पश्चात् बेहोश-सा हो गया। देखा, हाथमें शस्त्र लिये एक राक्षसी मुझे मारने आयी है। मान लें कि पौराणिक मृत्युदेवीका संस्कार उस समय उदित हो गया था।

दो बार जब मैं बैठकर साधन कर रहा था, समूचे शरीरका प्राण खिचकर मस्तिष्कमें आ गया। लगा, अब मैं मर जाऊँगा।

एकबार मोटरमें चलते-चलते मृत्युके दर्शन हुए। मैं और श्री हनुमान्प्रसाद पोद्दार कलकत्तेमें मोटरमें घूम रहे थे। उन दिनों साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। मोटरमें मुझे नींद आ गयी। सपना आया कि किसी भगतने ज्यादा खिला दिया और हमारा पेट फट गया। लोगोंने हमारे शवको चितापर जला दिया। चिता जल रही है और पोद्दारजी वगैरह मित्र हमारे बारेमें बातचीत कर रहे हैं और हम यह सब दृश्य देख-सुन रहे हैं।

किसी भी अवस्थामें किसीको भी यह अनुभव नहीं हो सकता कि 'मैं मर गया'। जिसे होगा, वह जीवित होगा। इसीका नाम 'आत्मसत्ता' है। यह आत्मा बड़ी निर्भयताकी वस्तु है। सारी

सृष्टि मर जाय, पर यह नहीं मर सकती। फिर कूद पड़ो न मृत्युके मुँहमें! निर्भय होकर समाजसेवा करो, उपासना करो अथवा त्याग करो। अध्यासकी निवृत्तिके लिए पहले कालसे निर्भय होइये। साधक लोग डरते हैं. वे इस चामकी कोठरीमें ईश्वरका संयोग चाहते हैं तथा इसके वाहर ईश्वरके वियोगकी आशंकासे भयभीत होते हैं। ज्ञानकी आगमें इस चामकी कोठरीको जला दें और खुले मैदानमें ईश्वरको देखें! फिर चाहे यहाँ रहें या वहाँ, अन्तर्मुख रहें या वहिर्मुख। सब जगह, सर्वरूप ईश्वर है। उसे पहचानते नहीं, पहचानें।

एक रोचक दृष्टांत है। शिष्यने पूछा अपने गुरुसे : 'ईश्वरकी प्राप्ति कैसे हो? गुरुने कहा : 'ईश्वरका भजन करो, ईश्वरका दर्शन होगा।' शिष्यने भजन करना प्रारम्भ किया। अन्तमें ईश्वर प्रकट हुए। शिष्यने पूछा : 'आप कौन हैं?' ईश्वरने कहा : 'मैं वही ईश्वर हूँ जिसका तुम भजन करते हो?' शिष्यने कहा : 'मैं कैसे मानूँ कि आप ईश्वर हैं? ईश्वर तो सृष्टि वनाता है, आपने तो कोई सृष्टि मेरे सामने नहीं वनायी। यदि मेरे सामने आप सृष्टि वनाकर दिखायें तो मैं मान जाऊँगा।'

ईश्वरको भी विनोद सूझा। वोले : 'जा, अपने गुरुसे पूछ।' शिष्य दौड़कर गुरुके पास पहुँचा। गुरुजी भजनमें वैठे थे। शिष्य पूछ ही वैठा : 'गुरुदेव! कोई प्रकट हुआ है और अपनेको ईश्वर कहता है। ईश्वरकी क्या पहचान है?' गुरुजी झल्लाकर वोले : 'ईश्वर वकरे जैसा होता है!' शिष्य लौटकर पहुँचा। ईश्वरसे वोला : 'गुरुजी कहते हैं, ईश्वर वकरे-जैसा होता है और आप तो वहुत मलूक (सुन्दर) हैं। आप ईश्वर कैसे हो सकते हैं?' ईश्वर तो भक्तवत्सल ठहरे। वे तुरन्त वकरा वन गये। शिष्य वड़ा प्रसन्न हुआ कि ईश्वर मिल गया। सोचा, गुरुजीको ईश्वर-दर्शनका

प्रमाण दे आयें। शिष्य बकरेश्वर भगवान्‌का कान पकड़कर ले गया गुरुजीके पास और चिल्लाकर बोला : 'गुरुजी, ईश्वर मिल गया। बकरा बनकर आया है। लो देख लो!' परन्तु गुरुजीको तो बकरा ही दिखता था और शिष्य बकरेमें ईश्वर देखकर प्रसन्न हो रहा था।

यह ईश्वरकी पहचानकी बात है। ईश्वर सर्वरूप है। एक रूपमें जो ईश्वर होता है वह उपास्य तो है, परन्तु यदि दूसरे रूपोंसे द्वेष करेंगे तो आपने मानो ईश्वरको ही काट दिया। ईश्वर रूप, स्थान, कालके बन्धनसे विमुक्त है। देशाभाव, कालाभाव और द्रव्याभावका अधिष्ठान होकर उस अधिष्ठान (ईश्वर) से भिन्न न देश है, न काल है, न द्रव्य है और न इनका अभाव। ये जो आत्माके अतिरिक्त देश, काल, द्रव्य, दीख रहे हैं, वे हैं तो आत्मा ही पर दीख रहे हैं अन्य रूपमें। इसीको अध्यास कहते हैं।

जब सीपीमें चाँदीका अध्यास होता है तो पहले यह ज्ञान होता है 'यह चाँदी है।' बादमें यह बाधज्ञान होता है कि 'यह चाँदी नहीं, सीपी है। यह सीपी ही थी जो चाँदीके रूपमें भास रही थी।' देखिये, सामने सीपी है, दूसरी जगह जो चाँदी है वह यहाँ आयी नहीं और न बुद्धिमें जो चाँदी है वह कहीं बाहर गयी। सीपीमें चाँदी है नहीं, फिर भी सीपी चाँदीके रूपमें भासती है। क्यों? अध्यासके कारण—**स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।**

पूर्वमीमांसाका विचार कर्तृ-कर्मविचार है, नैयायिकोंका कार्य-कारणविचार है, तथा सांख्य और योगका द्रष्टा-दृश्यविचार है। यद्यपि प्रकृति-पर्यन्त दृश्य है; तथापि 'पुरुष भीतर और प्रकृति बाहर' यह देश-परिच्छेदकी कल्पना दृश्य नहीं बन पायी। इसीलिए सांख्यका पुरुष विभु होते हुए भी अनेक है। यहाँ द्रष्टाकी परिच्छिन्नताने प्रकृतिको मिथ्या नहीं होने दिया; क्योंकि परिच्छेद-

धर्म भी नित्य होगा। यदि कहें कि पुरुषका विभुत्व प्रकृतिसे सिद्ध होगा और अनेकत्व प्रकृतिके कार्य प्राकृतसे, अर्थात् अन्तःकरणसे, तो यह द्रष्टा-दृश्यविचार वेदान्तोक्त ही होगा; क्योंकि तब पुरुषका विभुत्व और अनेकत्व औपाधिक ही सिद्ध होगा। विचार कीजिये : (१) दृश्यगत भेदसे द्रष्टामें भेद क्यों? प्राकृत अन्तःकरण भिन्न-भिन्न होनेसे द्रष्टा अनेक क्यों? अर्थात् उपाधिगत भेदसे उपहित द्रष्टामें भेद नहीं होना चाहिए। (२) देश-कालकी कल्पनाको अपनेमें सुलाने और जगानेवाली प्रकृति है जो दृश्य है। और उसका अधिष्ठान है स्वयंप्रकाश आत्मा। आत्मासे भासमान दृश्यको आत्मासे पृथक् क्यों मानते हैं, जब कि कारणसे कार्य भिन्न नहीं मानते? यदि केवल कार्य और कारण दोनों जड़ ही होते तब तो द्रष्टा-दृश्यका भेद सिद्ध हो जाता। परन्तु द्रष्टा चेतन तो देश-काल-वस्तुके अत्यन्ताभावका भी प्रकाशक अधिष्ठान है, अतः द्रष्टा ब्रह्म है। ब्रह्ममें प्रकृति बाधित सत्तावाली है। स्वयंप्रकाश आत्मामें प्रकृति, प्राकृत, कारण तथा कार्य बाधित है और स्वयं आत्मा अबाधित है।

इस प्रकार द्रष्टा उपाधिभेदसे न विभु है, न अनेक और दृश्य प्रकृति द्रष्टासे अभिन्न है। अतः आत्मा अद्वितीय ब्रह्म है। ●

(४.०)

अध्यास-भाष्य : २

(संभावना-भाष्य)

प्रत्यगात्मामें अनात्म अध्यासकी संभावनाका निरूपण :

मूलभाष्य :

कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि ? उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्; अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः। तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः।

(ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यकी भूमिका : अध्यास-भाष्यांश)

पूर्वपक्ष : अविषय प्रत्यगात्मामें विषय और उसके धर्मोंका अध्यास कैसे होगा, जब कि सब लोग इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विषयमें ही अन्य विषयोंका अध्यास करते हैं और आप युष्मत्-प्रतीतिसे रहित प्रत्यगात्माको अविषय कहते हैं ?

उत्तर पक्ष : यह आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है; क्योंकि यह अस्मत्-प्रतीतिका विषय है, अपरोक्ष है और प्रत्यगात्मरूपसे प्रसिद्ध है। दूसरे, यह भी कोई नियम नहीं है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विषयमें ही विषयान्तरका अध्यास होना चाहिए, क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाशमें भी अविवेकी लोग तलमलिनता आदिका अध्यास करते हैं। इसी प्रकार प्रत्यगात्मामें अनात्माका अध्यास भी अविरुद्ध है।

उस-उस लक्षणवाले इस अध्यासको पंडित लोग अविद्या ऐसा मानते हैं। और इसके विवेक द्वारा वस्तुस्वरूपके निश्चयको विद्या कहते हैं।"

(४. १)

प्रत्यगात्माका अविषयत्व

जिस अध्यासकी स्थापना भगवान् शंकरने पूर्व अध्यायमें की वह क्या सम्भव भी है, क्योंकि वहाँ आचार्यने लोकव्यवहार-को आधार मानकर विषय और विषयीका परस्पर अध्यास बताया है। अध्यासके जो उदाहरण भी वहाँ दिये हैं, वे भी उपयुक्त नहीं हैं; क्योंकि चाहे शुक्तिमें रजतका अध्यास हो अथवा एक चन्द्रमें दो चन्द्रमाओंकी प्रतीतिका अध्यास हो, वह अधिष्ठान और अध्यास दोनों विषय ही हैं; उनमेंसे कोई विषयी नहीं है। इसके अतिरिक्त विषयी किसी भी प्रकार विषय नहीं हो सकता। अतः विषयी और विषयीके अध्यासकी संभावना नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरणमें इसी असंभावनाका निराकरण किया गया है। अतः अध्यास-भाष्यके इस अंशको 'संभावना-भाष्य' कहते हैं।

भगवान् शंकरने दो लोक-प्रसिद्ध उदाहरण दिये हैं : १. शुक्ति-का रजतके रूपमें अवभास और २. एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाओं-का अध्यास।

प्रथम उदाहरणमें पूर्वदृष्ट रजतके पूर्वसंस्कारका शुक्ति अधि-ष्ठानमें मिथ्या-अवभास होता है तथा यहाँ अन्यमें अन्यका अध्यास होता है। दूसरे उदाहरणमें, न तो किसीको पहलेसे दो चन्द्रमाओंका संस्कार है और न द्वित्वका एकमें अध्यास है। यहाँ तो एक चन्द्र ही किसी व्यवधानके कारण यथार्थ ग्रहण न

होकर दो चन्द्रमाओंके रूपमें प्रतीत होता है। अतः यह एकमें एकके अध्यासका उदाहरण है।

पूर्वपक्षी दोनों प्रकारके उदाहरणोंमें एक सामान्य बात देखता है। वह यह है कि अध्यास चाहे अन्यमें अन्यका हो अथवा एकमें एकका, अध्यास जिसमें और जिसका होता है, वे विषय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने चाहिए। किन्तु सिद्धान्ती जब आत्मामें अनात्माका अध्यास-निरूपण करता है, तो मानो वह इन्द्रियोंसे अग्राह्य, इन्द्रियातीत, प्रत्यगात्मामें दृश्यके अर्थात् इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुके अध्यासका प्रतिपादन करता है। अतः यह अध्यास संभव नहीं है। या तो अध्यास ही असिद्ध है अथवा उसके उदाहरणोंकी सूची अपूर्ण है। इसलिए पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि प्रत्यगात्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है, अविषय है, उसमें विषय और विषयोंके धर्मोंका अध्यास कैसे संभव हो सकता है, जब कि सबलोग इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (पुरोवर्ती) विषयोंमें ही विषयान्तरका अध्यास करते हैं और आप कहते हैं कि आत्मा अविषय है, युष्मत्-प्रतीतिका विषय नहीं है? यही **कथं पुनः·····ब्रवीषि** भाष्य-खण्डका तात्पर्य है।

इस आक्षेपका उत्तर समझनेके लिए इस आक्षेपको ही तनिक और स्पष्ट समझना चाहिए।

प्रत्यगात्माका अर्थ है, अन्तरात्मा। **प्रतीप देहेन्द्रियादिभ्यः पूज्यते प्रकाशते इति प्रत्यक्**—'जो देह, इन्द्रियों आदिका प्रकाशन करे, वह प्रत्यगात्मा है।' अथवा **प्रतीपं अञ्चति इति प्रत्यक्**। 'जो देह, इन्द्रियाँ आदिके उल्टी दिशामें अर्थात् पीछे बैठकर देखे, वह प्रत्यगात्मा है।' अथवा **प्रतिशरीरम् अञ्चति इति प्रत्यक्**–यानी 'जो प्रत्येक शरीरमें रहकर प्रकाशन करे वह प्रत्यगात्मा है।' इस प्रकार प्रत्येक शरीरमें मन, इन्द्रिय आदिके पीछे बैठकर जो

मन, इन्द्रियादि और उनके विषयोंका प्रकाशन करे, वह प्रत्यगात्मा है।

यह प्रत्यगात्मा प्रकाशता है, (दीखता) है या नहीं? यह प्रश्न है। स्पष्ट है, नहीं दीखता। अब जो वस्तु दीखती ही नहीं, उसमें अन्य विषय और उसके धर्मोंका अध्यास कैसे होगा? पुनः, जो वस्तु दीखती नहीं, उसका किसी भी दृश्यके साथ सादृश्य नहीं हो सकता और सादृश्यसंस्कारके अभावमें 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अध्यास सिद्ध नहीं हो सकता।

पुनश्च, जब हम कोई भी क्रिया करते हैं, तो उसका फल परसमवायी होता है अर्थात् अन्यके लिए होता है। उदाहरणार्थ, हम चलकर अपने पास नहीं पहुँचते, दूसरेके पास पहुँचते हैं। हमारे ज्ञानका विषय अन्य ज्ञेय होता है। **नहि कर्ता कर्म भवति**—न तो कर्ता कर्म होता है और न ज्ञाता ज्ञेय। कर्ताका व्यापार कर्म है और ज्ञाताकी वृत्ति है ज्ञान। वह सब अपने बारेमें जरूरी नहीं, सदैव दूसरेके बारेमें ही होता है। 'अपना ज्ञान अपनेको हो रहा है' इस वाक्यका क्या अर्थ है? और न इसी वाक्यार्थके सत्य होनेकी संभावना है कि 'एक दिन मैं अपने कंधेपर चढ़ बैठा; क्योंकि चढ़नेवाला चढे जानेवालेसे पृथक् होना आवश्यक है।

आत्मदेव प्रकाशक हैं, प्रकाश्य नहीं। वे प्रकाश्य हो भी नहीं सकते; क्योंकि प्रकाशक कभी प्रकाश्य नहीं हो सकता। अतः प्रत्यगात्मामें अध्यास संभव नहीं है।

इन आक्षेपोंका अब उत्तर दिया जाता है:

प्रथम आक्षेप है कि आत्मा अविषय है। भाष्यकार कहते हैं कि प्रत्यगात्मा अविषय तो है, पर नितान्त अविषय नहीं है—**न तावत् अयमात्मा एकान्तेन अविषयः**। क्यों? इसलिए कि

असमत्प्रत्ययविषयत्वात्—यह प्रत्यगात्मा 'मैं' इस प्रत्ययका विषय है। यह ठीक है कि प्रत्यगात्मा युष्मत्-प्रत्यय (इदं-प्रत्यय)का विपय नहीं, किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं कि आत्मा दीखता ही नहीं; क्योंकि अहम्-वृत्तिके विषयके रूपमें यह सबको अपरोक्ष है—**अपरोक्षत्वात् च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः**।

यह हाथवाला रूमाल विषय है और 'मैं'को प्रतीत होता है। कौन-सा मैं? आँखवाला मैं, हाथवाला मैं। यह हाथ, आँख, बुद्धिवाला 'मैं' अस्मत्-प्रतीतिका विषय है और यह रूमाल युष्मत्-प्रतीतिका विषय है। सचाई यह है कि यहवाला 'मैं' प्रत्यगात्मा नहीं है, अपितु प्रत्यगात्माका अध्यसित रूप है। तथापि इसी प्रतीतिके कारण आत्माका अपरोक्षत्व भी सिद्ध होता है। 'यह' बाध्य प्रतीति है और 'मैं' अबाधित प्रतीति है। 'यह'का बाध करनेपर जो अबाध्य चेतन, ज्ञानसत्ता, शेष रहती है, वही प्रत्यगात्मा 'मैं' है। 'यह वाला मैं' इसी प्रत्यगात्माका व्यावहारिक रूप है। यह व्यावहारिक रूप यद्यपि बाध्य है; तथापि अज्ञानवश लोग इसीको प्रत्यगात्मा समझते हैं। न केवल समझते हैं, अपितु इसका प्रचार भी करते हैं। दूसरी ओर जो श्रोता हैं, वे व्यावहारिक 'मैं'को जब आत्मा सुनते हैं तब उनका चित्त सन्देह करता है कि यह द्वन्द्वात्मक परिच्छिन्न 'मैं' ब्रह्म कैसे? हजार बार श्रवण करके भी उनका सन्देह निर्मूल नहीं होता। ऐसे प्रचारक वेदान्तके तो शत्रु ही हैं। जैन लोग इसी व्यावहारिक 'मैं'को संकोच-विस्तारशील मानते हैं और इसीका उच्छेद बौद्ध स्वीकार करते हैं। वेदान्त कहता है कि यह अहमर्थ प्रत्यगात्माका अशोधित रूप है, यद्यपि यह निसर्गसे प्राप्त है। प्रत्यगात्माका शुद्ध स्वरूप संवित्-मात्र है।

परीक्षा कीजिये कि आप अपने स्वरूपको क्या मानते हैं

यह अशोधित रूप अर्थात् 'यहवाला मैं' अथवा शुद्ध स्वरूप 'यह' विनिर्मुक्त 'मैं' ? अशोधित 'मैं' कभी भासता है, कभी नहीं भासता, जैसे कि सुषुप्तिमें। जब वह नहीं भासता तब क्या जाग्रत्-स्वप्नके कोई दुःख शेष रहते हैं ? यह अशोधित 'मैं' ही सब दुःखोंके मूलमें है और यह अध्याससे प्राप्त है।

स्वप्नमें अध्यास है या नहीं ? स्वप्नसे कतराओ मत, अन्यथा जीवनके रहस्यसे वंचित रह जाओगे ! यदि जीवनका सत्य खोजना है तो व्यष्टि और समष्टि-जीवनके सब स्तरोंकी मीमांसा करनी पड़ेगी। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा, पागलपन, कर्मातिशयता, कर्म-निवृत्ति, भावुकता, भावनामयता—सभीपर विचार करना पड़ेगा। स्वप्नमें द्रष्टामें ही समूचे दृश्यकी फुरना और प्रतीति होती है और वहाँ द्रष्टा और दृश्यका अध्यास जाग्रत्में स्पष्ट ही विचारमें आ जाता है। इसी प्रकार जाग्रत्का अध्यास विचारणीय है।

यह जो प्रत्यगात्माकी अध्यसित मैं, अशोधित मैं, व्यावहारिक मैं के रूपमें प्रतीति है, यह मूलमें अज्ञानजन्य है तथा उत्तरोत्तर अध्यासोंका बीज है। इसलिए यह आक्षेप कि प्रत्यगात्मा अविषय होनेसे अध्यासके योग्य नहीं है, ठीक नहीं है।

यहाँ एक और आपत्ति उपस्थित होती है। प्रत्यगात्माका स्वरूप संवित्-मात्र है। संवित्-मात्रमें अध्यास कैसे ?

संवित्-मात्र जो केवल ज्ञान है वही भाषा और विषयकी उपाधिसे ज्ञाता बना है। जब हम अपनेको व्याकरण-न्यायका पंडित मानते हैं तो बुद्धिस्थ ज्ञानविषयक ज्ञानवान् अपनेको मानते हैं। दिमागकी ग्रन्थियोंमें यह ज्ञान घुसा रहता है, जो ग्रंथियोंके छिन्न-भिन्न होनेपर उदय-विलय भी हो जाता है। वृन्दावनमें एक लड़का घोड़ेसे गिर गया। मूर्च्छासे जागनेपर वह

अंग्रेजी भाषा बिलकुल भूल गया। यह विषय-विद्या तो नसमें रहती है। प्रत्येक शरीरमें जो बुद्धिको पकड़कर बोद्धा बना है, वही उस ज्ञानमात्रका अध्यसित रूप है।

किसी फक्कड़से यदि यह प्रश्न करें कि संवित्-मात्रमें अध्यास कैसे, तो जानते हैं वह आपको क्या उत्तर देगा? वह कहेगा: "क्या आप अपनेको संवित्-मात्र जानते हैं? अनन्तकी बात छोड़ो। क्या आपको अपने शरीरमें अपना व्यक्तित्व मैं मालूम पड़ता है? यदि नहीं तो आप संवित्-मात्र हैं, अनन्तको जानते हैं—तो जैसे चींटी, मच्छर आदिमें एक बोद्धा अहं बैठा है, वैसे ही आपके इस शरीरमें बैठा रहे तो क्या अन्तर पड़ता है? और यदि हाँ तो आप अभी अज्ञानी हैं। इस अज्ञानको मिटाइये। तब देखेंगे कि संवित्-मात्रमें त्रिकालमें कोई अध्यास नहीं है।"

संवित्-मात्रमें नैसर्गिक अध्यासकी बात वस्तुस्थितिका अनुवाद मात्र है, उसमें वास्तविक अध्यासकी स्थापना नहीं। मालूम यह पड़ता है कि 'यह मैं हूँ'। इसी प्रतीतिकी स्वीकृतिसे बचना है। विचार करनेपर पता चलता है कि यह प्रतीति नैसर्गिक होती हुई भी अर्थात् किसी शास्त्र या महात्मा या पूर्वजसे गृहीत न होती हुई भी विचारसे निवर्त्त्य है, अतः अज्ञानमूलक है, अध्यास-मूलक है। शास्त्र इसी विचारको प्रदान करता है।

जो स्वयंप्रकाश है, संवित्-मात्र है, वह प्रकाशक और ज्ञाता उपाधिसे ही हो सकता है। उस औपाधिकका विवेक करनेके लिए ही शास्त्र अध्यासका निरूपण करता है।

यदि कोई कहे कि प्रत्यगात्मामें, चिन्मात्रमें अध्यास है ही नहीं, तो इससे सुन्दर और क्या बात होगी। उसने तो वेदान्त-सिद्धान्त ही अपना लिया। यदि आप इस शरीरके जन्म-मरण, सुख-दुःख, राग-द्वेष, गमनागमन, कर्तृत्व-भोक्तृत्वको अपना और

आपा नहीं जानते तथा अपनेको इनसे परे, इनका प्रकाशक, जानते हैं, तो आपके लिए अध्यास-निरूपणका कोई प्रयोजन ही नहीं; क्योंकि तब आप मुक्त हैं। किन्तु यदि आपका ज्ञान-मान ऐसा नहीं है, तो अध्यासका विचार आवश्यक है।

प्रत्यगात्मनि अविषये अध्यासो विषयतद्धर्माणाम्—प्रत्यगात्मा अविषय है, इसे देखो। कैसे ?

यह फूल एक विषय है। आप नेत्र द्वारा इसका रूप देखते हैं। आप नेत्रके द्वारा रूपके द्रष्टा हैं। परन्तु आप नेत्रको किस कारण देखते हैं ? निश्चय ही आप मन द्वारा नेत्रके द्रष्टा हैं। इसी प्रकार आप बुद्धिद्वारा मनके द्रष्टा हैं और बुद्धि स्वयं साक्षी-भास्य है। अब आप बोद्धा तो एक ही हैं। विषयों और करणोंकी उपाधियोंसे आपमें विभिन्न बोद्धाओंका अध्यास हुआ है। इन सब बोद्धाओंका निरसन कर देनेपर विषय-विषयीभावसे विनिर्मुक्त, ज्ञानमात्र अवशेष रहता है। वही अविषय प्रत्यगात्मा है।

पुनः यह फूल आपके सम्मुख है। क्या आप फूल देख रहे हैं ? हाँ। अच्छा, आप नेत्रसे फूलका आकार और रंग देखते हैं। क्या इतना ही फूल है यह ? नहीं। यह कोमल है जिसका पता आपकी त्वचासे चलता है। इसका रस मीठा या कसैला है, यह आपकी जिह्वा बतायेगी। इसकी गंध नासिकाका विषय है और शब्द कानका। अच्छा, ये तो सब फूलके गुण हुए, जो इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। किन्तु फूलको सत्ता आपने कैसे अनुभव की ? वह कौन-सी सत्ता है जो पाँचों गुणोंमें प्रकट है, परन्तु उनसे न्यारी भी है ? क्या वह सत्ता इन्द्रियोंका विषय है ? नहीं। आप करणसे तन्मात्र गुण ही जानते हैं, पूर्णसत्ता नहीं। आप सत्ताको इन्द्रियों-की उपाधिसे ग्रहण करते हैं, मनकी उपाधिसे उसका मनन करते हैं और बुद्धिकी उपाधिसे उसका निश्चय करते हैं। बुद्धि कभी

किसीकी निष्पक्ष नहीं होती। वंश, जाति, कर्म, इष्ट, सम्प्रदाय, राष्ट्रके संस्कारोंसे अभिभूत बुद्धि क्या निष्पक्ष होगी? हाँ, निष्पक्ष बुद्धि होगी उस वेदान्तके विचारककी, जो समूची संस्कारराशिका द्रष्टा स्वयं अपने आपको जानता है। निष्पक्ष बुद्धि होगी उस 'बुद्ध' की, जो सम्पूर्ण प्रत्ययोंको ही मिथ्या घोषित करता है। और निष्पक्ष बुद्धि होगी उस तीर्थंकरकी, जो अस्ति-नास्तिके समस्त पूर्वाग्रहोंको त्यागकर विचारमें प्रवेश करता है! निष्पक्ष निष्कर्ष यह कि जो 'अस्ति' सत्ता फूलके गुणों द्वारा 'यह फूल है और अन्य है' के रूपमें गृहीत होती है, वही सत्ता बुद्धि द्वारा फूलके ज्ञाता 'मैं'के रूपमें गृहीत होती है। अन्य होनेसे वही सत्ता जड़वत् भासती है और अहं होनेसे चेतन। वास्तवमें फूल और उसके ज्ञाताके रूपमें वही एक सत्-चित् सत्ता अध्यसित रूपसे गृहीत होती है। यहाँ 'फूल' और इदं-प्रतीति तथा 'फूलका ज्ञाता' अहं-प्रतीतिके विषय हैं, सत्-चित्-सत्ता अविषय है तथा 'मैं फूलका ज्ञाता हूँ' यह भाव अध्यास है। इसी ज्ञातृत्वके घनीभाव 'फूल मेरा है या मैं फूल हूँ' इत्यादि भाव होते हैं।

प्रत्यगात्मनि अविषये अध्यासो विषयतद्धर्माणां कथम्? यह जो देश-काल-द्रव्य, इनका समूह और इनके भेदोंके भावाभावका प्रकाशक, साक्षी, संवित्-मात्र है, जो क्षण-क्षणरूप प्रत्यय नहीं है, द्रव्यरूप कण-कण नहीं है और संकोच-विस्तारवाला देशरूप नहीं है, जो देश-काल-द्रव्यसे अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द अद्वय है, उसमें विषय और उसके धर्मोंका अध्यास कैसे? अर्थात् सम्भव नहीं।

उपर्युक्त कथन पूर्वपक्षीका आक्षेप भी है और सिद्धान्तीका कथन भी। पूर्वपक्ष स्वमतमें प्रत्यगात्माके प्रतीयमान बन्धनको अध्यास नहीं मानता, उसे सत्य मानता है, इसलिए उसका यह आक्षेप है। सिद्धान्ती प्रत्यगात्मामें प्रातीतिक बंधनको अध्यासरूप

मानता है, इसलिए उसका यह सिद्धान्त-वाक्य भी है। जो बात नहीं हो सकती, उसका 'होना', प्रतीत होना अध्यास है।

असली बात यह है कि आत्मा स्वयं-प्रकाश है। स्वयंप्रकाश होनेसे ही यह अविद्या (अध्यास) और विद्या (अध्यास-निवृत्ति) दोनोंका अधिष्ठान है। कैसे ? स्वयंप्रकाशताके दो अर्थ होते हैं : (१) इन्द्रिय, मन आदि करणोंसे अवेद्य होना; तथा (२) परोक्ष न होना, अपरोक्ष रहना।

अवेद्यत्व अंशमें अविद्या और तज्जन्य अध्यासकी सिद्धि आत्मामें होती है। कैसे ? हम आत्माको देखने-जानने चले, अपने करणोंको साथ लेकर। अब अवेद्य होनेसे वह हमारे ज्ञानका विषय बनता नहीं। अतः आत्मामें अज्ञातता आरोपित होती है। किन्तु साथ ही आत्मा 'मैं' रूपसे प्रत्येकको सामान्यतया अपरोक्ष रहता है। अतः सामान्यतः ज्ञात और विशेषतया अज्ञात आत्मामें अध्यासकी सृष्टि हो जाती है; क्योंकि भ्रम या अध्यास न तो अत्यन्त ज्ञात पदार्थमें और न अत्यन्त अज्ञात पदार्थमें होता है; बल्कि सामान्यतया ज्ञात और विशेषतया अज्ञात पदार्थमें होता है। उदाहरणार्थ, हमने सामने देखा—'कुछ है', अँधेरेमें दिखाई न पड़ा कि रज्जु है, अतः भ्रम हो गया कि सर्प है, अथवा माला है, अथवा दण्ड है।

आत्मा अवेद्य होनेसे ही अविद्याका अधिष्ठान सिद्ध है और नित्य अपरोक्ष होनेसे विद्याका अधिष्ठान है। यदि आप केवल यह विचार करेंगे कि आत्मा मन, इन्द्रियोंका अविषय है अर्थात् अवेद्य है, तो आपकी बुद्धिमें अज्ञान बैठ जायगा, आपकी बुद्धि अज्ञानसे ग्रस्त और भ्रान्त हो जायगी। यदि आप यह विचार करेंगे कि 'मैं आत्मा स्वयंप्रकाश हूँ, करणके बिना ही ज्ञाता हूँ,

ज्ञानमात्र सदा अपरोक्ष हूँ' तो आपकी बुद्धि विद्याकी आश्रयभूता प्रवुद्ध होगी और अविद्याका नाश हो जायगा।

वृत्तिमें आत्माके अवेद्यत्व अंशके प्रतिबिम्बमें अविद्या तथा अध्यास हैं और स्वयंप्रकाशित्व अंशके प्रतिबिम्बमें विद्या है या अध्यास-निवृत्ति है।

तव क्या आत्मामें अंश हैं? नहीं, अंशोंकी यह कल्पना भी अध्यासकी निवृत्तिमें सहायक होनेसे ही स्वीकृत है; यह विद्याका अंग है। अन्यथा आत्मा निरंश है, कूटस्थ है, चेतन है, नित्य-अपरोक्ष है। दृश्य और उसके धर्म आते रहते हैं, जाते रहते हैं, असंग आत्मामें न अध्यासकी कल्पना है और न उसकी निवृत्ति-की। एकवार फिर याद दिला दें कि अध्यास अनुभवका युक्ति-अनुवाद है, आत्मामें कोई परिणाम नहीं।

अविषये। आत्माको जो अविषय कहा, वह किस अर्थमें कहा गया? पूर्वपक्ष तो इसे प्रतीतिके निषेधार्थमें प्रयुक्त करता है; अर्थात् इस अर्थमें कि आत्मा प्रतीत ही नहीं होता। किन्तु सिद्धान्त-में आत्मा विषय, विषयी और इनके भेदके अधिष्ठानके रूपमें 'अविषये' स्वीकार किया जाता है।

आपको यदि हाथके रूमालको देखना हो तो कितनी चीजें आवश्यक हैं? रूमाल, हाथ, नेत्र, प्रकाश और मन। यदि केवल हाथ ही देखना इष्ट हो, तो उक्त पदार्थोंमें रूमाल अनावश्यक है। यदि केवल नेत्र देखना हो, तो हाथ और प्रकाश भी अना-वश्यक हैं। इसी प्रकार यदि केवल मन देखना इष्ट हो तो मनके अलावा सब अनावश्यक हैं। यह दर्शनकी प्रणाली है। प्रत्येक वस्तुके दर्शनकी एक विशेष विधि होती है।

अब जरा आँख वन्दकर अपने मनको देखिये। क्या दीखता है आपको? भरा मन या खाली मन? यदि दोस्त दीखता है तो

आपके मनमें राग है और दुश्मन दिखता ह तो आपके मनमें द्वेष है। राग और द्वेष दोनों मनकी अशुद्धियाँ हैं। अपने मनको दोनोंसे खाली करके देखिये। इस खाली मनको कौन देखता है? कहो, मैं देखता हूँ। तो जरा अब अपने मैंको देखो। यह मैं कौन है?

यदि आपको दीखता है कि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, देवता हूँ, दानव हूँ, इत्यादि तो यह सब आप मनसे देखेंगे। अब जरा बाहरके आकारोंको अपने मनमें प्रतिबिम्बित मत होने दीजिये। विचार कीजिये कि आप मनको देखते हैं, मन आपको नहीं देखता। आपका मन सोता है अथव कल्पना करता है, शत्रु, मित्र, उदासीनकी कल्पना करता है। स्त्री, पुरुष, दैत्य, देव, दानवकी कल्पना मन ही करता है। भीतर-बाहर, यहाँ-वहाँ अब-जब, यह-वहकी कल्पना सब मन करता है। सुषुप्ति, समाधि, जग्रत्-स्वप्न बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता सब मन है। अब इस मनसे आप अलग हो जाइये। आप क्या शेष रहे? कहेंगे मैं हूँ अवश्य, परन्तु क्या हैं? यही 'अविषये' कथनका लक्ष्यार्थ, समस्त विषयोंका प्रकाशक अधिष्ठान चिन्मात्र, संवित्मात्र, ज्ञानमात्र।

लोग आत्माको विषयसे तो अतीत मानते हैं परन्तु उसे विषयी मानते हैं—देशी, काली, विषयी मैंके रूपमें। परन्तु वेदान्त कहता है कि आत्मा न विषय है, न विषयी। विषय और विषयी दोनों जिसमें भासते हैं वह आत्मा है। दोनोंके अत्यन्ताभावका जो प्रकाशक अधिष्ठान है वह आत्मा है। अतः वेदान्तमें विषय और विषयी दोनों मिथ्या हैं और आत्मा अद्वितीय सत्य है। यही सिद्धान्त पक्षमें 'अविषये' का अर्थ है।

जो विषयी है, वह विषयके परिच्छेदसे युक्त है। प्रति शरीरका

विषयी भिन्न है और वह अपने-अपने शरीर एवं अन्तःकरणका नियामक है। किन्तु जो आत्मा है वह सब शरीरमें, सब अन्तःकरणोंमें एक है। शरीर या अन्तःकरणके भेदसे उसमें अन्तर नहीं होता।

एक महात्मासे किसीने पूछा : 'महाराज, आप कहते हैं आत्मा एक है। अच्छा बताइये इस समय कलकत्तेके सेठ करोड़ीमल क्या कर रहे हैं?' महात्मा बोले : "भाई इसका ज्ञान तो हमारे मैनेजरको होगा जो इस समय सेठ करोड़ीमलके अन्तःकरणमें विषयीरूपसे, उनके क्षुद्र अहंके रूपमें बैठा है। हम तो मालिक हैं, वेफिक्र वैठे हैं।'

एक सेठने हमें वताया था : 'यदि मैं इस समय अपने धन-दौलतका व्यौरा देने लगूँ तो वह सब झूठ ही होगा; क्योंकि वास्तविकता यह है कि मुझे उसका ज्ञान नहीं है। हाँ, मैं चाहूं तो अपने जनरल मैनेजरसे व्यौरा लेकर बता सकता हूँ।'

यदि मालिक अपनी फैक्टरीके सभी सुई-चोवोंका हिसाब रखने लगे तो वह तो पागल ही हो जायगा। हिसाब-हिसाबवाला रखता है। मालिककी निगरानी रहती है, सत्ता रहती है। इसी प्रकार आत्मा सत्ता है और विषयी 'मैं' उसका मैनेजर। विषय उसके सुई-चोवे हैं और देह फैक्टरी है। आत्मा एक है अविषयी और विषयी मैनेजर है।

(४. २)

प्रत्यगात्मामें अनात्म अध्यासकी संभावना कैसे ?

जितना भी कर्म होता है वह अन्यकी प्राप्तिके लिए होता है। अप्राप्तकी प्राप्तिके लिए कर्म होता है, प्राप्तकी प्राप्तिके लिए कर्म नहीं होता। हम चलकर दूसरे स्थान पर जाते हैं, हम फूलको उठाते हैं। हम जहाँ खड़े हैं वहाँ चलकर नहीं जाया जाता और हम स्वयं अपनेको नहीं उठाते हैं। वेदान्तमें इसको कर्तृ-कर्म-विरोध कहते हैं। अर्थात् जो कर्ता है वह कर्म नहीं हो सकता।

जो नियम कर्मके क्षेत्रमें है वही नियम ज्ञानके क्षेत्रमें भी लागू है। जो ज्ञाता है वह ज्ञेय नहीं हो सकता। ज्ञानका विषय ज्ञेय होता है और आश्रय ज्ञाता। ज्ञाता ज्ञेयसे न्यारा होता है। अप्राप्तकी प्राप्तिके संदर्भमें ज्ञानकी क्रिया, चाहे भ्रान्तिमूलक हो अथवा विचार-सिद्ध, अन्यको जाननेके लिए ही होती है, अपने जाननेके लिए नहीं। अतः जैसे कर्ता कर्म नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञाता ज्ञेय नहीं हो सकता।

यहाँ अपने ज्ञानका विभाग कर लेना चाहिए : एक विषय-ज्ञान (ज्ञानका विषय, प्रमेय) दूसरा ज्ञानाकार वृत्ति (ज्ञानका कारण प्रमाण) और तीसरा जाननेवाला 'मैं', प्रमाता, जिसको यह अभिमान होता है कि 'मैंने विषयको जाना'। ये तीनों ज्ञान तीन हैं या एक हैं ?

यह तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि जाननेवाला ज्ञान अर्थात् प्रमाता 'मैं' विषय और वृत्ति दोनोंसे विलक्षण है। विलक्षणता यह है कि विषय और वृत्ति (अर्थात् प्रमेय और प्रमाण) दोनोंमें इदंता (यहपना) भासती है जबकि प्रमातामें इदंता नहीं भासती बल्कि अहंता भासती है अथवा कहो कि अनिदंता भासती है। ठीक है, मैं तो विषय और वृत्ति दोनोंसे अलग भासता है, तथा मैंसे मैं अलग हूँ—यह नहीं भासता, परन्तु क्या 'मैं' अनेकरूप नहीं भासता ? कभी 'मैं' पापी भासता है तो कभी पुण्यात्मा। कभी 'मैं' रोगी भासता है तो कभी द्वेषी। कभी सुखी, 'मैं' तो कभी दुःखी अहं में जो यह अनेकरूपता भासती है वह बिना अहं और इदंके मिश्रण हुए नहीं भास सकती। अहं और इदं दोनोंके समाहारसे, दोनोंके मिश्रणसे यह ग्रन्थि भास रही है। यह भासमान अहं न केवल 'त्वं' है, न केवल 'इदं' है और न केवल 'अनिदं' है; यह सबका मिश्रित रूप है। इसीको अध्यास कहते हैं।

आपको घटपटादि विषय बदलते मालूम पड़ते हैं और घटपटाकार वृत्तियाँ बदलती मालूम पड़ती हैं, परन्तु आप, इन बदलती हुई चीजोंके ज्ञाता, वही रहते हैं। परन्तु आप तो प्रातः पुण्यात्मा 'मैं' बनते हैं, दोपहरको रागी 'मैं' बनते हैं और शामको पापी 'मैं' बनते हैं। दिनमें आप सैकड़ो बार सुखी 'मैं' और सैकड़ो बार दुःखी 'मैं' अनुभव करते हैं। यह जो बदलने वाला 'मैं' है वह आप नहीं हैं। आप परिवर्तनके साक्षी हैं। भिन्न-भिन्न 'मैं' के अनुभव करते रहते भी क्या आपको यह आन्तरिक बोध नहीं रहता कि 'मैं' एक ही हूँ अपरिवर्तनशील। इन बदलने वाली वस्तुओंमें (विषय, वृत्ति और अहमर्थ-प्रमातामें) जो एक न बदलने वाली वस्तु है वह है ज्ञान। घटज्ञान, पटज्ञानमें घट और पटका भेद है परन्तु ज्ञानमें भेद नहीं। घटाकार वृत्ति और

पटाकार वृत्ति (वृत्ति=विषयका प्रकाशक ज्ञान) में आकारका भेद तो है परन्तु ज्ञानका भेद नहीं है। घट ज्ञाता और पट ज्ञातामें ज्ञानके विषयका ही भेद है, ज्ञानमें भेद नहीं।

विषयमें, वृत्तिमें और अहमर्थमें, सभीमें जाड्यांश है और जो शुद्ध ज्ञान है, संवित् है, वह एक है। संवित् स्वयंप्रकाश है, एक है, और उसमें भेद नहीं होता। यदि कहें : 'जो अहमर्थ है वही संवित् है' तो यहाँ भी अहमर्थमें जो बदलने वाला अंश है, उसका और संवित्का विवेक अपेक्षित है। यदि आप संवित् न होते (अथवा बदलने वाला 'मैं' होते) तो आपको अपने बदलनेका बोध ही कैसे होता ? सच्चाई यही है कि आप संवित्-मात्र, अपरिवर्तनशील आत्मा होते हुए भी अपनेमें अनात्मा और अनात्म-धर्मोंका अध्यारोप करके, अपनेको परिवर्तनशील मान रहे हैं। आपने अविवेकके कारण अपनेमें अनात्माके धर्मोंका, धर्मीका और धर्म-धर्मीके सत्यत्वका अध्यास कर लिया है।

यदि आप बदलने वाले 'मैं' हैं तो आप जड़ हैं, परन्तु अपना जड़त्व अनुभवके विरुद्ध है। भासमान अहं और इदंका अधिष्ठान क्या है ? चार्वाक कहते हैं कि यह जो अहं और इदंकी ज्ञानात्मक प्रतीति है उसका अधिष्ठान अचेतन द्रव्य है। जड़ द्रव्यसे ही इदं वाच्य 'जड़' और अहं वाच्य 'चेतन'की उत्पत्ति होती है, उसीसे इनकी स्थिति है और उसीमें इनका लय होता है। यह समूचा व्यवहार अचेतनमें अचेतनका व्यवहार है। चार्वाकके इस सिद्धान्त पर भामतीकार कहते हैं कि इस प्रकार तो अशेष जगदन्ध्यकी ही प्राप्ति होगी। यदि अंधा अंधोंके पीछे चलेगा तब तो उसे पग-पग पर गिरना ही होगा :

अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे

अतः चार्वाक-मत ठीक नहीं है।

अब कहो कि यह जो अहमर्थ है इसके सिवाय अन्य कोई चेतन नहीं है। तो उसमें भी पहले 'अहमर्थ' शब्दको ठीक-ठीक समझना पड़ेगा। अहमर्थ शब्दका अर्थ होता है 'मैं पदका अर्थ'। जैसे हमने शब्द बोला 'घड़ी'। अब 'घड़ी' शब्द हमारे मुखमें है और इस शब्दका अर्थ जो लौह-निर्मित घड़ी है वह हमारे हाथमें है। इसी प्रकार 'अहमर्थ' शब्द हमारे मुंहमें है और इसके दो अर्थ हमारी बुद्धिमें हैं: प्रतीयमान अहं जो परिवर्तनशील है; और सर्वप्रतीतियोंका प्रकाशक अहं, संवित्-मात्र, जो अपरिवर्तनशील है; दूसरे शब्दोंमें प्रकाश्य अहं और प्रकाशक अहं। प्रकाश्य अहं अहं या अनिदं-वृत्तिका विषय है अत: वह शुद्ध संवित् नहीं है और प्रकाशक अहं 'अविषय' है और वही शुद्ध संवित् है। हम प्रकाश्य अहंके अर्थमें अहमर्थ शब्दका व्यवहार करते हैं।

प्रकाश्य अहं अर्थात् अहमर्थ प्रतिशरीरमें भिन्न है और संवित्में शरीर और अन्त: करणसे भेद नहीं होता।

यदि कहें कि अहं और इदंके अधिष्ठानकी कोई आवश्यकता नहीं तो कोई भी भेद निरधिष्ठान नहीं होता और यदि कहें कि अहं और इदंका अधिष्ठान शून्य है तो अभावसे भावकी उत्पत्तिका प्रसंग उपस्थित होगा। यदि कहें कि अधिष्ठान जड़ है तो जगदन्ध्यत्वकी स्थिति प्राप्त होगी।* यदि कहो अहंका अधिष्ठान अहं या इदंका अधिष्ठान इदं है तो आत्माश्रय दोष होगा। यदि अहंको इदंका और इदंको अहंका अधिष्ठान मानें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि दोनोंका अधिष्ठान कोई भिन्न तीसरा

---

*वेदान्तमें कथनके निम्न दोष स्वीकार किये जाते हैं :—

१. आत्माश्रय दोष : किसी वस्तुको स्वयं अपना ही आश्रय बताना आत्माश्रय दोष है। दृश्य पदार्थ कोई भी आत्माश्रित नहीं हो

अहं (या इदं) मानें तो अनवस्था होगी। इस प्रकार परिशेष न्यायसे अहं और इदंका एक अधिष्ठान चेतन ही सिद्ध होता है। और चेतन संवित् 'मैं' से भिन्न नहीं हो सकता। अतः अहमर्थसे विलक्षण संवित्, जो अहमर्थ, वृत्ति और विषयका प्रकाशक है और इनसे अनवच्छिन्न है इनका अधिष्ठान भी है।

यदि कहें कि यह संवित् (ज्ञान) कभी लीन रहता है कभी प्रकट, तो यह तो वदतो व्याघात दोष होगा। संवित् लीन और प्रकट नहीं होती; लय और प्राकट्य संवित्में होते हैं। ज्ञान होने पर ही लय और प्राकट्यका अनुभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। लीन और प्रकट होनेवाले विषय, वृत्ति और अहमर्थ हैं, संवित् नहीं।

सकता और द्रष्टाके आत्माश्रित कहनेका कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि ज्ञान आश्रय और निराश्रय दोनोंका प्रकाशक स्वयं प्रकाश है। वास्तवमें वह आश्रय-आश्रित भावसे विनिर्मुक्त है।

२. **अन्योन्याश्रय दोष :** दो वस्तुओं 'क' और 'ख'मेंसे 'क'को 'ख'का और 'ख'को 'क'का आश्रय बताना अन्योन्याश्रय दोष है। क्योंकि एक वस्तु आश्रय और आश्रित दोनों नहीं हो सकती।

३. **चक्रिकापत्ति दोष :** तीन वस्तुओं 'क', 'ख' और 'ग'में से 'क'का आश्रय 'ख', 'ख'का आश्रय 'ग' और 'ग'का आश्रय 'क' बताना चक्रिकापत्ति दोष है; क्योंकि 'क'से चलकर पुनः 'क'में पहुंचे और पुनः वही चक्र चालू हो जायेगा। निर्णयकी कोई अवस्था नहीं प्राप्त होगी।

४. **अनवस्था दोष :** 'क'का आश्रय ढूँढने चले। 'क'का आश्रय 'ख', 'ख'का 'ग', 'ग'का 'घ', 'घ'का 'च', और इसी प्रकार अनन्त

यह संवित् एक ऐसा अनन्त ज्ञान है जिसमें न आना है न जाना है, न फैलना है न सिकुड़ना है, न बाहर है न भीतर है, न जन्म है न मृत्यु है, न अब है न अब है न जब है। यह एक ऐसा अनन्त ज्ञान है जो न विषय है, न वृत्ति है और न विषयी (बदलने वाला अहं) है। वह अनन्त ज्ञान और कोई नहीं स्वयं आप हैं ! आप ऐसे सुन्दर हैं जिसमें सारी सुन्दरतायें कल्पित हैं ! आप ऐसे मधुर हैं जिसमें सम्पूर्ण मिठास-समष्टि कल्पित है ! आप ऐसे सत्य हैं जिसमें संसारके सम्पूर्ण सत्य बिना हुए ही भासते हैं, जिसमें सारे सत्य मिथ्या हो जाते हैं, जिसमें जड़ता और चेतनता-का कोई भेद नहीं है ! ऐसा है आपका आत्मस्वरूप।

तक चलते गये। अनिर्णय होनेसे यह अनवस्था दोष होगा। अनन्त पदार्थोंमें अनवस्था दोष होता है।

५. विनिगमना-विरह दोष : 'क' आदि बहुतसे पदार्थोंमें से किसी एकको 'क'का आश्रय बताना परन्तु उसके पक्षमें कोई युक्ति न होना विनिगमना-विरह दोष कहलता है।

६. प्राग्लोप दोष : माना 'क'का आश्रय 'ख' बताया, 'ख'का 'घ', 'घ'का 'च' और अन्तमें 'र'का 'ल' और 'ल'का 'ह' बताया। तो इससे 'क' का आश्रय 'ह' सिद्ध हुआ। बीचके जो आश्रय गिनाये गये उनका लोप हो गया। इस प्रकारका कथन प्राग्लोप दोषसे दूषित है।

७. वदतो व्याघात दोष : कारण रहित कार्यकी स्थापना करनेमें जो दोष है वह वदतो व्याघात दोष है। जैसे कोई यह बोले कि 'मेरे पिता बालब्रह्मचारी थे।'

इनमेंसे ५ तथा ६ क्रमांक वाले दोषोंको एक मानने पर छः दोष मुख्य रह जाते हैं। इन दोषोंसे विनिर्मुक्त निर्वचन ही स्वीकार्य होता है।

विषय अनेक भासते हैं और उनका भेद भी भासता है। विषय अनिर्वचनीय हैं और उनका भेद भी अनिर्वचनीय ही है। वृत्तियाँ अनेक भासती हैं। उनके विषय अनेक होते हैं और उनका आश्रय भिन्न होता है; वे प्रागभाव प्रतियोगिनी और प्रध्वंसाभाव प्रतियोगिनी होती है (अर्थात् पहिले वे नहीं होती, होकरके होती हैं, और बादमें वे नहीं रहती)। संक्षेपमें वृत्तियाँ साश्रया, सविषयक प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव-प्रतियोगिनी तथा परस्पर भिन्ना होती हैं। साथ ही अपनेको प्रकट करनेके लिए उन्हें एक अखण्ड सवित्की भी अपेक्षा है।

उधर अहमर्थ भी वृत्तिमें सविषयक ही प्रकाशित होता है। वस्तुतः अहमर्थमें वृत्तित्व और विषयत्व दोनों आरोपित हैं। कैसे? जरा अपने इन मानोंका विश्लेषण कीजिये: 'मैं घटका मालिक हूँ, बुद्धिका मालिक हूँ, चित्तका मालिक हूँ, राग-द्वेषसे आवृत्त हूँ, सुख दुःखसे बँधा हुआ हूँ।' यह सब क्या प्रकट करते हैं? अन्य धर्मोंका मैं पर अध्यारोप तथा मैं का स्वयं उनपर आरूढ़ होना। यही अध्यास है।

संवित् प्रकाशक है, प्रकाश है, और उसके विषय जो प्रकाश्य हैं वे हैं—अहमर्थ, वृत्ति एवं विषय। संवित् और इसके प्रकाश्यका परस्पर सहभाव नहीं है, अर्थात् ऐसा नहीं है कि संवित्से अलग दृश्य नहीं और दृश्यसे अलग संवित् नहीं, क्योंकि दृश्य आते हैं चले जाते हैं कभी होते हैं कभी नहीं होते परन्तु संवित् एकरस प्रकाशमान रहता है। दृश्य बाधित हैं और संवित् अबाधित।

ज्ञानके विभाग देखो: एक बननेवाला ज्ञान है, दूसरा होनेवाला ज्ञान है और तीसरा है—ज्ञान है। प्रथम कर्मसे मिला हुआ है, द्वितीय काल और द्रव्यसे और तृतीय देश-काल-द्रव्यकी कल्पनासे विमुक्त है। विवेकके लिए यह जानना पड़ता है।

यह जो दृश्य नामकी वस्तु है, देश-काल-वस्तुवाली, अनेक आकारवाली, वृत्तिवाली, अभिमान वाली, वह कभी भासती है कभी नहीं भासती, वह बदलती रहती है, पूर्व-पूर्व संस्कारसे विचित्र-विचित्ररूप धारण करती रहती है, वर्तमान संस्कारसे उत्तररूप धारण करती है, एक संस्कारके धक्केसे दूसरी वासना-वाली प्रतीत होती है। दृश्य प्रतीत होते रहते हैं और संवित् एकरस बनी रहती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो भी दृश्य है वह इदम् वृत्तिका विषय है और जो भी इदमाकारताको ग्रहण करता है वह दृश्य है। जो अनिदं है वह संवित् है।

इदंतानास्कन्दित, इदंतासे अनाक्रान्त तथा इदंतासे असंस्पृष्ट जो अनिदं है वह इदंताके सब दोषोंसे रहित है। इदंतामें काल है, अनिदंमें काल नहीं है। इदंतामें देश है, अनिदंमें देश नहीं है। इदंतामें वस्तु है अनिदंमें वस्तु नहीं है। इसी प्रकार इदंतामें कर्म है, सुख है, दुःख है, परिवर्तन है, प्रमा है, भ्रम है और अनिदंमें यह सब कुछ नहीं है। इदं और अनिदंके अविवेकसे ही यह विवेकाग्रह निबन्धन भ्रम है; यही अध्यास है। इदं परप्रकाश्य है, विषय है, आश्रित है, पराधीन सत्तावाला है (उसकी स्वयंकी कोई सत्ता नहीं, संवित्की अपेक्षासे सिद्ध है)। इसके विपरीत अनिदं स्वयंप्रकाश, अविषय, आश्रय, स्वतन्त्र सत्तावाला है। इन विपरीत धर्मोवाले पदार्थोंमें धर्मान्तरका अध्यास अविवेकसे ही सिद्ध है अन्यथा नहीं।

सत्य संवित् और मिथ्या इदंताका जो अविवेकके कारण मिश्रण है और जिस मिश्रणसे सत्ता, वृत्याकारता, फलाकारता, प्रमा अथवा भ्रमकी प्रतीति है वह सब अविवेकसे है और अविद्यामूलक है। यदि कहो अविवेक क्यों है तो वह भी अविवेक-से ही है। अविवेकका कोई कारण नहीं होता।

तनिक इस प्रत्यगात्मा, संवित्‌रूपका अनुसंधान करें। श्रुति कहती है।

एकमेवाद्वितीयम्

'यह आत्मा एक अद्वितीय ही है'। यहाँ आत्माको एक ही साथ 'एक' तथा 'अद्वितीय' कहनेका क्या तात्पर्य है? अनेक दृश्योंमें जो सत्ता सामान्य अनुगत रहती है वह 'एक' है। जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञानमें घटपटमठ अनेक हैं परन्तु ज्ञान एक है; जैसे सब गायोंमें गायत्व एक है; वैसे ही सर्व आकृतियोंमें, सब वृत्तियोंमें, सब अर्थोंमें और सब अहंताओंमें जो अनुगत संवित् है वही चिन्मात्र वस्तु यहाँ एक पदका वाच्यार्थ है। एक आनुगत्य है। अनेक और एक परस्पर विरोधी हैं—इस विरोध-परिहारके लिए श्रुति उसी 'एक'को पुनः अद्वितीय बताती है। अर्थात् श्रुतिका तात्पर्य है कि अनेकत्व मिथ्या है और सापेक्ष एकत्व भी मिथ्या है, केवल अनेक-एक-निरपेक्ष संवित् ही सत्य है। 'एव' पद 'एकम्' और 'अद्वितीयम्'में मुख्यसामानाधिकरण्यका द्योतक है।

यह प्रत्यागात्मा स्वयंप्रकाश, एक, कूटस्थ, नित्य तथा निरंश है:

तदयं प्रकाश एव स्वयंप्रकाश एकः कूटस्थो नित्यो निरंशः प्रत्यगात्मा। **(भामती)**

आत्मा स्वयंप्रकाश है और एक है। इनकी चर्चा हो चुकी है। आत्माको कूटस्थ नित्य कहनेका क्या तात्पर्य है?

एक पदार्थ होता है केवल नित्य और एक होता है कूटस्थ नित्य। उदाहारणार्थ, आकाश सत्य नित्य है; और उसकी नीलिमा मिथ्या नित्य है क्योंकि नीलिमा वहीं भासती है जहाँ वह नहीं

है और नीलिमाका भान भी कभी नहीं मिटता। काल नित्य है परन्तु उसकी प्रतीति वृत्तिसे होती है अतः वह कूटस्थ नित्य नहीं है। वृत्तियोंमें जो नित्यरूपसे भासता है वह प्रवाही नित्य है और वृत्तियोंका जो अधिष्ठान है वह आत्मा कूटस्थ नित्य है।

कूट शब्दका अर्थ होता है : पर्वतका शिखर, लोहार या सुनारका आयरन अथवा निहाई तथा झूठ। जो कूटकी तरह स्थित रहे अथवा कूटमें स्थित रहे वह कूटस्थ। कूटस्थ पदका व्यवहार एकरस चैतन्य अधिष्ठानके अर्थमें ही होता है। जैसे पर्वतके शिखिर पर सर्दी, गर्मी, वर्षा आते रहते हैं, जाते रहते हैं परन्तु वह स्वयं अचल खड़ा रहता है; अथवा जैसे निहाई पर हथौड़ी पड़ती रहती हैं, जेवर गढ़े और तोड़े जाते रहते हैं परन्तु वह एकरस ज्यों-का-त्यों अचल, स्थित रहता है; वैसे ही यह प्रत्यगात्मा अनन्त-अनन्त दृश्योंके उदय और अस्तका साक्षी ज्यों-का-त्यों स्थित रहता है। पुनः जैसे स्वप्नमें सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच झूठा होता है और स्वप्नद्रष्टा उस झूठका अधिष्ठान होता है, वैसे ही जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-समाधिकी दृश्य-समष्टिरूप झूठमें जो अधिष्ठान रूपसे चेतन रहता है वह कूटस्थ है। इस प्रकार प्रत्यगात्मा कूटस्थ है। कालका प्रकाशक होनेसे वह नित्य भी है। अतः आत्मा कूटस्थ नित्य है।

संवित् देशका प्रकाशक होनेसे निरंश है; इसमें अंश नहीं हैं। इस प्रकार प्रत्यगात्मा कूटस्थ नित्य होनेसे काल-प्रवाहके परिच्छेदसे मुक्त है, स्वयंप्रकाश होनेसे विषय-प्रवाहके परिच्छेदसे मुक्त है और निरंश होनेसे देश-प्रवाहके परिच्छेदसे मुक्त है।

ऐसा जो प्रत्यगात्मा है उसमें अध्यास कैसे ? वह अविवेकसे ही सम्भव है।

अच्छा, यह जो प्रत्यगात्मा है वह दीखता है या नहीं? **चिदात्मा प्रकाशते न वा?** यदि कहें नहीं दीखता तो जो वस्तु दीखती ही नहीं उसमें अध्यास कैसे हो सकता है? और यदि कहें दीखता है तो आत्मा साफ-साफ दीखनी चाहिये। उसमें भी अध्यास सम्भव नहीं है।

गीतामें आत्माको विज्ञेय और अविज्ञेय दोनों कहा गया है:

सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् (१३.१५)
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् (१३.१७)

प्रश्न यह है कि आत्मामें ये दोनों विरुद्धधर्म हैं या यह निर्धमक है? आत्मा सर्वकी दृष्टिसे तो विरुद्ध-धर्माश्रय है, किन्तु तत्त्वकी दृष्टिसे वह निर्धर्मक है। तत्त्व बोधके लिए आत्माका सर्वसे भी विवेक करना पड़ता है।

अज्ञान और ज्ञान दोनोंकी हेतुता आत्मामें है। इसीसे आत्मा दीखता भी है और नहीं भी दीखता है। कैसे? आत्मा स्वयं प्रकाश है, इसका अर्थ है कि आत्मा मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे अतीत है, अवेद्य है, और साथ ही साक्षात् अपरोक्ष भी है। दृश्यरूप न होकर सदा अपरोक्ष रहना—यही स्वयं-प्रकाशताका अर्थ है।

आत्मा कभी परोक्ष नहीं होता, सदा अपरोक्ष रहता है। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि मैं यहाँ रह जाऊँ और मेरी आत्मा स्वर्ग, नरक, बैकुण्ठ चली जाय? क्या कभी ऐसा हो सकता है कि मैं न जानूँ और आत्मा जान ले अथवा मैं सुखी न होऊँ और मेरी आत्मा सुखी हो जाय? आप अपनी आत्माको कहीं, कभी किसीमें नहीं रख सकते। आपको झूठ ही भ्रम हुआ है कि आप किसी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थितिके बिना नहीं रह सकते। हमने देखा है

पतिव्रता स्त्री पतिके विना भी जीवित रहती है, वात्सल्यमयी जननी पुत्रके विना जिन्दा रहती है और अत्यन्त लोभी भी धनके विना जीवित रहते हैं। इसका कारण यही है कि केवल आत्मा ही सर्वप्रिय है, सदा अपरोक्ष है और अन्य सब आत्माके लिये ही प्रिय हैं, उनमें प्रियता, प्रत्यक्ष या परोक्ष भले ही हो अपरोक्ष नहीं है।

आत्मा स्वयं में है परन्तु विषयोंकी भाँति यह जाना भी नहीं जाता।

जब तक हम अपने (आत्माके) वेद्यत्व अंशके साथ सम्बन्ध रखते हैं तब तक अविद्या रहती है। अर्थात् जब तक आत्माका अवेद्यत्व, उसकी अदृश्यता, अतीन्द्रियता, हमारी वृत्तिमें फुरती है तब तक हमको शान्ति तो हो सकती है, समाधि हो सकती है, निर्विकल्पता हो सकती है परन्तु आत्माका अज्ञान निवृत्त नहीं हो सकता। फिर जब आप प्रकृतिस्थ होंगे अविद्या आपके साथ लगकर आयेगी। इसके विपरीत जब हम अपने अपरोक्षत्व अंशके साथ सम्बन्धित होते हैं तब विद्याका स्फुरण होता है, ज्ञानका प्रादुर्भाव होता है, और अविद्या-अज्ञान निवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार स्वयं प्रत्यगात्मामें ही ज्ञान और अज्ञानके हेतु हैं। अवश्य ही ये आन्तर हेतु हैं।

जब आप अपनी स्वयं-प्रकाशिताको समझ जायेंगे अर्थात् देश, काल, वस्तु, इनके समूह, विकार और अवान्तर भेदोंसे विलक्षण स्वयं प्रकाशित्वको समझ जायेंगे तो देश-काल-वस्तुरूप दृश्य वाधित हो जायेगा। स्वयं-प्रकाशको विद्याकी भी जरूरत नहीं है। स्वयंप्रकाश हमेशा वृत्तिमें फुरे ही, यह आवश्यक नहीं है; वृत्तिके साथ सम्बन्धका आग्रह तो अविद्या ही है। वृत्ति वेद्य है, आविद्यक है, और प्रत्यगात्मा वेद्यसे विलक्षण है।

इसलिये आत्मा (अवेद्यांशमें) नहीं दीखता और (अपरो-

क्षांशमें) दीखता भी है। आत्माका यह ज्ञाताज्ञात स्वरूप ही अध्यासका हेतु बनता है। स्वयंप्रकाश और वेद्यके कल्पित संयोगमें अध्यासका निर्वचन होता है।

प्रत्यगात्मा एक, कूटस्थ, नित्य और निरंश है। उसीमें अनिवर्चनीय बुद्धि-आदि अनात्म पदार्थोंके प्रतीयमान मिश्रणसे अध्यास होता है। इस प्रतीतिको न मिटाया जा सकता है न पृथक् किया जा सकता है, परन्तु इसका बाध किया जा सकता है। ❁

(४. ३)

अहं और ज्ञानका विवेक

यह तो स्पष्ट ही है कि हम 'इदं'को ज्ञानके द्वारा जानते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा, उपासनासे नयी आकृति बनाकर, अभ्याससे नयी परिस्थिति बनाकर जो कुछ भी जाना जाता है वह सब इदं है। जो इदं है वह जाना जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। अब प्रश्न यह है कि अहं ज्ञानको जानता है अथवा ज्ञानसे अहं जाना जाता है:

अहं ज्ञानं प्रकाश्यते वा ज्ञानेन अहं प्रकाश्यते

अर्थात् विचारका विषय है कि अहं और ज्ञानमें कौन आधार है तथा कौन आधेय है? अहंसे ज्ञान पैदा होता है और नष्ट होता है या ज्ञानमें अहं पैदा होता और नष्ट होता है? इस प्रश्नका विचार वेदान्त-विचारका मेरुदण्ड है!

प्रथम हम अहंके अधिष्ठानत्वके पक्षमें विचार प्रस्तुत करते हैं। साधारण अनुभव यह है कि घट, पट, मठ, स्त्री, पुरुषको जाननेवाला मैं हूँ। देश-काल-वस्तु, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-समाधि जो कुछ भी मालूम पड़ता है वह सब 'मैं' को ही मालूम पड़ता है, अतः मैं ही ज्ञानका आधार है। इसी साधारण अनुभवको कुछ दर्शनकारोंने भी अपने दर्शनका आधार बनाया है। आस्तिक दर्शनोंमें न्याय-दर्शन ज्ञानको आत्माका गुण मानता है। वह कहता है कि आत्मा ज्ञानगुणका आश्रय है जो इन्द्रियों अथवा

मन और विषयके संयोगमें प्रकट होता है और वियोगमें अव्यक्त रहता है।

इसी न्याय-दर्शनको उपासनाके आचार्योंने भी कुछ अंशमें पकड़ा है। वे कहते हैं कि एक ज्ञान धर्म (गुण) होता है, और एक धर्मी भी ज्ञानस्वरूप है। उनका अभिप्राय जीवसे है जीव भी ज्ञान है और वृत्ति भी ज्ञान है। न्याय कहता है, केवल वृत्ति ही ज्ञान है; वह जीवके ज्ञानत्वका निरूपण नहीं करता।

वेदान्तियोंने ज्ञानको आत्माका गुण माननेका खण्डन किया है। ये पूछते हैं : 'ज्ञान जिस आत्माका गुण है वह आत्मा अज्ञान-रूप, जड़ है या ज्ञानरूप चेतन?' आत्माको ज्ञानातिरिक्त मानना तो उसको जड़ मानना है और अपना जड़त्व किसीको भी अनुभवसे सिद्ध नहीं है। यदि आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्माका गुण है तो ज्ञान और आत्मामें गुण-गुणी भावरूप अनित्य सम्बन्ध होगा। तब तो आत्मामें कभी ज्ञान होगा और कभी नहीं होगा अर्थात् आत्मा कभी जड़ होगा और कभी चेतन। यह एक अनिर्णयकी और हास्यास्पद स्थिति होगी। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान उसका गुण नहीं है।

अच्छा, संसारमें जितना ज्ञान होता है उसके मूलमें अहं मौजूद रहता है। अतः यह स्पष्ट ही है कि इदंसे अहं महान् है। इदं अहमाश्रित होता है। अब देखिये, यह जो आपका अहं है वह परिच्छिन्न है या नहीं? उस परिच्छिन्नताका ज्ञान होता है या नहीं? आपका अनुभव है कि यह परिच्छिन्न है और इसका ज्ञान होता है।

अहं एक शरीरमें होता है और ज्ञान पूरे मकान, नगर इत्यादिका भी होता है। इसका अर्थ है कि जहाँ अहं है (शरीर-में) उसका भी ज्ञान होता है और जहाँ अहं नहीं है (मकान

आदिमें) उसका भी ज्ञान होता है। तब अहं ज्ञानका आश्रय कैसे ? इसपर कह सकते हैं कि अहं (जो ज्ञान ज्योतिपुञ्ज है)-की ज्योति इन्द्रियोंसे निकलकर पूरे मकानमें फैल जाती है इसलिए मकानका ज्ञान हो जाता है अथवा पूरा मकान इन्द्रियोंके द्वारा अहंमें प्रतिबिम्बित हो रहा है इसलिए मकानका ज्ञान हो जाता है*। दोनों दशाओंमें ज्ञानका आश्रय अहं ही सिद्ध होता है। यह अहंके ज्ञानाश्रय होनेके पक्षमें युक्ति है।

---

* शास्त्रमें विषय-ज्ञानके सम्बन्धमें दो प्रक्रियाएँ पायी जाती हैं :

१. इन्द्रियाँ विषयके पास जाकर विषय ग्रहण करती है। इसको प्राप्यकारित्व कहते हैं।

२. विषयाभास इन्द्रिय-देशमें आता है और तब विषय ज्ञान होता है। इसको अप्राप्यकारित्व या प्रत्यापत्ति-विचार कहते हैं।

समस्त दर्शनकार इस मतसे सहमत हैं कि नाक, जीभ और त्वक् इन्द्रियाँ सभी अपने-अपने स्थानपर रहकर ही विषयाभास ग्रहण करती हैं। केवल आँख और कानके बारेमें विवाद है। उपर्युक्त दो प्रक्रियाएँ इन्हींके बारेमें हैं।

विज्ञानवादी बौद्धोंका पक्ष भिन्न है। वे कहते हैं कि सभी वस्तुओंसे एक प्रकाश निकलता है और उसका एक निश्चित दूरीका मंडल होता है। जब नेत्रका मंडल और दृश्य-वस्तुके मंडल मिलते हैं तब विषय-ज्ञान होता है। जब ये मंडल एक दूसरेसे दूर रहते हैं तो दूरीके अनुपात-में अपूर्ण ज्ञान होता है।

वेदान्तियोंका कहना है कि एक ही चेतन तीन भागोंमें विभक्त-सा होता है : इन्द्रिय-चैतन्य अथवा अध्यात्म, विषय-चैतन्य अथवा अधिभूत तथा प्रकाश-चैतन्य अर्थात् अधिदैव। अब चाहे इन्द्रिय विषयमें जायँ अथवा विषय इन्द्रियमें आवें; जबतक अध्यात्म और अधिभूतका अधिदैव-

ठीक है, अहंको इन्द्रियोंके द्वारा विषयका ज्ञान होता है। परन्तु क्या यह अहं हर समय, हर जगह, हर वस्तुमें रहता है? यदि आप अपने अहंको हर समय, हर जगह, हर वस्तुमें अनुभव करते हैं तो आपको चुनौती है कि आप अपने 'अहं'की परिच्छन्नता सिद्ध कर दें! यह तो एक जीववादकी दृष्टिसृष्टि सिद्ध हो गयी! सृष्टि आपके पेटमें सिद्ध हो गयी!! फिर तो आपका अहं ईश्वर ही हो गया। परन्तु आप जानते हैं कि आपका अहं हर समय, हर देशमें, हर वस्तुमें नहीं रहता। सुषुप्तिमें विषयके अभावमें यह विषय-सम्बन्धवाला अहं कहाँ चला जाता है? वहाँ जब कोई विषय अहंको मिलता ही नहीं तो वह अपनेको परिच्छिन्न रूपमें स्फुरित ही कैसे करेगा? अहंकी परिच्छिन्नता प्रकाशित ही तभी होगी जब कोई विषय प्राप्त होगा। जाग्रत् और स्वप्नमें अहं देशके साथ मिलकर अपनेको अंगुष्ठ-प्रमाण, मध्यम-परिमाण या अणु-परिमाण अनुभव करता है, कालके साथ मिलकर अपनी आयुका आकलन करता है और द्रव्यके साथ मिलकर अपनेमें वजनपनेका अनुभव करता है। परन्तु सुषुप्तिमें जब देश-काल-द्रव्यकी प्रकाशिका-वृत्ति ही लुप्त हो गयी तो किसको लेकर अहं अपनेको प्रकाशित करेगा?

इसका अर्थ यह हुआ यह अहं भी जो प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग है ज्ञाता नहीं है ज्ञेय है। यह सर्वकालिक नहीं है क्योंकि

की सहायतासे मेल नहीं होता तबतक विषयज्ञान नहीं हो सकता। जाग्रत्में इन्द्रिय, प्रकाश और विषयगत चेतनका भेद प्रतीत होता है, परन्तु स्वप्नमें एक ही चेतन तीन रूपोंमें प्रतीत होता है। सुषुप्तिमें तीनोंकी निःस्पन्द अवस्था रहती है अतः वहाँ विषय-विषयी भाव स्फुरित नहीं होता। इस प्रक्रियासे ज्ञान अर्थात् चेतन ही अहंका आश्रय सिद्ध होता है।

सुषुप्तिमें अहंका स्फुरण नहीं होता। जाग्रत्-स्वप्नमें यह अहं बदलता रहता है। इन बदलते अहंकारोंमें अनुगत एक और अहं है। उसीको ज्ञान कहते हैं। वही अहंका आश्रय है।

जैसे घट-पटादि विषय ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार एक शरीरमें जो 'मैं हूँ' यह प्रत्यय है वह भी ज्ञानसे ही प्रकाशित होता है। 'मैं अमुक हूँ' अथवा 'मैं साढ़े तीन हाथ परिमाणका हूँ' अथवा 'मैं सौ वर्ष आयुका हूँ' अथवा 'मैं सौ पौंड वजनका हूँ' ये सब प्रत्यय ज्ञानसे ही प्रकाशित होते हैं। अहंकी जो परिच्छिन्नता है वह तथा अहंकी परिच्छिन्नतामूलक जो प्रतीति है वह तथा उनका अभाव सब दृश्य हैं और ज्ञान उसका द्रष्टा है। ज्ञानका कोई परिच्छेदक नहीं है, अतः ज्ञान अपरिच्छिन्न ही होता है।

यहीं उपासना और ज्ञान सम्प्रदायोंका अन्तर हो जाता है। उपासना सिद्धान्तमें सब ज्ञान अहंके आश्रित है तथा अहं, अहं, अहं—ये सब व्यक्ति हैं और इन सब अहंताओंमें जो ज्ञान-सामान्य है उसका आश्रय ईश्वर है। न्यायकी भाषामें यों भी कह सकते हैं कि ज्ञान-विशेषका आश्रय अहं-जीव है तथा ज्ञान-सामान्यका आश्रय ईश्वर है। इस प्रकारके कथनमें आपत्ति यह आती है कि जीव और ईश्वर दोनों ज्ञानके आश्रय होनेसे ज्ञानातिरिक्त ज्ञान गुण वाले सिद्ध होते हैं; ऐसी दशामें उनमें ज्ञानका लोप और उदय दोनों स्वीकार करने पड़ेंगे तथा दोनोंको जड़ मानना पड़ेगा। जैसे पृथ्वी गन्ध गुणवाली है तो पृथ्वीकी एक ऐसी भी अवस्था होती है जिसमें गंध गुण न हो। उस अवस्थाका वर्णन यों किया गया है कि :

उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निष्क्रियं निर्गुणं च तिष्ठति

इस आपत्तिका उपासकोंने समाधान भी किया है। श्रीरामानु-

जाचार्य इन उपासकोंके अग्रणी हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान दो प्रकारका होता है: धर्मज्ञान तथा धर्मीज्ञान। धर्मज्ञान जीवाश्रित रहता है; इसीको वृत्तिज्ञान भी कहते हैं और इसका लोप और जागरण होता रहता है। परन्तु जीवका जो आत्मा है, जीवका जो स्वरूप है, वह ज्ञानरूप ही है, और वही धर्मीज्ञान है; वही ईश्वराश्रित है। उसका लोप और जागरण नहीं हो सकता।

परन्तु हम यह पूछते हैं कि ज्ञानमें जो यह दो प्रकारका भेद है अर्थात् ज्ञानका जो यह धर्म-धर्मी भेदरूप द्वित्व है वह प्रकाश्य है या नहीं? पुनः ज्ञानमें यह सामान्य-विशेषका भेद, आश्रित-आश्रयका भेद अथवा अन्य प्रकारके भेद प्रकाश्य हैं या नहीं? निश्चय ही वे सब प्रकाश्य हैं, दृश्य हैं। अद्वैती कहते हैं कि ज्ञानका यह द्वित्व उनमें अनुस्यूत एक अखण्ड-ज्ञानका भास्य ही है। अतः ज्ञान उपाधिभेदसे ही भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है, स्वरूपसे नहीं। अतः अद्वैतमतसे ऐसा कहना पड़ता है कि एक अखण्ड ज्ञान ही सामान्यकी उपाधिसे ईश्वरत्वेन भासता है और विशेषकी उपाधिसे जीवत्वेन भासता है। यदि वेदोक्त नेति-नेति के द्वारा उपाधिमात्रका निषेध कर दिया जाय तो निषेधावधिके रूपमें एक अद्वितीय चेतन-सत्ता ही उपलब्ध होती है। सिद्धान्तमें एक अखण्ड चेतन ही जीवत्वेन, ईश्वरत्वेन और उपाधित्वेन भी भास रहा है।

प्रश्न : अच्छा ठीक है, तो यह निर्णय हुआ न कि निरुपाधिक चेतन ब्रह्म है और सोपाधिक चेतन ईश्वर या जीव है?

उत्तर : क्या आप 'उपाधि' शब्दका ठीक-ठीक अर्थ ग्रहण करते हैं?

प्रश्न : आप समझाइये। हम परिस्कार करनेको तैयार हैं।

उत्तर : अच्छा तो सुनिए।-

उपाधि = उप + आधि । उप = पासमें; अधि = आधान ।

उप समीपे स्थित्वा आधानं स्वगुणस्य स्वधर्मस्य अन्यस्मिन् आधानं उपाधिः जो वस्तु किसी दूसरी वस्तुके पास रहकर अपना गुण और धर्म उस दूसरी वस्तुमें आधान कर रही हो, वह वस्तु उस दूसरी वस्तुकी उपाधि कहलाती है और दूसरी वस्तु उस उपाधि द्वारा उपहित कहलाती है। जैसे स्फटिक मणि (बिल्लौरी शीशा) के पास रक्तपुष्प होनेसे वह मणि रक्तिम प्रतीत होती है और पीत वस्त्रखण्ड समीप होनेसे पीत अनुभव होती है। यहाँ मणि न रक्तिम है न पीत, बल्कि पुष्प और वस्त्रके कारण वैसी दीखती है। अतः एक पुष्प और पीतवस्त्र दोनों मणिकी उपाधियाँ हैं और मणि उस समीपकालमें उपहित है। यह स्पष्ट है कि उपाधिके अभावमें मणि स्वरूप में स्थित है। स्वरूपतः मणि न रक्त है न पीत।

यह अन्तःकरण ही चैतन्य आत्माकी उपाधि है। अपनी ओरसे तो अन्तःकरण भी अविद्याकी उपाधि है। देश-काल-वस्तु, सब हमारी उपाधिका ही विलास है, यद्यपि यह बात सबको मालूम नहीं पड़ती। स्वप्नावस्था ईश्वरने इसी बातको समझानेके लिए हमारे जीवनमें दी है। वहाँ इस बातका प्रत्यक्ष होता है कि देश-काल-वस्तुके निर्माणका सामर्थ्य हमारी दृष्टिमें ही है। अत्र पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति। वहाँ हम अपनी ज्योतिसे ही धरती, सूरज, चाँद, हवा, आकाश, स्वर्ग, नरक, शत्रु, मित्र, जीव, ईश्वर सब बना लेते हैं। स्वप्न हमारे सामर्थ्यका नमूना है और सृष्टिके रहस्यका उद्घोषक है। क्या स्वप्नकी तरह ही जाग्रत्‌के देश-काल-वस्तु हमारी दृष्टिके विलास नहीं हैं? बात सत्य होते हुए भी समझनेमें मुश्किल है। (यही दृष्टि-सृष्टि-वाद है)।

शरीरमें व्याधि होती है, मनमें आधि और चित्तमें समाधि होती है परन्तु आधि, व्याधि और समाधि तीनों होती हैं अन्तः-करणकी उपाधिमें। अन्तःकरणकी वृत्तियाँ जब विशेष-विशेष विषयों और उनके अंगोंमें जाती हैं तब वे व्याधि कहलाती हैं; जब चारों ओर भटकती हैं,कहीं ठहरती नहीं तो वे आधि कहलाती हैं और जब अपनेमें ही एक स्थान पर टिक जाती हैं तो वे समाधिरूप हो जाती हैं। अन्तःकरण व्यष्टि है या समष्टि? सत्य बात यह है कि व्यष्टित्व और समष्टित्व दोनों अन्तःकरणमें ही भासते हैं। तब समष्टि अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य ईश्वर है और व्यष्टि अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य जीव है, यह भेद भी अर्थहीन है क्योंकि दोनों अन्तःकरणोपाधिक ही है। उपाधिके भेदसे उपहितका भेद नहीं होता है और यहाँ तो (दृष्टिसृष्टिवाद-में) उपाधिका भी भेद नहीं है।

यह कहें कि अन्तःकरण व्यष्टि है और 'व्यष्टि' जीवकी उपाधि है तथा इन व्यष्टियोंकी समष्टि ईश्वरकी उपाधि है—उस ईश्वर-की जिसने अन्तःकरण और देश-काल-वस्तु सबका निर्माण किया है। यह मेरी पत्नी, यह मेरा मकान, यह मेरा धन, ये मेरे सम्बन्धी, यह मेरा शरीर, मेरी इन्द्रिय, मेरा मन अथवा मेरी बुद्धि, मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि ये सब अन्तःकरण हैं (स्वरूपके अज्ञानसे ये अन्तःकरणमें मालूम पड़ते हैं) और ये सब जीवकी उपाधि हैं। इसके विपरीत देश, काल और द्रव्य अपने कार्य-कारणरूपमें ईश्वरकी उपाधि है।

ठीक है, अब देखिये, अन्तःकरणका द्रव्य समष्टिका अंग है, उस समष्टि अंगोंमें यह व्यष्टि अंग केवल एक सीमित समष्टिको मैं-मेरा माननेके कारण है। स्त्री, धन, भवन, परिवार व्यष्टि मैं-मेरे की स्वीकृतिमें ही है, समष्टि देश-काल-द्रव्यमें नहीं। अतः जीवकी

उपाधिको ईश्वरकी उपाधिसे अलग करनेवाला केवल अज्ञान है। इसीलिये जीव और ईश्वरका भेद अज्ञान-कल्पित है।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा कि ईश्वर 'जगत्' बनाता है और उसी जगत्में जीव अज्ञानसे 'संसार' बना लेता है। देश-काल द्रव्यरूप संसार जगत् है और 'मैं-मेरा रूप जगत्' संसार है। सांख्यवादी इसीको प्राकृत-सृष्टि और प्रातीतिक सृष्टि कहते हैं तथा आभासवादी अद्वैती ईश्वर-सृष्टि और जीव-सृष्टि कहते हैं। परन्तु सभीके मतमें जीव-सृष्टि मिथ्या है और ईश्वर-सृष्टि सत् है। व्यष्टि-उपाधिके मिथ्यात्व निश्चयके बाद जीव और ईश्वरका भेद औपाधिक भी सिद्ध नहीं होता, वास्तविक तो है ही नहीं क्योंकि दोनों चैतन्य हैं।

अब कहें कि ब्रह्म और ईश्वरका भेद औपाधिक है अर्थात् सोपाधिक चैतन्य ईश्वर है और निरुपाधिक चैतन्य ब्रह्म है। यह भेद व्यावहारिक होते हुए भी ठीक नहीं है। चैतन्यमें जब, जहाँ, जिस रूपमें उपाधि है वहाँ ईश्वर हैं यही सोपाधिक ईश्वरका अर्थ है न! परन्तु जब जहाँ किसीरूपमें उपाधि नहीं है वहाँ क्या ईश्वर नहीं है? दूसरे शब्दोंमें, यदि उपाधिसाहित्यमें ईश्वर रहता है तो उपाधिराहित्यमें क्या ईश्वर नहीं रहता? इसीप्रकार यदि निरुपाधित्वमें चैतन्य ब्रह्म है तो क्या सोपाधित्वमें ब्रह्मका अभाव हो जाता है? वास्तवमें, जो चैतन्य उपाधिसहित है वही उपाधि-रहित भी है। चैतन्यमें जैसे उपाधि साहित्य पूर्वक ईश्वर कल्पित होता है वैसे ही चैतन्यमें उपाधिराहित्य पूर्वक ब्रह्म कल्पित होता है। उपाधिकी सत्यता अज्ञानसे कल्पित है। उस अज्ञानकी निवृत्तिके लिये ज्ञान द्वारा उपाधि-राहित्यकी कल्पना की जाती है। निवृत्तिका स्वरूप क्या है? निवृत्ति जहाँतक प्रवृत्ति-सापेक्ष है वहाँतक निरुपाधित्व भी सोपाधित्वके सापेक्ष है और वह निरु-

पाधि-चैतन्यका शुद्ध स्वरूप नहीं है। जो उपाधिके भावका अधिष्ठान है वही उपाधिके अभावका अधिष्ठान है। अतः शुद्ध चैतन्य वह है जो उपाधिके भावाभावका, साहित्य और राहित्यका, प्रकाशक अधिष्ठान है। उसमें उपाधि मिथ्या है और मिथ्या उपाधिके आधारपर किये गये भेद जैसे जीव ईश्वरका भेद या ईश्वर-ब्रह्मका भेद व्यावहारिक होते हुए भी मिथ्या हैं। एक शुद्ध चैतन्य ही अपनी महिमामें ज्योंका त्यों स्थित है और सम्पूर्ण भेदों सहित यह जीव-ईश्वरकी कार्य-कारणात्मक सृष्टि उसीमें उसीसे उसीको बिना हुए ही मिथ्या प्रतीत हो रही है अर्थात् वहीं प्रतीत हो रही है जहाँ यह नहीं है।

अब हम पुनः अपने विषय पर आते हैं। अहं ज्ञानका आश्रय नहीं है, ज्ञान अहंका आश्रय है। जो चैतन्य जाग्रत्‌के अहंका प्रकाशक है वही स्वप्नके अहंका प्रकाशक है और वही सुषुप्तिमें अहंके अभावका प्रकाशक है। जैसे सुषुप्तिमें अहं-इदं कुछ नहीं भासता वैसे ही महा प्रलयमें भी कुछ नहीं भासता। जो सुषुप्तिको देखता है वही चैतन्य महाप्रलयको भी देखता है। अहं, इदं, और इनके अभाव दृश्य हैं और इनका प्रकाशक एक चैतन्य है।

शरीरका गोरापन इदं है और 'मैं गोरा हूँ' यह अहं प्रत्यय है। दोनों प्रत्यय प्रतीयमान हैं, परिवर्तनशील हैं। इनको आप अपने ज्ञानस्वरूप, साक्षीस्वरूपके साथ क्यों जोड़ते हो? हमने गोरा रंग काला होते देखा है और काला रंग गोरा होते देखा है। बद्रीनाथ-यात्रामें एक गोरा आदमी गर्म कुण्डमें स्नान करने गया। थोड़ा अधिक समय कुण्डमें स्नान किया उसने। जब बाहर निकला तो उसका रंग लाल हो गया और थोड़ी देर बाद हवा लगने पर काला हो गया। एक दूसरी घटना है। गीता प्रेस

गोरखपुरके घनश्यामदास जालानके घरमें एक स्त्री थी जिसका रंग काला था। जब वह मरने लगी तो जयदयाल गोयन्दकाजी वहाँ आये और उन्होंने उस स्त्रीको विष्णुभगवान्का ध्यान स्तवन कराया। थोड़ी देरमें वह स्त्री कहने लगी कि उसे भगवान् विष्णुका दर्शन हो रहा है। हमने देखा कि उस समय उसका काला चेहरा गौर वर्णका हो गया।

जो अहंता दृश्य है उसको ज्ञानमात्र, चैतन्य, साक्षीके साथ क्यों जोड़ते हो? आप देहके साथ मिलकर अपनेको जन्मने-मरने वाला समझते हैं, कर्मेंद्रियोंके साथ मिलकर कर्ता बनते हैं, अन्तःकरणके साथ मिलकर रागी-द्वेषी बनते हैं, फलवृत्तिके साथ मिलकर सुखी-दुःखी होते हैं। पर वास्तवमें आप ऐसे कुछ नहीं हैं। यह अध्यास है, अपने स्वरूपके अज्ञानका कार्य है। आपकी परिच्छिन्नता केवल औपाधिक है। आपमें कर्तृत्व, कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे, भोक्तृत्व ज्ञानेन्द्रियों और मनकी उपाधिसे तथा प्रमातृत्व अन्तःकरणकी उपाधिसे है। आप न इदं हैं न प्रतीयमान अहं। आप इनसे पृथक्, इनके भावाभावके प्रकाशक, ज्ञानमात्र हैं।

(४. ४)

आत्मा नितान्त अविषय नहीं है
अस्मत् प्रत्ययका विषय भी है : १

समस्या यह है कि आत्मामें अनात्मा और उसके धर्मोंका अध्यास शक्य नहीं है क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्र है, प्रत्यगात्मा है और इन्द्रिय, मन, और बुद्धिका अविषय है, तथा सभी लोग इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विषयमें ही अन्य विषयोंका अध्यास करते हैं जब कि सिद्धान्तमें आत्मा युष्मत्-प्रत्ययसे रहित प्रत्यगात्माको अविषय कहा गया है।

पुनः जो पराधीन-प्रकाशवाली चीज (दृश्य) होती है उसमें अध्यास तभी संभव होता है जब उसके सामान्य अंशका ग्रहण तो हो परन्तु विशेष अंशका ग्रहण न हो। उदाहरणार्थ सामने सीप-को देखकर जब यह ज्ञान तो हो कि 'कुछ है परन्तु यह ज्ञान न हो कि 'सीप है', तभी सीपमें चाँदीका अध्यास संभव है। भ्रम-वश जो यह ज्ञान होता है कि 'यह चाँदी है' उसमें 'यह' सीपके सामान्य अंशके ग्रहणका सूचक है तथा 'चाँदी' सीपीके अज्ञानका कार्य अध्यास है। परन्तु आत्मामें, जो अपराधीन स्वयं-प्रकाश है, अंशांशी भावकी कल्पना भी नहीं हो सकती; फिर उसमें सामान्य-विशेषका विभाग भी संभव कैसे हो सकता है? तथा ज्ञाता स्वयं अपनेको अंशतः जाननेमें शक्य भी नहीं है; अतः आत्मामें अध्यास संभव नहीं है।

पुनश्च, यदि वस्तु पूर्णतः ज्ञात है तो उसमें भी अध्यासकी संभावना नहीं हो सकती और यदि पूर्णतः अज्ञात है, तो भी उसमें अध्यास संभव नहीं हो सकता। अब आत्मा 'अहं' रूपसे पूर्णतः ज्ञात है तथा 'युष्मत्' रूपसे अत्यन्त अज्ञात है अतः आत्मामें किसी प्रकार भी अध्यास संभव नहीं है।

इस समस्याका एक समाधान तो यह है कि हम अध्यासकी असंभवताको ध्यानमें रखकर अध्यासके तथ्यको ही अस्वीकार कर दें। परन्तु यह समाधान नहीं आत्महत्या है। अपना अज्ञान और उसके कार्य दुःख, मृत्यु, मूर्खता और परिच्छन्नता सबके साक्षात् अनुभव हैं। जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले! अध्यासको नकार करके अपनी मुक्तिका द्वार ही बंद कर देना आत्महत्याके अतिरिक्त और क्या है? अतः अध्यासके तथ्यको, उसकी संभावनाको, युक्तिसे स्वीकार करके उसकी निवृत्तिका प्रयत्न करना चाहिये। हाँ जो अपने कर्मसे, भोगसे, बुद्धिसे, स्थितिसे, ज्ञानसे और अपने वर्तमान जीवनसे संतुष्ट है उसके लिये हम कोई विक्षेप उत्पन्न नहीं करना चाहते। रोगीके लिये औषधि होती है, निरोगके लिये नहीं। यदि आपको यह अनुभव होता है कि 'मैं दुःखी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ' तभी आपके प्रति वेदान्त-विचारका प्रयोजन सिद्ध होता है अन्यथा नहीं। जिसे कहीं पहुँचना ही नहीं उसके लिये न तो अध्यासको स्वीकार करनेका कोई अर्थ है और न नकारनेका। अस्तु।

अब भगवान् शंकर ही इस समस्याका समाधान करते हैं। वे कहते हैं कि यह आत्मा नितान्त अविषय नहीं है: **न तावदयमेकान्तेनाविषयः।** यह आत्मा थोड़ा ज्ञात है और थोड़ा अज्ञात है, एकान्त अविषय नहीं है। कैसे?

यह आत्मा मालूम पड़ता है। शरीरमें 'है, है, है' यह जो अनुभूति होती है वही आत्माका सूचक है। जैसे घड़ी टिक-टिक बोलती है, जैसे हण्डीमें दाल बुद-बुद करके चुरती है, वैसे ही शरीरमें आत्मा 'है, है, है' रूपमें स्फुरित होता रहता है। यह स्फुरण दो प्रकारसे होता है: 'यह है' और 'मैं हूँ'। 'यह' बाधित होता रहता है परन्तु 'मैं' सबमें अनुगत अबाधित रहता है। यह 'मैं, मैं, मैं' रूपसे स्फुरित होनेवाला आत्मा है: **अस्मत् प्रत्यय विषयत्वात्** अर्थात् 'यह आत्मा अस्मत् प्रत्यय (अहं-वृत्ति)का विषय है।' यह 'मैं-मैं' (अहं-प्रत्यय) जिसको प्रतीत होता है वह चेतन है। किसको प्रतीत होता है? मुझको हो सब प्रतीत होता है, अतः 'मैं' ही चेतन हूँ। कहो कि चेतन भी प्रतीत होता है या नहीं? तो जिसको चेतन प्रतीत होगा वह वास्तवमें चेतन होगा, दृश्य चेतन नहीं होगा। फिर उस चेतनका प्रकाशक तीसरा चेतन होगा, इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होगी। इसलिये यह बात स्वीकार करनी चाहिये यह सब चेतनको ही प्रतीत होता है और वह चेतन अपना आपा ही है।

ठीक है, आत्मा 'मैं' रूपसे सामान्यतः ज्ञात है। परन्तु मैं क्या हूँ, कितना लम्बा-चौड़ा हूँ, कितनी आयुका हूँ, कितने वजनका हूँ, यह तो कुछ मालूम पड़ता नहीं। इससे प्रतीत होता है कि आत्मा किंचित् अज्ञात भी है। इस प्रकार आत्मा ज्ञात और अज्ञात दोनों है। सामान्यतः ज्ञात और विशेषतः अज्ञात। इसलिये आत्मामें अध्यास सम्भव है।

रही बात यह कि आत्मा युष्मत्-प्रत्ययका विषय न होनेसे इन्द्रिय-प्रत्यय नहीं है और इसलिये उसमें अध्यास सम्भव नहीं है, तो ऐसा नियम ही कहाँ है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुमें ही अध्यास होता है; क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाशमें भी अविवेकी लोग तल-

मलिनता आदिका अध्यास कर लेते हैं। सुतरां प्रत्यगात्मामें अनात्माका अध्यास अविरुद्ध है।

'आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है, अस्मत्प्रत्ययका विषय है'—इसका सुन्दर और रहस्यपूर्ण विवेचन अब हम भामतीके आधारपर प्रस्तुत करते हैं। भामतीकारने कहा :

सत्यं प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाशत्वात् अविषयोः अनंशश्च, तथापि अनिर्वचनीयात् अविद्यापरिकल्पित बुद्धिमनःसूक्ष्मस्थूल शरीरेन्द्रियावच्छेदेन अनवच्छिन्नोपि वस्तुतोऽवच्छिन्न इवाभिन्नोपि भिन्न इवाकर्त्तापि कर्त्तेवाभोक्तापि भोक्तेवाविषयोप्यस्मत्प्रत्यय विषय इव जीवभावमापन्नोऽवभासते, नभ इव घट मणिक मल्लिकाद्यवच्छेद भेदेन भिन्नमिवानेकविध धर्मकमिवेति।

'यह बात सच्ची है कि प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाश होनेसे अविषय है और निरंश है। फिर भी अविद्या कल्पित मन-बुद्धि-स्थूल सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियोंके अवच्छेदसे यह आत्मा अनवच्छिन्न होता हुआ अवच्छिन्न-सा, अभिन्न होता हुआ भिन्न-सा, अकर्ता होता हुआ कर्ता-सा, अभोक्ता होता हुआ भोक्ता-सा, अविषय होता हुआ अस्मत्-प्रत्ययके विषय-जैसा और जीवभावको प्राप्त हुआ-सा भासता है, जैसे एक अखण्ड आकाश घटमठादि अवच्छेदकोंके भेदसे भिन्न-भिन्न सा तथा तत्तद् अनेक धर्मवाला जैसा प्रतीत होता है।'

प्रत्यगात्माकी स्वयं-प्रकाशता भी क्या दिव्य वस्तु है! घड़ीको देखनेके लिये आँखका सहारा अपेक्षित है, आँखको देखनेके लिये मनका सहारा अपेक्षित है, शत्रु-मित्रको देखनेके लिये चित्तका सहारा अपेक्षित है, औचित्य-अनौचित्यके निर्णयके लिए बुद्धिका सहारा अपेक्षित है और बुद्धिकी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, समाधि अवस्थाओंको देखनेके लिये उपर्युक्त कोई सहारा अपेक्षित नहीं है।

परन्तु इन आत्मदेवको तो देखो, ये दीखते भी नहीं फिर भी इनके अस्तित्वमें कभी कहीं कोई संदेह नहीं होता। **निः शंकम् अनुभूयताम्**। अपने आपको निःशंक अनुभव करो। दुनियामें कोई माईका लाल अपने मैंके अभावका अनुभव नहीं कर सकता। यह खुली चुनौती है!

विषय प्रत्यक्ष हैं, स्वर्गादि परोक्ष हैं, बुद्धि, मन इन्द्रियादि अपरोक्ष हैं और अपना आपा साक्षात् अपरोक्ष है।

बिना सूर्यादिकं प्रकाशं, बिना चक्षुरादि इन्द्रियकं, बिना बुद्धिवृत्तिकं, बिना एव अविद्या स्वयं प्रकाशते। स्वयं अर्थात् स्वयमेतर निरपेक्षम्। अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वं स्वयंप्रकाशलक्षणम्।

सूर्यादि प्रकाशके बिना, चक्षु आदि इन्द्रियोंके बिना, बुद्धि वृत्तिके बिना और अविद्याके बिना जो स्वयं अपनेसे इतरकी अपेक्षाके बिना प्रत्यक्ष-परोक्ष-अपरोक्षसे विलक्षण साक्षात् अपरोक्षरूपमें प्रकाशमान हो वह स्वयंप्रकाश चैतन्य आत्मा है।

यह स्वयं प्रकाशत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व तथा सर्वात्मकत्वसे विलक्षण है :

यदा काले प्रकाशते तदा नित्य इत्युच्यते, यदा देशे प्रकाशते तदा व्यापक इत्युच्यते, यदा कार्यकारणसंघाते प्रकाशते तदा सर्वात्मा इत्युच्यते। अयमेव हि स्वयं प्रकाशः।

जिस समय यह आत्मा कालका प्रकाशन करता है उससमय इसको नित्य कहते हैं और जब देशको प्रकाशता है तब इसको व्यापक कहते हैं। इसी प्रकार जब यह सम्पूर्ण कार्य-कारण-संघातका प्रकाशन करता है तब इसे सर्वात्मा कहते हैं। परन्तु स्वयं तो यह आत्मा स्वयं-प्रकाश है। यह देखता सबको है परन्तु स्वयं दृश्य नहीं होता।

स्वयं-प्रकाश होनेसे आत्मा 'अविषय' और 'निरंश' है।

अविषय : अर्थात् विषय-विषयीभावसे रहित, वेद्य-वेदिनीभावसे रहित प्रमातृ-प्रमाणभावसे रहित, कभी दृश्य न होने वाला, अपितु दृश्यके भावाभावका प्रकाशक, प्रकाशमात्र। 'निरंशश्च' अर्थात् अंशरहित, अंशांशीभाव और उसके अभावका प्रकाशक, प्रकाश-मात्र। उपाधिका प्रकाशक उपाधिसे निरवच्छिन्न है और उपाधिसे निरवच्छिन्न चैतन्यमें अंश कहाँ? जहाँ अन्तःकरण ही नहीं वहाँ भेदकी उपपत्ति कैसे?

ज्ञानमें न अंश है न अंशी। वह अंशकी कल्पनाका प्रकाशक अधिष्ठान है। अंशकी कल्पनाका आधार क्या? कहो देश! अच्छा, देशकल्पनासे अवच्छिन्न जो चैतन्य है वह दृश्य है या नहीं? यदि दृश्य है तो वह जड़ है। यदि सम्पूर्ण चैतन्य देशा-वच्छिन्न होकर दृश्य है तो सम्पूर्ण चैतन्य जड़ सिद्ध होगा; फिर तो जगदन्ध्यका प्रसंग उपस्थित होगा या उस जड़से भिन्न-देशसे अनवच्छिन्न चैतन्यकी उपपत्ति होगी।

यदि कहो मायासे ज्ञानमें अंश स्वीकार किया जाता है तो वह माया ज्ञानमें सर्वत्र है अथवा एक देशमें है। यदि सर्वत्र है तो ईश्वर और मायामें कोई अन्तर नहीं रहता और यदि एक-देशमें है तो अन्यदेशमें चैतन्य अनवच्छिन्न होनेसे उक्त देशमें अंशांशी भाव कल्पित है।

यदि कहो कि अंश कल्पनाका आधार काल है अथवा वस्तु है तो अखण्ड वस्तुमें खण्डकी कल्पनाका आधार अज्ञान तथा खण्डाभाव है। कैसे?

श्री उड़िया बाबा जी महाराज कहते थे कि अंगुली दो तब दीखती हैं जब इनके बीचमें इनका अभाव दिखता है, अन्यथा अंगुलियोंका द्वित्व दृश्य नहीं हो सकता। न होनेसे ही होना दिखता है। और जिसको 'होना' दिखता है उसीको 'न होना' दिखता है

दूसरे शब्दोंमें, जब हम किसी अज्ञान वस्तुको देखते हैं तो हम अपने और उस वस्तुके मध्य किसी अदृश्यकी कल्पना कर लेते हैं। यह 'अदृश्य' दृश्य-वस्तुका अभाव और श्री उड़िया बाबा जी महाराजके शब्दोंमें अपनी अपरिच्छिन्नताका अज्ञान है।

हम कालके अवयवोंको जानते हैं। परन्तु एक क्षण और दूसरे क्षणका भेदक क्या है? वह क्षणाभाव ही है और यह क्षणाभाव अन्यवी काल है। यह काल क्या है? अपने निरंश आत्मामें क्षण, युग, कल्प, महाकल्प आदिके रूपमें जो कालावयवोंकी प्रतीति है उसमें जो सत्ता-सामान्य अन्यरूपसे कल्पित है वह काल है। क्रमकी संवित्का नाम काल है।

पूर्व-पश्चिमके भेदका आधार इनके मध्य दिक् तत्त्व है और अपने शरीरकी स्थिति घंटा-मिनटके भेदका आधार है इनके मध्य काल तत्त्व और सूर्य चन्द्रादिकी गति अथवा घड़ीकी सुईकी गति। घट और पटके भेदका आधार है, उनका द्रव्य और तदाश्रित गुण। भेद-कल्पनाके ये ही आधार हैं:—देश-काल-द्रव्य और इनके खण्डोंमें अहं-मम स्फुरणा जब आप अपने स्वयंप्रकाश स्वरूपका अनुसंधान करेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि देश-काल-द्रव्य अज्ञात आत्मा सत्ताके ही नाम हैं। आपका आत्मा ही देश काल द्रव्यके रूपमें स्फुरित हो रहा है। इस अधिष्ठानका ज्ञान होने पर इनके आधार पर कल्पित किये गये अंशांशीभाव मिथ्या निश्चित हो जायेंगे, प्रत्ययके देश काल द्रव्य और इनके दीखनेमें जो एक अदृश्य देशकालद्रव्यका बीज है वह, सब कट जायेंगे। जो बीज है वह चैतन्य नहीं और जो चैतन्य है वह बीज नहीं हो सकता। क्योंकि बीज परिणामी है और चैतन्य परिणामका साक्षी है।

परमात्मामें न अंश है न विषयत्व। ऐसा होने पर भी

अनिर्वचनीय अनादि अविद्यासे परिकल्पित मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और स्थूल सूक्ष्म शरीरोंसे वास्तवमें अनवच्छिन्न होता हुआ भी यह ज्ञानस्वरूप आत्मा परिच्छिन्न-सा भासता है। परन्तु परिच्छिन्नता भास्य कोटिमें है। उपाधि, उपाधियोंका भेद तथा औपाधिक परिच्छिन्नता—यह सब प्रकाश्य है। स्वयं-प्रकाश आत्माके साथ इनका क्या सम्बन्ध होगा? यही कि जो प्रकाश्य है वह बाधित भासमान है और जो प्रकाशक आत्मा है वह अबाधित भासमान है।

भाष्यमें अधिष्ठान-ज्ञान निवर्तत्व रूप मिथ्यात्व है तथा बाध्यतारूप मिथ्यात्व है।

जो भास्य है वह सब जगह नहीं होता, सब कालमें नहीं होता, सबमें अथवा सब नहीं होता। अतः जो भास्य है वह परिवर्तनशील है और जो सम्पूर्ण परिवर्तनोंका अवभासक है, साक्षी है वह अबाधित है।

इस बाध और अबाधको ठीक-ठीक समझना चाहिए। वेदान्तियोंने 'बाध' शब्द आचार्य जैमिनीके पूर्वमीमांसासे उधार लिया है। वहाँ एक अध्यास ही 'बाध-अध्याय'के नामसे है। वहाँ कुल ४५० प्रकारके बाधोंका वर्णन है। वहाँ कहा गया है:

प्रमाणाभासः प्रमाणेन बाध्यते

अर्थात् प्रमाणाभास प्रमाणसे बाधित हो जाता है। जिसके अनस्तित्व, अयथार्थत्वका निश्चय शक्य हो वह बाधित वस्तु है। इदं वाच्य अथवा युष्मत्-वाच्य जो कुछ भी दृश्य है वह सब कभी न कभी, कहीं न कहीं, किसी न किसीकी अपेक्षा, अयथार्थ सिद्ध हो जाता है अतः वह सब बाधित है। परन्तु अहं-वाच्य जो साक्षी आत्मा है वह किसी कालमें, किसी देशमें और किसीकी अपेक्षासे

'नहीं है' अनुभव नहीं होता, अतः आत्मा अबाधित है। अवश्य ही अहं-प्रत्यय और साक्षी चेतन, ज्ञानका, विवेक अपेक्षित है। प्रत्यय जितने हैं वे सब बाधित भासमान हैं और उन प्रत्ययोंका प्रकाशक अबाधित भासमान है।

मिथ्यात्व निश्चयका नाम बाध है। लोगोंकी जो मान्यता है कि जो वस्तु दीखती है, अनुभव होती है और हमारे इन्द्रियादिके व्यवहारका विषय बनती है वह तो मिथ्या नहीं हो सकती और जो मिथ्या है उसकी प्रतीति और उसका व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता, वह भ्रान्त मान्यता है। अभान अथवा अप्रतीतिका नाम बाध नहीं होता, अपितु जीव, और जगत्के मिथ्यात्व-निश्चयका नाम बाध है :

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः जीवजगतोऽप्रतीतिर्बाधो न किन्तु मिथ्यात्व-निश्चयोर्बाध :

सर्वप्रकाशक ज्ञान किसी भी भास्यका विरोधी नहीं होता, फिर प्रतीति अथवा भानका विरोधी क्यों होगा? और भान ज्ञानका बच्चा है, ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञानाभिन्न है। मालूम पड़ना तो ज्ञान ही है।

यदि ज्ञानका लक्षण जगदादिका अभान मान लिया जाय तो संसारमें कोई ज्ञानी ही नहीं हो सकता, ज्ञानकी परम्परा ही नहीं चल सकती और वेदके यथार्थ ज्ञानके शंसनकी निरर्थकता होगी। तब किसी जिज्ञासुके दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। नहीं, नहीं, ज्ञान होता है, इसी जीवनमें होता है और भान रहते हुए ही होता है और यदि आपके गुरुको हुआ है तो आपको भी अवश्य होगा। ज्ञानीको दुनिया ऐसे ही दीखती है जैसे अज्ञानीको, केवल उसे उसके मिथ्यात्वका निश्चय रहता है कि यह जहाँ दीख रही है वहाँ नहीं है, जब दीख रही है उसके आगे-पीछे वह नहीं है

और जो दीख रही है वह अपने आश्रय स्वयं आत्मासे अभिन्न है। सिनेमाके पर्देपर चलचित्रकी भाँति तात्कालिक शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य रसोंका उद्रेक प्राप्त होनेपर भी ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूपमें अविचलित ही रहता है, तथा उन रसोंके प्रति भोक्ता-भोग्य भाव अथवा प्रापक-प्राप्तव्य भाव जाग्रत् नहीं होता।

हम मैसूरकी चित्रशाला देखने गये। वहाँ अलग-अलग रसोंके उत्कृष्टतम चित्र थे। किसीको देखकर रोये, किसीको देखकर डरे और किसीको देखकर हँसे। वहाँ रोना, डरना, हँसना सब आनन्दके ही हेतु थे। बाहर निकलकर आये तो ज्योंके त्यों! हाँ डरानेवाले या वीभत्स रसके चित्रोंके प्रति भी प्रशंसाका भाव था कि 'वाह, क्या बढ़िया चित्र थे।'

इसी प्रकार इस संसारमें जो कुछ भी भान है वह आत्माभिन्न ही है और आत्मानन्दका ही हेतु है। अतः ज्ञानसे केवल उस भानकी अन्यत्वेन सत्यताके मिथ्यात्वका निश्चय होता है, अभान नहीं। यही मिथ्यात्व-निश्चय बाध है।

वेदान्तका अर्थ न पर्दाको फाड़ना है, न उस पर प्रतिबिम्बित चित्रोंके भानको मिटाना है और न भानके कारण अन्तःकरणमें होनेवाली प्रतिक्रियाको मिटाना है। ज्ञान वह प्रकाश है जो चित्र और चित्राश्रय तथा प्रतिक्रिया और प्रतिक्रियाश्रय, सबको, दिखाता है, अपनेमें ही दिखता है और स्वयं देखता है।

यह ठीक है कि अन्य मतावलम्बी 'बाध' प्रक्रियाका अलग-अलग अर्थ करते हैं। जैसे बौद्ध लोग कहते हैं कि प्रत्येक प्रत्यय क्षणिक है अतः क्षणिकत्वेन प्रत्येक प्रत्यय बाधित है, मिथ्या है। अथवा यों कहो कि उत्तर-प्रत्यय पूर्व-प्रत्ययका बाध कर देता है; जैसे आपने दूरसे देखा : 'कोई मनुष्य जंगलमें लाठी लेकर जा

रहा है।' आपको डर लगा कि यह कोई डाकू है और मारेगा। पास आने पर ज्ञात हुआ कि वह तो आपका मित्र ही है। डर समाप्त हो गया और सुख आ गया। इसीप्रकार प्रतिक्षण सृष्टिमें उत्तर सुखसे पूर्व दुःख तथा उत्तर दुःखसे पूर्व सुख बाधित होते रहते हैं।

हमसे जो वस्तु अलग है उसकी उम्र हमसे कम होगी, क्योंकि हम चैतन्यके सम्मुख ही उसका पैदा होना, रहना और मर जाना प्रतीत होगा। बौद्ध लोग बाधके लिए इसी ज्ञानको पर्याप्त मानते हैं। यदि दुःखका तात्कालिक समाधान हो अपेक्षित हो तो यह ठीक भी है।

कल एक आदमी हमारे पास आया। वह बहुत दुःखी था। हमने पूछा : 'तुम आज ही दुःखी हो या कल भी दुःखी थे?' उसने कहा : 'नहीं, महाराज, कल तो मैं सुखी था, आज ही यह दुःख आया है।' मैंने कहा : 'अच्छा पहिले भी कभी दुःखी हुए थे?' वह बोला : 'हाँ पहिले भी दुःखी रह चुका हूँ।' तब हमने कहा : 'फिर तुम क्यों दुःखी होते हो! जैसे पहिलेवाला दुःख आया और चला गया और तुम सुखी हो गये वैसे ही यह दुःख भी चला जायेगा और तुम पुनः सुखी हो जाओगे।

एक सज्जन किसी महात्माके पास जाकर रोने लगे। महात्माने पूछा : 'भाई, क्यों रोते हो?' वह बोले : 'महाराज, आज मेरा प्यारा मर गया है, मैं बहुत दुःखी हूँ।' महात्माने कहा : 'अच्छा भाई, धैर्य रखो। तनिक तुम अपनी चित्तवृत्तिको छः महीना आगे ले जाओ। कल्पना करो कि तुम्हारे प्यारेको मरे हुए छः मास बीत गये। तब तुम शायद रोना पसन्द भी न करोगे। काल दुःखका सबसे बड़ा शामक है।'

इस सबका आशय यह है कि प्रत्ययान्तरसे प्रत्यय बाधित हो

जाता है। एक इदंसे दूसरा इदं, एक अहंसे दूसरा अहं, अहंसे इदं और इदंसे अहं—यही प्रत्ययान्तर-बाध-प्रक्रिया चलती रहती है।

योगी लोग समाधि-निष्ठ विवेक ख्यातिसे जगत्का बाध मानते हैं। थोड़ी देरको जगत्का अभान और आत्माका भान; तदुपरान्त दोनोंका भान तथा जगत्में आत्मासे विपरीत धर्मोंका निश्चय। परन्तु इस बाधमें न तो जगत्की असत्ता है अथवा न्यून सत्ता है और न उसकी अपरिच्छिन्न आत्मामें आश्रयता है।

उपासक लोग सगुण ब्रह्मकी अपेक्षा जीव और जगत्की न्यून-सत्ताकी स्वीकृतिको ही उनका बाध मानते हैं। इस स्वीकृतिकी दृढ़ता ईश्वरकी कृपासे होती है; ऐसी उनकी मान्यता है।

वेदान्ती लोग अधिष्ठान-ज्ञानसे बाध मानते हैं। वे कहते हैं: आपने अंधेरेमें सामने देखा 'कुछ पड़ा है'। भान हुआ कि साँप है। तुरन्त भयसंचार हो गया। फिर देखा 'यह तो माला है'। भय चला गया। प्रसन्नताका भाव उदय हो गया। तत्काल विकल्प हुआ, 'नहीं यह माला नहीं है, यह तो भूछिद्र है'। एक उपेक्षाका भाव, निष्प्रयोजनीयताका भाव चित्तमें उठ आया। इसी बीच कहाँसे प्रकाश हुआ। दृश्य-वस्तु जो यथार्थमें थी उसका ज्ञान हो गया: 'अरे, यह तो रस्सी है, न साँप है, न माला है और न भूछिद्र है। तब भय, प्रसाद और उपेक्षाके भाव भी मिथ्या ही थे।'

रज्जुके अज्ञानसे ही अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास सत्यसे लगते थे। यदि रस्सीको समझ जाते तो न तो फिर भयजनक सर्पका अध्यास होता, न प्रीतिजनक मालाका अध्यास होता और न उपेक्षाजनक भूछिद्रका अध्यास होता। इसी प्रकार यदि जगत्के अधिष्ठानका यथार्थ ज्ञान हो जाता तो न तो संसारके विषयोंमें भयजनकत्व अनुभव होता और न प्रीतिजनकत्व अथवा

उपेक्षाजनकत्व, परन्तु अज्ञानमें कोई न कोई जनकत्व आता ही रहेगा।

इसीलिये वेदान्त कहता है कि अधिष्ठान ज्ञान होने पर ही अध्यस्तका बाध वास्तविक होता है, अन्यथा बाध भी तात्कालिक तथा अस्थायीरूप मिथ्या होता है। वस्तुके मिथ्यात्व-निश्चयका नाम उसका बाध है।

भामतीकार कहते हैं कि यह आत्मा स्वयं प्रकाश और अविषय है। इसके सम्बन्धमें श्रुतिने प्रमाण दिया :

तमेव भान्तं अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

'उस आत्माके प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है'। यही इसका स्वयं प्रकाशित्व है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
न तत्र मनोगच्छति न वाक् गच्छति न विद्मो न विजानीमः

'वह न नेत्रसे और न वाणीसे गृहीत होता है। 'वहाँ न मनकी गति है न वाणीकी। वह जाना भी नहीं जाता।' इससे आत्माका अविषयत्व सूचित होता है।

आत्मा निरंश है यह पूर्वमें कह चुके हैं।

आत्मा ऐसा होने पर भी अनिर्वचनीय अविद्यासे परिकल्पित मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय, आदिके अवच्छेदसे अनवच्छिन्न आत्मा अवच्छिन्नके समान भासती है। अभिप्राय यह है कि आत्माको स्वयं-प्रकाश अविषयरूप तथा निरंश न जाननेके कारण उसीमें उसीकी परिच्छिन्न दृश्यके रूपमें परिकल्पना होती है। मैं जीव हूँ, मैं बुद्धि हूँ, मैं मन हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं शरीर हूँ, ये सब उसी आत्मा 'मैं'की अज्ञानजन्य अन्यथा प्रतीतियाँ हैं। यही वे उपाधियाँ

हैं जिनके कारण अखण्ड ज्ञानस्वरूप 'मैं' खण्ड-खण्ड अनुभव होता है।

अकर्ता होता हुआ आत्मा इन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्ता-सा प्रतीत होता है; अभोक्ता होता हुआ आत्मा मनकी उपाधिसे भोक्ता-सा प्रतीत होता है; ज्ञानस्वरूप होता हुआ आत्मा बुद्धिकी उपाधिसे प्रमाता-सा अनुभव होता है; अविषय होते हुए अहं-वृत्तिका विषय जैसा प्रतीत होता है। अखण्ड अपरिच्छन्न सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म होता हुआ क्षुद्र जीव भावको प्राप्त हुआ-सा भासता है।

जरा **अभिन्नोऽपि भिन्न इव** इत्यादिकी शैली देखिए। काशीके एक पंडित हमारे पास आये। हमने कहा, 'हमने काशीमें एक ऐसे पण्डितको देखा है जिसमें सब सद्गुण हैं: नित्य संध्या-वन्दन करते हैं, शास्त्रोंके पण्डित हैं, विद्वान् हैं; विनयी हैं।' पण्डितजीने उत्सुकतावश पूछा 'महाराज, वे पण्डित कौन-से हैं?' मैंने कहा, "पण्डितजी, वह पण्डित आप ही हैं! यह एक ही व्यक्तिका भिन्न इव कथन है। इसी प्रकार तत्-पद वाच्यार्थ ईश्वरका परोक्ष कथन जब किया जाता है तब वह त्वं-पद वाच्यार्थ अपरोक्ष आत्माका ही भिन्न इव, अन्यथाभावेन, कथन होता है। परमात्मा ऐसा, परमात्मा ऐसा, ऐसा परमात्मा कहाँ है, कब है, कौन है? तो वेदान्त कहता है कि वह परोक्ष परमात्मा यहीं, अभी साक्षादपरोक्ष तू ही है। यही वेदान्तके 'दशमस्त्वमसि'* वाक्यका तात्पर्य है।

*सर्वज्ञात्ममुनिने संक्षेप-शारीरकमें यह कथा दी है। दस आदमियोंकी एक टोलीने तैरकर नदी पार की। पार पहुँचकर उन्होंने यह जानना चाहा कि कोई आदमी नदीमें बह तो नहीं गया। तदर्थ उन्होंने गिनना आरम्भ किया। सब कोई गिनने लगे परन्तु सब अन्य

अज्ञात आत्मा ही ईश्वर रूपसे वर्णित किया जाता है और ज्ञात आत्मा ब्रह्मरूपसे अनुभूत होती है।

वेद कभी भेदका प्रतिपादन नहीं कर सकता। शास्त्रार्थमें वितण्डावादयोंकी बात और है। वेद यदि भेदका प्रतिपादन करे तो वेदको प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि तब वेद अज्ञात-ज्ञापक नहीं रहेंगे। भेद तो अन्य प्रमाणसे ही सिद्ध है—आँखसे, कानसे, नाकसे, त्वचासे, जिह्वासे, मनसे, बुद्धिसे; फिर श्रुति भेदका प्रतिपादन क्यों करे? यदि भेद प्रमाणान्तरसे अनधिगत होता तब तो वेद अज्ञात ज्ञापक होनेसे भेदका प्रतिपादन कर सकता था अन्यथा वेद भेदका प्रतिपादन नहीं कर सकता।

वेद भेदका प्रतिपादन नहीं कर सकता, इसमें हेतु बताते हैं:

मानान्तरः प्रसिद्धत्वात् मिथ्यात्वात् अप्रयोजनात् श्रुत्यन्तरं विरोधाच्च

'वेद भेदका प्रतिपादन नहीं कर सकते क्योंकि भेद अन्य

सबको तो गिनते थे अपनेको नहीं गिनते थे। इसलिए सबको निश्चय हो गया कि टोलीमें-से दसवाँ मनुष्य पानीमें बह गया। लगे सब लोग रोने। उधरसे कोई सुहृद् बुद्धिमान् निकला। उनके रोनेका कारण जानकर मन-ही-मन उसने गणना की। दसों मनुष्य उपस्थित थे। वह बोला 'भाइयो रोओ मत! दसवाँ मनुष्य जिन्दा है और आप ही लोगोंमें है।' सब बड़े आनन्दित हुए। अब प्रश्न था वह दशम मनुष्य कौन था? बुद्धिमान् मनुष्यने उन सबको एक वृत्तमें खड़ा करके गिनना प्रारम्भ किया। जिस व्यक्तिसे गिनना प्रारम्भ करता उसीपर दसवाँ समाप्त होता। अतः प्रत्येकको उसने यही सिद्ध किया कि दसवाँ तू है 'दशमस्त्वमसि'।

'दसवाँ है' यह परोक्षवाक्य है और 'वह दसवाँ तू है' यह उस परोक्षकी अपरोक्ष अनुभूति है।

प्रमाणसे सिद्ध है, मिथ्या है, उस प्रतिपादनका कोई प्रयोजन नहीं है तथा अन्य श्रुति वाक्योंसे विरोध भी होता है।'

भेद अन्य प्रमाणसे सिद्ध है इसकी बात अभी हुई। सारे भेद वहीं भासते हैं जहाँ वे नहीं हैं। भेदके प्रकाशक-अधिष्ठानमें भेद कहाँ? अतः भेद मिथ्या है। फिर अभेद-प्रतिपादनसे तो आत्माकी ब्रह्म-रूपताका अनुभवरूप प्रयोजन सिद्ध होता है, बंधन, जड़ता, दुःखकी निवृत्ति होती है, परन्तु भेद-ज्ञानके प्रतिपादनसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा? अर्थात् कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। अन्तमें अभेद प्रतिपादक श्रुतियोंसे विरोध उपस्थित होता है : जैसे

द्वितीयं नहि वस्तु

एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे

नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति। इत्यादि

इसलिये श्रुति भेदका प्रतिपादन नहीं करती : श्रुतिर्भेदगोचरा:। श्रुति एन्द्रियक अनुभूतिके अनुवाद-मात्र नहीं हैं; वह उस अतीन्द्रिय, अपौरुषेय वस्तुका निरूपण करती है जो पुरुषके अन्तःकरणका अगोचर पदार्थ है, जो पुरुषका स्वरूप है।

यह आत्मा अज्ञानके कारण देहेन्द्रियोंके भेदको अपनेमें आरोपित करके अभिन्न भी भिन्न हुआ-सा भासता—अकर्ता भी कर्ता-सा भासता है, अभोक्ता भी भोक्ता-सा भासता है। यही अध्यास है।

आप स्वयं-प्रकाश चैतन्य हैं जिसमें कर्मेन्द्रियाँ नहीं है फिर आप कर्मोंके कर्ता कैसे होंगे? आप स्वयं प्रकाशमें ज्ञानेद्रियाँ और मन नहीं हैं तब आप विषयोंके परिच्छेद-ज्ञानरूप भोग कैसे करेंगे? आप नहीं कर सकते, नहीं करते, परन्तु करते हुए स्पष्ट प्रतीत होते हैं। यही अध्यास है, अनिर्वचनीय अविद्याका कौतुक है।

आप अकर्ता हैं, परन्तु कर्ता-इव अनुभव करते हैं। आप अभोक्ता हैं, परन्तु भोक्ता-इव अनुभव करते हैं। आप अविषय हैं, परन्तु अहम्-अहम्के रूपमें (विषयोंके रूपमें आपका विषय इव स्फुरण होता है)। **अविषयोऽपि अस्मत् प्रत्यय विषय इव।** जैसे दाल चुरती है, जैसे पानीमें बुद-बुद ध्वनि होती है, वैसे ही यह अहं-अहं आत्माकी सूचना देती है।

अपना और इस चुरनेवाले अहंका आप विवेक कीजिये। आप बुदबुदा नहीं जल हैं, जिसमें यह बुदबुदा फुदकता है। जलसे भिन्न बुदबुदा नहीं हैं, परन्तु बुदबुदेसे भिन्न जल है यद्यपि जल-तत्त्वकी दृष्टिमें बुदबुदा जल ही है। यह अहं-अहं जो फुदकनेवाला बुदबुदा है, वह तो कालका बच्चा है, कालका खिलौना है।

आप घट नहीं माटी हैं। आप जेवर नहीं सोना हैं। आप जीव नहीं चैतन्य हैं। अपने आपको न जानकर आप जीवभावको प्राप्त हो गये हैं: **जीवभावमापन्नोऽवभासते।** इसका अर्थ हुआ कि नरकमें, स्वर्गमें, उपास्यलोकमें, समाधिमें जीव जाता है, आप नहीं जाते। आप तो सोलह-आना (शत-प्रतिशत) चिदाकाश हैं। ये सारे प्रातीतिक भेद औपाधिक हैं। अत्यन्त लौकिक, अत्यन्त-मोटी उपाधियोंके भेदके कारण यह निर्धर्मक आत्मा अनेक धर्म-वाला और परिवर्तनशील-सा मालूम पड़ता है।

हमने बड़े-बड़े महात्माओंसे, जिनको साक्षात् भगवत्कृपा-प्रसाद प्राप्त था, यह बात पूछी है: 'ब्रह्ममें जो अनेकता प्रतीत होती है वह क्यों है?' सबने यही उत्तर दिया है: 'महात्माओंने अपने रसास्वादनके लिये ये सब जीव-ईश्वरके भेद कल्पित कर लिये हैं और जागतिक भेद इन्द्रिय-मन-बुद्धिकी उपाधिके कारण प्रतीत होते हैं।'

अयोध्यामें एक पंडित थे श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज। शास्त्रोंके उद्भट विद्वान् ! मैंने उनसे पूछा : 'महाराज, आपको यह सब विद्या कैसे प्राप्त हुई?' उन्होंने बताया : 'मैंने संस्कृत-साहित्यका विधिवत् अध्ययन नहीं किया है। हम तो अपने इष्टदेवका भजन करते थे। एक दिन इष्टदेव प्रसन्न हुए, प्रकट हो गये। बोले कि २४ घंटेमें जो ग्रन्थ तुम अपनी आँखसे देख लोगे वह तुम्हें कण्ठ हो जायेगा तथा उसका विषय तुम्हें स्फुरित हो जायेगा। मैं तो बस काशीके पुस्तकालयोंमें जाकर ग्रन्थ देख भर आया। यह सब इष्टदेवकी कृपा है।'

यह महात्माकी सरलता भी प्रदर्शित करता है तथा उपासनाका चमत्कार भी। इनसे ही मैंने पूछा : 'भगवन् ! आप ईश्वरको चेतन भी कहते हैं और जगत्का सचमुच अभिन्ननिमित्तोदान-कारण भी। यह ब्रह्मपरिणाम कैसे सम्भव है ? चेतन स्वयं परिणामी नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो परिणामका साक्षी होगा। चेतनके स्वयंके परिणामका कौन साक्षी होगा ? फिर चेतनकी सिद्धि आत्मासे भिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभवका विषय दृश्य होता है, द्रष्टा साक्षी नहीं। इसलिए न तो जगत् ब्रह्मका परिणाम सिद्ध हो सकता है और न ईश्वर जीवका उपास्य।'

उन्होंने कहा, 'हम लोग भी जो चेतनको जगत्का सचमुच अभिन्न-निमित्तोपादान कारण मानते हैं वह उपासना के लिये ही मानते हैं। वस्तुमें कोई विकृति या विकार नहीं होता। तुम (वेदान्ती) लोग भी जो विवर्तवाद मानते हो वह भी कोई सच्ची बात नहीं है, क्योंकि यदि अधिष्ठान और द्रष्टाकी भिन्नताका संस्कार नहीं होगा तब तक विवर्त सिद्ध नहीं हो सकता।

द्रष्टाको अधिष्ठानमें विवर्त दिखाई पड़ता है। अज्ञानकालमें माने हुए द्रष्टा और अज्ञानकालमें ही माने हुए अधिष्ठानमें यदि भेद नहीं रहेगा तो दृश्य-प्रपंचमें विवर्तत्व भी कहाँ रहेगा? इसलिये जैसे वेदान्ती अभेद ज्ञानको सिद्धिके लिये विवर्तकी कल्पना करके सत्य वस्तुको समझाते हैं, उसी प्रकार हम उपासनाके लिये ब्रह्ममें परिणामकी कल्पना करके सत्य वस्तुको समझाते हैं। हमारे-तुम्हारे वस्तुतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं है।"

काशीके पं० दामोदर लाल जी से मैंने पूछा, "श्रीकृष्णकी आँख और उनके नाखूनमें क्या भेद है जबकि दोनों चिन्मात्र वस्तु हैं?" उन्होंने कहा, 'जो तुम पूछना चाहते हो हम समझते हैं। हमारा-तुम्हारा कोई मतभेद नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि निर्धर्मकमें धर्म और धर्मी तथा इनके भेद, अभेदमें भेद, निरवच्छिन्नमें अवच्छेद-अवच्छेद्यभाव, अभोक्तामें भोक्ताभाव, अकर्तामें कर्ताभाव इत्यादि ये सब औपाधिक हैं, आध्यासिक है, अज्ञानसिद्ध है, अध्यारोपित हैं। इनके प्रतीत होने पर भी वस्तुतत्त्व जो अद्वय सच्चिदानन्दघन आत्मा है, उसमें कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे आकाश अनवच्छिन्न होता है, उसमें घ्राणाकाश, कर्णाकाश, मुखाकाश, हृदयाकाश, उदराकाश, बाह्याकाश, महाकाश, घटाकाश तथा मठाकाशका भेद मिथ्या ही प्रतीत होता है, आकाशतत्त्वेन न आकाशमें* अनेकता उत्पन्न होती है और न विक्रिया।

---

*आकाशको तत्त्व कहने पर कुछ विचारक नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। आजके वैज्ञानिक भी आकाशको तत्त्व नहीं मानते। आकाशकी परिभाषा भी भिन्न-भिन्न है। कोई आकाशको शब्दगुणक मानते हैं और कोई अवकाशात्मक। इसमें आध्यात्मिक दृष्टिकोणको समझना होगा। बोद्धाका सारा ज्ञान पौरुषेय होता है। मन उसीको जान सकता है, जिसे

इन्द्रियाँ जान पाती हैं। जिसे इन्द्रियाँ नहीं जान पाती उसे मन भी नहीं जान सकता। यह पुरुषप्रयत्न-जन्य ज्ञान है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं अतः हमारे ज्ञानके प्रकार भी पाँच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। इन पाँच ज्ञानोंमें इन्द्रियाँ असाधारण करण हैं, मन साधारण करण है तथा वैज्ञानिक यन्त्र उपकरण हैं। रूप-दर्शनमें टेलिस्कोप (दूरदर्शनयन्त्र) या माइक्रोस्कोप (अणुवीक्षण यन्त्र) केवल देश और वस्तुको नेत्रके दर्शन-क्षेत्रमें लाभ देते हैं, परन्तु रूपका ज्ञान विना नेत्रके असम्भव है। इसी प्रकार सब इन्द्रियोंके विषयमें समझना चाहिये : स्वाद की तो वस्तुनिष्ठ परीक्षा विज्ञान कर ही नहीं सकता। पोटेशियम साइनाइडके स्वादका ज्ञान प्राप्त करनेवाले वैज्ञानिकोंको आखिरकार जीभका ही आश्रय लेना पड़ा और फलतः मृत्युको वरण करना पड़ा, यह अब एक प्रसिद्ध घटना है।

आशय यह है कि संसारमें जितना ज्ञान होता है, वह सब चैतन्यकी प्रधानतासे होता है, जड़की प्रधानतासे नहीं। अब वह कौन है जो नेत्रमें रहकर रूपका भेद सिद्ध करता है, कर्णमें रहकर शब्दका भेद सिद्ध करता है, जीभमें रहकर रसका भेद सिद्ध करता है, त्वक्‌में रहकर स्पर्शका भेद सिद्ध करता है, नाकमें रहकर गन्धका भेद स्वीकार करता है? आध्यात्मिक शब्दावली यह है कि नेत्रसे जो रूपका भेद सिद्ध होता है उस रूपका आधार 'तेज' है, कर्णसे जो शब्दका भेद सिद्ध होता है उस शब्दका आधार 'आकाश' है, जिह्वासे जो रसका भेद सिद्ध होता है, उस रसका आधार 'जल' है, त्वक्‌से जो स्पर्शका भेद सिद्ध होता है उस स्पर्शका आधार 'वायु' है और नाकसे जो गन्धका भेद सिद्ध होता है, उस गन्धका आधार 'पृथ्वी' है। ये पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अध्यात्म-विज्ञानके तकनीकी शब्द हैं इनका स्थूल दृश्य पदार्थोंसे (दृश्य पृथ्वी आदि पदार्थोंसे) केवल नामका सम्बन्ध है। वैसे भी पञ्चीकरणकी

प्रक्रिया जाननेवाले यह जानते हैं कि दृश्य पृथ्वी आदि पदार्थ पञ्चीकृत हैं।

इन्द्रियोंकी प्रधानतासे तत्त्वका भेद निश्चय करना आध्यात्मिक विज्ञान है और विषयोंकी प्रधानतासे तत्त्वका निश्चय करना भौतिक विज्ञान है।

बोद्धाकी सम्पूर्ण ज्ञानराशि आधार स्वज्ञान है, इन्द्रियों, मन, बुद्धिके द्वारा संगृहीत ज्ञान है और जो आनुमानिक ज्ञान है, वह भी इन्द्रियों और वासनाके बलपर ही होता है। इसलिये सत्यज्ञानकी, यथार्थज्ञानकी प्रणाली यह है कि वासना और संस्कार-पुञ्जसे तटस्थ होना पड़ेगा। इसमें द्रष्टा और दृश्यका विवेक, दृश्यका मिथ्यात्व और द्रष्टाका अपरिच्छिन्नत्व, इनका विवेक अपेक्षित होता है।

(४. ५)

आत्मा नितान्त अविषय नहीं है अस्मत् प्रत्ययका विषय भी है : २

इसीकी व्याख्यामें भामतीकार आगे कहते हैं :

नहि चिदेकरसस्यात्मनश्चिदंशे गृहीतेऽगृहीतं किंचिदस्ति, न खलु आनन्दनित्यत्वविभुत्वादयोऽस्य चिद्रूपाद्वस्तुतो भिद्यन्ते, येन तद्ग्रहे न गृह्येरन्। गृहीता एव तु कल्पितेन भेदेन न विवेचिता इत्यगृहीता इवाभान्ति। (भामती)

यदि आप अपने आपको चिन्मात्र एकरस जान गये तो कुछ भी अनजाना शेष नहीं रहेगा। धर्ममें 'माता' रहता है; सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार माताकी उपस्थितिमें ही होता है। परन्तु यह आत्मा मातासे विपरीत है, विलक्षण है। शब्दकी दृष्टिसे 'माता' और 'आत्मा'में अक्षरोंका विपरीत वर्तन है ही। यथा :

माता = मा + त् + आ; आत्मा = आ + त् + मा।

आपको विषयमें आनन्दका अनुभव होता है, कालमें नित्यताका अनुभव होता है और देशमें विभुत्वका अनुभव होता है। इसके विपरीत आप स्वयंमें आनन्दके अभावका अनुभव करते हैं, अपने आपको जीने-मरनेवाला मानते हैं और एक अत्यन्त लघु, कटी-पिटी, परिच्छिन्न इकाईका अनुभव करते हैं। परन्तु सत्य यह है कि

देश-काल-विषयको यह विभुता, नित्यता और आनन्दरूपता अध्यस्त है और स्वयंको ज्ञानमात्र न जाननेके कारण हैं।

देश-काल-वस्तुका जो व्यष्टिरूप है, वह इन्द्रियगम्य है और जो उनका समष्टिरूप है वह एक कल्पनामात्र है। दोनों दशाओंमें वे वृत्ति-सापेक्ष हैं। परन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा न इन्द्रियगम्य है और न कल्पना; वह वृत्तिमात्रका आश्रय है, वृत्तिके कल्प्य, कल्पना और कल्पकका प्रकाशक है। इस अकल्पित आत्माके ज्ञानसे कोई बात अनजानी नहीं रह जायेगी। बात यह है कि हम नित्यता, विभुता, आनन्द, विक्षेप, शान्ति, समाधि सबको देख रहे हैं, परन्तु ठीक-ठीक विवेक नहीं कर रहे हैं।

ठीक-ठीक विवेक क्यों नहीं कर रहे हैं? क्योंकि चित्तके विषयोंसे वैराग्य नहीं है और तत्त्वानुसंधानकी जिज्ञासा नहीं है। हम भिन्न-भिन्न वस्तुओंके बारेमें विचार करते हैं, परन्तु अभेदस्वरूपके बारेमें विचार नहीं करते। यदि परिच्छिन्नसे, विनाशीसे वैराग्य हो और अपरिच्छिन्नकी जिज्ञासा हो तो श्रवण-मात्रसे ही किसी अन्य साधनकी अपेक्षाके बिना हो तत्त्वज्ञान हो जाय।

विवेक न होनेसे ही अधिष्ठान अध्यस्तवत् भासता है। अविवेकसे देश-काल-वस्तु, विभु, नित्य और आनन्दरूप भासते हैं। विवेकसे यह विभुता, नित्यता और आनन्द मूलतः आत्मनिष्ठ ही सिद्ध होते हैं। आत्म-ज्ञानसे यह सब जाना हुआ हो जाता है।

आत्मैवेदं सर्वम्।

वस्तु कण-कण बदल रही है, क्षण-क्षण बदल रही है, पग-पग बदल रही है और इनका साक्षी आत्मा ज्यों-का-त्यों एकरस प्रकाशित है। विषय, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब कालके प्रवाहमें

बहे जा रहे हैं, काल स्वयं प्रवाहीके रूपमें नित्य नवीन ढंगसे प्रस्तुत हो रहा है परन्तु कालका द्रष्टा अकाल पुरुष चेतन साक्षी एकरस अपनी महिमामें ज्यों-का-त्यों स्थित है।

चिन्मात्र वस्तु सदैव एक होकर ही रहती है। यदि चिन्मात्र दो वस्तुएँ हों तो उनसे सम्बन्धित देशमें यहाँ-वहाँका भेद होगा, कालमें अब-तबका भेद होगा और वस्तुत्वमें यह-वहका भेद होगा। परन्तु भेद समूचा प्रकाश्य होता है, प्रकाशक नहीं। यदि चिन्मात्र वस्तु दो होंगी तो द्वित्व प्रकाश्य होगा और चैतन्य साक्षी एक होगा। चिन्मात्रमें जीव-जीवका भेद अथवा जीव-ईश्वरका भेद नहीं हो सकता।

आत्माके बिना दृश्यकी कोई सत्ता नहीं होती। आत्माके बिना दृश्य नहीं रहता, परन्तु दृश्यके बिना आत्मा रहता है। चैतन्यके अस्तित्वसे ही दृश्यको प्राण-लाभ होता है :

येन यत् सिद्धयति येन यद् दृश्यते तेन तत् पृथग् न भवति

'जिनके द्वारा जिसकी सिद्धि होती है, जिसके द्वारा जो दीखता है उससे वह पृथक् नहीं होता।'

श्रीमद्भागवतमें इसकी युक्ति दी गयी है :

भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत् तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा।

(भाग० ११-२८-२१)

'जो पदार्थ जिससे प्रसिद्ध होता है और जिससे प्रकाशित होता हैं वही उसका वास्तविक स्वरूप—परमार्थ स्वरूप होता है—यह मेरा दृढ़ निश्चय है।'

कारणसे कार्य पृथक् नहीं होता, द्रष्टासे दृश्य पृथक् नहीं होता। जैसे स्वप्नकी सृष्टि द्रष्टाकी दृष्टि है वैसे ही जाग्रत्की सृष्टि भी द्रष्टाकी दृष्टि है। वेदस्तुतिमें कहा गया है :

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे। अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैर्वितथ-मनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥

(भाग० १०.८७.३७)

"भगवन् ! वास्तविक बात यह है कि जगत् उत्पत्तिके पहिले नहीं था और प्रलयके बाद नहीं रहेगा। इसलिये यह बीचमें भी एकरस परमात्मामें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। इसीलिये हम श्रुतियाँ इस जगत्का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टीमें घड़ा, लोहेमें शस्त्र, सोनेमें कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तवमें मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं। वैसे ही परमात्मामें वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मनकी कल्पना है। इसे नासमझ मूर्ख ही सत्य मानते हैं।"

आत्मासे न जीव जुदा है, न ईश्वर और न जगत्। जीव, ईश्वर, जगत् परस्पर भी जुदा नहीं हैं और जुदापना स्वयं आत्मासे जुदा नहीं है, क्योंकि जुदापना बदलता रहता है तथा निज स्वरूपमें सत्ताशून्य है जगत् मिथ्या है, जीव मिथ्या है, यहाँ-वहाँ, यह-वह, अब-तब सब मिथ्या हैं। सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च द्रष्टामें बाधित है तथा द्रष्टा आत्मा ही केवल सत्य है।

अध्यस्त वस्तुओंका एक अधिष्ठान चैतन्य आत्मा है। अतः आत्माके ज्ञानसे सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। जैसे एक मृत्तिकाके ज्ञानसे घट, सकोरा आदि मृत्तिकासे बने सब पदार्थों-का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार एक आत्माके ज्ञानसे जीव, ईश्वर और जगत्का ज्ञान हो जाता है। आत्मा और जीवका तथा आत्मा और ईश्वरका मुख्य सामानाधिकरण है जबकि आत्मा और जगत्का बाध सामानाधिकरण है।

सामानाधिकरणका अर्थ है: समान अधिकरण, समान

आश्रय। जीव, ईश्वर और जगत् एक ही अधिकरण ब्रह्ममें भासित होते हैं और वह ब्रह्म आत्मासे एक है। जब हम कहते हैं कि जीव आत्मा है, ईश्वर आत्मा हैं, तो हम यह कहना चाहते हैं कि जीव और ईश्वरका आत्मामें समानाधिकरण है, अर्थात् जीव और ईश्वर दोनों आत्मा हैं। जीवकी अविद्या-उपाधि तथा ईश्वरकी माया-उपाधिका बाध करके चेतनांशमें दोनों एक ही हैं। जैसे जब कहा जाता है कि घटाकाश और मठाकाश दोनों महाकाश हैं तो वहाँ घट और मठकी एकता अपेक्षित नहीं होती अपितु घटोपाधिक आकाश और मठोपाधिक आकाशकी निरुपाधिक महाकाशसे एकता बताना इष्ट होता है; अथवा जैसे जब कहते हैं कि हार सोना है, कुण्डल सोना है, तो वहाँ हार और कुण्डलके नामरूपका बाध करके उनमें स्वर्णांशकी एकताका कथन होता है इसी प्रकार जब जीव और ईश्वरको आत्मा कहा जाता है तब वहाँ उन-उनकी उपाधिका निषेध करके उपहितके चैतन्यरूपकी एकता विवक्षित होती है। जीव और ईश्वर मुख्यतः चैतन्य ही हैं अथवा चैतन्यमें इनका मुख्य सामानाधिकरण है, यह भाव है। उपाधिभेदसे चैतन्यमें कोई भेद नहीं होता।

परन्तु उपाधि यदि सत्य हो तब तो उपहितका भेद भी सत्य हो जायेगा, इसपर कहते हैं कि आत्मा और जगत्का बाध सामानाधिकरण है। अर्थात् जगत् अपने सम्पूर्ण भेदों सहित वहीं भासता है जहाँ वह कभी नहीं भासता। उपाधि कभी भासती है और कभी नहीं भासती, परन्तु उपाधिके अवभासकका कभी विपरिलोप नहीं होता है। अतः उपाधि स्वयं मिथ्या है और उसका अधिष्ठान-प्रकाशक चैतन्यात्मा ही सत्य है। इसलिए मिथ्या उपाधिके आधार पर औपाधिक भेद स्वयं मिथ्या हैं, अर्थात् प्रतीतिके विषय भले ही हों परन्तु प्रतीत्यधिष्ठानसे अभिन्न हैं।

निष्कर्ष यह कि जब शास्त्र 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'यह सब कुछ आत्मा ही है' ऐसा कहता है तब उसका तात्पर्य 'यह सव कुछको' बाधित तथा इसके प्रकाशक-अधिष्ठानको अबाधित सत्य घोषित करनेमें होता है। इस प्रकार जगत्का चैतन्यमें बाध सामाना-धिकरण है।

जब हम कहते हैं कि 'रज्जु ही सर्प' है तो यद्यपि रज्जु जिस विभक्तिका पद है सर्प भी उसी विभक्तिका पद है अर्थात् रज्जु और सर्पका सामानाधिकरण तो है परन्तु यहाँ सर्पका रज्जुमें मिथ्यात्व तथा रज्जुका सत्यत्व कथन उद्देश्य है। रज्जु, सर्प दो नहीं एक हैं परन्तु सर्प मिथ्या है तथा रज्जु सत्य है यह बाध सामानाधिकरण है।

'सोऽयं देवदत्तः' 'यह वही देवदत्त है'— इस वाक्यमें 'यह' और 'वह' पदोंका एक ही अर्थ देवदत्त' है। अतः यहाँ प्रत्यक्ष 'यह' और परोक्ष 'वह'का देवदत्तपदमें मुख्य सामानाधिकरण है। परन्तु 'स्थाणुः पुरुषः' (वह जो वृक्ष प्रतीत होता था पुरुष है) इस वाक्यमें स्थाणुपदका अर्थ बाधित है परन्तु पुरुषपदका अर्थ अबाधित है अथवा सत्य है। एक ही अधिकरणमें पहिले स्थाणुकी भ्रान्ति हुई और बादमें उस भ्रान्तिकी निवृत्ति-पूर्वक उसीमें पुरुषका सत्य ज्ञान हुआ। अतः इस कथनमें बाधसामाना-धिकरण्य है।

अज्ञान दशामें जगत्का सत्य और आत्मासे भिन्नरूपमें अनुभव होता है, ईश्वरका आत्मासे भिन्न और सत्य पुरुष विशेषरूपसे अनुभव होता है तथा जीवोंका अनेक तथा सत्यरूपसे अनुभव-होता है। परन्तु श्रुति कहती है- **'आत्मैवेदं सर्वम्'** यह सब-कुछ आत्मा ही है। इस कथनमें बाध सामानाधिकरणपूर्वक श्रुति आत्मा और जगत्की एकताका वर्णन करती है। इसी

प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस पदमें क्रमसे पहिले अहं पदके अर्थ वुद्धि अथवा वुद्धयाभास अथवा वुद्धयवच्छिन्न चेतन-का ब्रह्मके साथ बाधसामानाधिकरण्य तथा बादमें कूटस्थ आत्माके साथ ब्रह्मका मुख्य सामानाधिकरण्य करके आत्मा, जीव और ईश्वरका एकत्व वर्णन करती है।

'यहाँ कुछ भी नाना नहीं है', 'जो नानात्व देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है'' 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'प्रज्ञान ब्रह्म है', 'वह ब्रह्म तू है' इत्यादि श्रुतिवाक्य केवल एक अद्वितीय चिद्ब्रह्मका वर्णन करते हैं। उस एकको जाननेपर कुछ अनजाना शेष नहीं रहता।

परन्तु इस एकत्वका यथार्थ विवेक न होनेसे हमको विषयमें आनन्द प्रतीत होता है, देशमें विभुत्व प्रतीत होता है और कालमें नित्यत्व प्रतीत होता है।

क्या आपने कभी आनन्दकी मीमांसा की है? आनन्द कहाँ रहता है? विषयमें, इन्द्रियमें, मनमें, वुद्धिमें अथवा आत्मामें? आनन्द बाहर है और भीतर? उसकी उपलब्धि और आनन्द दो वस्तु हैं या एक वस्तु है?

बहुत लोगोंको खीरमें आनन्द आता है। परन्तु हम अपनी बात बतायें, बीस वर्ष तक हमको खीर देखकर वमन हो जाता था। कारण तो कुछ ऐसा ही था। बचपनमें जब हम सुबह पढ़ने जाते थे तो खीर खाके जाते थे। एक दिन भाभीने दूधमें रातका बना हुआ भात डाल दिया। उससे दूध और चावल मिले नहीं, अलग-अलग रहे। जब वह खीर हमारे सामने आयी तो हमें लगा जैसे दूधमें सफेद-सफेद कीड़े रेंग रहे हों। ऐसी घृणा हुई कि तुरन्तु वमन हो गया और फिर २० बरस तक खीरको देखते ही वमन हो जाता रहा। बादमें फिर श्रीउड़िया बाबाजी महाराजने यह घृणा

छुड़ाई। पहिले वे मखाने पीसकर गाढ़ी खीर खिलाते रहे और बादमें चावल पीसकर और फिर चावल सादा डालकर।

तो विषयमें आनन्द नहीं है। उसमें जबतक सुखबुद्धि है, उससे जबतक घृणा नहीं होती तभीतक उसमें सुख प्रतीत होता है।

कहो इन्द्रियमें सुख है। खीरमें न सही जीभमें सुख रहता है। तो जीभ तो वेश्या है; उसे एक खीर ही नहीं, चटनी आदि सब पदार्थ प्यारे लगते हैं।

मनमें रुचि न हो तो क्या खीर और जीभ मिलकर भी सुख दे सकेंगे? बुद्धिमें यदि खीरके प्रति सुखबुद्धि न हो तो क्या वह खीर सुखका हेतु बनेगी?

कहो बुद्धिमें संस्कार, मनमें रुचि, जीभमें शक्ति तथा खीर विषय—इन सबका संघात सुख देता है। तो समाधिमें, सुषुप्तिमें यह संघात ही नहीं रहता। तब क्या वहाँ सुख नहीं रहता?

परिशेष न्यायसे, आनन्द सिवाय आत्माके स्वरूपके कहीं उपलब्ध नहीं होता। अविवेकसे हम अपना आनन्द वहाँ रख देते हैं जहाँ वह नहीं होता। उदाहरणार्थ संस्कारमें, रुचिमें, इन्द्रियमें अथवा विषयमें और उसी अविवेकके कारण स्वयंको परिच्छिन्न भोक्ता मानकर उस अपने बाहर निकाले हुये आनन्दका आनन्द लेते हैं! भागवतमें इसकी उपमा 'वान्ताशी' शब्दसे दी है। जैसे कुत्ता अपने वमनको ही खाता है वैसे ही आनन्दके भोक्ताकी स्थिति है।

विषय अनित्य हैं, इन्द्रियोंकी सामर्थ्य सीमित है, मनकी रुचि एकसी नहीं रहती, बुद्धि सो जाती है और गलत निर्णय भी कर लेती है। इनमें आनन्दकी स्थिति कहाँ है?

यह तो जब हम 'आत्मा' बुद्धिपर चढ़ बैठते हैं, बुद्धि आदिमें

अध्यास कर लेते हैं तब आत्मनिष्ठ आनन्द परनिष्ठ, विषयनिष्ठ प्रतीत होता है। विना अध्यासके चैतन्यमें क्रियाशक्ति और भोगशक्ति हो ही नहीं सकती। वह तो साक्षीमात्र है, क्रिया और भोग उसके धर्म नहीं हो सकते।

आपका आनन्द क्या आपसे अलग रह सकता है? क्या ऐसा हो सकता है कि आप न रहें और आनन्द रह जाय? यह तो हो सकता है कि आप रहें और कोई विशेष सुख न रहे! परन्तु ज्ञानसे भिन्न आनन्दकी कोई सत्ता नहीं हो सकती। आनन्दके ज्ञानसे अतिरिक्त आनन्द और है भी क्या?

उपलब्धिर्ज्ञानम् इति अर्थान्तरम्

आनन्द ज्ञाततया ही होता है। ज्ञानके अतिरिक्त सुख दुःख नहीं हो सकता परन्तु सुख-दुःखके विना ज्ञान रहता है। आत्माको ज्ञानमात्र अनुभव कर लेने पर विषयमें आनन्द बाधित हो जाता है।

इसी प्रकार ज्ञानसे भिन्न नित्यता नहीं हो सकती। कालकी नित्यता क्षणिक विज्ञानसे पृथक् अनुभूत हो सकती है परन्तु कालकी अनादि अनन्तता कालके प्रकाशकसे भिन्न सिद्ध नहीं हो सकती। वृत्तिमें जो काल आता है वह क्षणिक होगा, वृत्ति अनादि अनन्तके साथ तादात्म्य नहीं कर सकती और जो वृत्त्यधिष्ठान है, वृत्तिका प्रकाशक है, वही वृत्ति द्वारा कल्प्य अनादि अनन्ततारूप नित्यताका प्रकाशक—अधिष्ठान है। अतः नित्यता आत्मासे भिन्न नहीं होती।

इसी प्रकार देशगत विभुताका भी विवेक कर लेना चाहिये।

विभुत्व, नित्यत्व तथा आनन्द कोई भी ज्ञानसे अलग नहीं होते। ये सब दृश्यकोटिप्रविष्ट हैं और आत्मा दृङ्मात्र है। ये

सब आत्मासे ही प्रतीत होते हैं आत्मासे भिन्न इनकी कोई सत्ता नहीं है। यदि किसीको इनकी आत्मासे पृथक् सत्ताका अनुभव होता है और इनका भेद पारमार्थिक प्रतीत होता है तो यही कहना पड़ेगा कि वह अज्ञानी है। वह अध्यासके बन्धनमें है।

छोटेपनमें हम माहात्माओंसे पूछते, "यह अज्ञान कहाँ रहता है ? अज्ञान किसको है ?" वैष्णवोंने इस अज्ञान पर बड़ा आक्षेप किया है कि अद्वैतमतमें इस अज्ञानका कोई आश्रय ही सिद्ध नहीं होता। क्योंकि यदि जीवको अज्ञानका आश्रय कहें तो जीव स्वयं अज्ञानके बाद हुआ। ईश्वर अज्ञानी हो नहीं सकता और ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त अद्वितीय है अतः उसमें भी अज्ञान असिद्ध है ? इन्हीं सब तर्कोंको हम महात्माओंके सामने रखते।

एक दिन एक महात्माने हमको विवेकका कोड़ा मारा। वे बोले : "तुम आत्मा परमात्मा ईश्वरकी बात क्यों करते हो ? मनुष्यकी बात क्यों नहीं करते ? तुम मनुष्य हो न। मनुष्य होकर ही पूछते हो। हम कहते हैं मनुष्यकी नासमझी का नाम अविद्या है। यह अविद्या, अविवेक मनुष्यको है, न जीवको है, न ईश्वरको है और न ब्रह्मको।"

सन् १९३८ में हम रमण-आश्रम गये थे। मैंने महर्षि रमणसे पूछा : 'यह अज्ञान किसको है ?'।

महर्षि : यह प्रश्न किसका है ?

मैं : जिज्ञासुका।

महर्षि : जिज्ञासु कौन है ?

मैं : जिसे जाननेकी इच्छा है।

महर्षि : जाननेकी इच्छा किसको है ?

मैं : मुझको है।

महर्षि : तुमही अज्ञानी हो। तुमको ही जाननेकी इच्छा है। यह अज्ञान तुमको ही है। अनुसंधान करो कि 'मैं कौन हूँ'।

श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा : "यह अज्ञान किसको है ?"

बाबा : जो यह विचार नहीं करता कि यह अज्ञान क्या है, किसके बारेमें हैं तथा किसको है ? उसीको यह अज्ञान है।

निष्कर्ष यह है कि अज्ञान न आत्मामें है न ब्रह्ममें। हमारी बुद्धिमें अविवेक है। हमारी बुद्धि पैसा कमानेकी तो सोचती है ब्रह्मके बारेमें नहीं सोचती। हमने कभी विचार ही नहीं किया कि आत्मा क्या है, नित्यता क्या है, विभुता क्या है, आनन्द क्या है ? यही अज्ञानका हेतु है और कोई हेतु नहीं है। **'न अविवेचिता इत्यगृहीता इवाभान्ति'**।

(४.६)

आत्मा नितान्त अविषय नहीं है
अस्मत् प्रत्ययका विषय भी है : ३

न चात्मनो बुद्ध्यादिभ्यो भेदस्तात्त्विको येन चिदात्मनि गृह्यमाणे सोऽपि गृहीतो भवेत्, बुद्ध्यादीनामनिर्वाच्यत्वेन तद्भेदस्याप्यनिर्वचनीयत्वात्। तस्माच्चिदात्मनः स्वयं प्रकाशस्यैव अनवच्छिन्नस्यावच्छिन्नेभ्यो बुद्ध्यादिभ्यो भेदाग्रहात् तदध्यासेन जीवभाव इति। (भामती)

पूर्व प्रसंगमें एक आत्माके ज्ञानसे सबके ज्ञानकी बात कही गयी। वहाँ आत्माका सर्वाधिष्ठानत्व इस ज्ञानमें हेतु कहा गया। इसपर साँख्यवादी कहते हैं कि एकके ज्ञानसे सर्वका विज्ञान होनेके लिये उस एकका अधिष्ठान होना आवश्यक नहीं है। संसारमें दो सत्य वस्तु हैं : एक पुरुष और एक प्रकृति, अथवा आत्मा और बुद्धि। यदि दो सत्य वस्तु हों और उनमेंसे एकका ठीक-ठीक विज्ञान हो जाय तो दूसरेका विज्ञान अपने आप हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि लाल और काली दो रस्सी एक साथ लिपटी हुई हों तो लाल रस्सीके पहिचान लेने पर काली रस्सीकी स्वयं पहिचान हो जायेगी। इसी प्रकार यदि आत्मा और बुद्धिमें से एककी ठीक-ठीक पहिचान हो जाती है तो दूसरेकी पहिचान अपने आप हो जायेगी।

इसका निराकरण करते हुए वेदान्त कहता है कि यह नियम तब तो लागू हो सकता था जबकि विविक्त वस्तुएँ अलग-अलग सत् होतीं अर्थात् जब आत्मा और बुद्धिका भेद तात्त्विक होता। यदि रज्जुमें प्रतीयमान सर्प सत्य होता तब तो सर्पके ज्ञानसे रज्जुका ज्ञान हो जाता। परन्तु वहाँ तो सर्प है ही नहीं, फिर सर्पके ज्ञानसे रस्सीका ज्ञान कैसे हो सकता है? जहाँ अध्यस्त वस्तु कल्पित होती है वहाँ अधिष्ठान-ज्ञानके बिना भ्रम निवृत्त नहीं होता। अभी आपने रस्सीको सर्पसे अलग किया, थोड़ी देर बाद मालासे अलग करोगे, फिर भूछिद्रसे अलग करोगे। जब तक रस्सीका ज्ञान नहीं होता तबतक भ्रमकी सर्वथा निवृत्ति शक्य नहीं है। कल्पितके ज्ञानसे अकल्पित अधिष्ठानका ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु अकल्पित अधिष्ठानके ज्ञानसे कल्पित बाधित हो जाता है।

ये जो बुद्धि आदि (बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, देह, विषय, अवस्था आदि) दृश्य पदार्थ हैं उनसे आत्माके पृथक्त्वका ज्ञान भ्रम निवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि इनके साथ आत्माके पुनः संलग्न होनेकी संभावना है। सत्यका सत्यके साथ सम्बन्ध भी सत्य होता है। परन्तु सत्यका असत्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। किसी भी सम्बन्धकी कल्पना भी असत्य होती है। परन्तु असत्की प्रतीति भी निरधिष्ठान नहीं होती। अतः सत्य और असत्यमें केवल एक ही सम्बन्ध हो सकता है और वह है अधिष्ठान और अध्यस्तका। अधिष्ठान सत्य और अध्यस्त मिथ्या। इसलिये बुद्धि आदि पदार्थ जिस अद्वितीय चैतन्य अधिष्ठान आत्मतत्त्वमें मिथ्या भास रहे हैं, उस अधिष्ठान ज्ञानके बिना न भ्रम निवृत्त हो सकता है और न एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञान होनेकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो सकती है।

ये बुद्धि आदि पदार्थ अनिर्वचनीय हैं। अनिर्वचनीयका ज्ञान नहीं होता। निर्वचनीयसे अपनेको अलग जान सकते हो, अनिर्वचनीयसे नहीं। यदि ऐसा होता तो अपनेको भी अपनेसे अलग जान सकते, क्योंकि आत्मा भी अवाङ्मनसगोचर होनेसे अनिवर्चनीय है। जो पदार्थ अनिर्वचनीय होता है वह अपने अधिष्ठानसे अभिन्न होता है। यह आत्मा ही बुद्ध्यादि अनिर्वचनीय पदार्थोंके रूपमें भासता है। ये सब आत्माके विकल्पमात्र हैं और इसलिये आत्माभिन्न हैं। ज्ञान भानका विरोधी नहीं है भ्रमका विरोधी है। भान तो ज्ञान ही है।

यदि स्वरूपकी ब्रह्मरूपता ज्ञात हो गई तो प्रपंच किसी भी रूपमें भासे, वह स्वरूपसे अभिन्न ही है और यदि आत्माकी प्रपंचसे पृथक्ता ही जानो तो प्रपंचको कैसे जाना ? सत्यरूप, असत्यरूप अथवा सत्यासत्य रूप ? सत्य नहीं, क्योंकि बाधित हो जाता है। असत्य नहीं, क्योंकि प्रतीत होता है। सत्यासत्य नहीं, क्योंकि सत्य-असत्य परस्पर विरोधी हैं। जिसे कुछ कह नहीं सकते उसको अपनेसे अलग कैसे जाना ?

सुतरां यही सिद्ध होता है कि श्रुतिबोधित आत्माके ब्रह्मत्वके बोधसे ही उसमें मिथ्या (अनिर्वचनीय) प्रतीयमान जगत्का बाध होता है, उनकी विवेकख्यातिसे नहीं। तभी श्रुतिकी एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञान होनेकी प्रतिज्ञा पूरी होगी।

भामतीकार कहते हैं कि आत्मा और उसमें प्रतीयमान अनिर्वचनीय बुद्धि आदि अनात्म पदार्थोंमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। अर्थात् भेद प्रतीत होते हुये भी तत्त्व-दृष्टिसे अभेद ही है। कैसे ?

यह जो भ्रम दिखाई पड़ता है वह दो प्रकारका होता है: (१) सोपाधिक भ्रम तथा (२) निरुपाधिक भ्रम।

जो भ्रम उपाधिके रहनेपर दिखे और न रहनेपर न दिखे, वह भ्रम सोपाधिक कहलाता है। जैसे जब आप नीला चश्मा पहिनकर किसी सफेद वस्त्रको देखते हैं तो वह वस्त्र आपको नीला दिखाई पड़ता है। परन्तु चश्मा उतारनेपर नीला दिखाई नहीं पड़ता; इसलिये श्वेत वस्त्रमें नीलिमाका भ्रम आपके चश्मेरूपी उपाधिके कारण है। यह भ्रम सोपाधिक है। इसी प्रकार यह जो प्रपंच तथा प्रपंचगत भेद प्रतीत होता है वह आत्मामें अन्तःकरणरूप उपाधिके कारण है। जबतक अन्तःकरण है ये भेद भी दिखते रहेंगे। बुद्धिसे विचार करनेपर (निषेध पद्धतिसे) आत्मामें ये सब भेद मिथ्या अनुभूत हो जाते हैं, परन्तु अन्तःकरणके रहने तक भेद-भानकी निवृत्ति नहीं होती। ज्ञानसे भेद-भ्रमकी निवृत्ति होती है, भेद-भानकी नहीं। इसीसे तत्त्व-ज्ञानीको भी यह जगत् ज्यों का-त्यों भासता रहता है, परन्तु हाँ अन्तःकरण उपाधिके कारण जो उपद्रव (उपाधियाँ) होती हैं वे सब शान्त हो जाती हैं। तादात्म्यापन्न होना ही उपद्रव है। प्राणसे तादात्म्य करके हम अनुभव करते हैं : मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ। मनके साथ तादात्म्य करके 'मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं विकारी हूँ' यह अनुभव होता है। शरीरके साथ तादात्म्य करके 'मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ' यह भाव उत्पन्न करते हैं। सारांश यह कि विचारसे, आत्मज्ञानसे उपाधिका उपद्रव तो शान्त हो जाता है परन्तु औपाधिक भेद उपाधिके रहने तक बना रहता है। तत्त्वज्ञानके अनन्तर भेद प्रातीतिक होनेपर भी मिथ्या निश्चित रहते हैं।

आकाशमें नीलिमा भी भ्रम है। जो आकाशत्वको जानता है अथवा जो नहीं जानता—सबके लिये आकाशमें नीलिमा प्रतीत होती है। भले वह ज्ञानीके लिये मिथ्या और अज्ञानीके लिये सत्य हो। यह आँखकी सीमाका दोष है और आँख रहते तक यह बना रहता है। यह भी सोपाधिक भ्रमका उदाहरण है।

जिस भ्रमका सम्बन्ध किसी उपाधिसे न होकर केवल अधिष्ठानके अज्ञानसे होता है वह निरुपाधिक भ्रम कहलाता है। जैसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति निरुपाधिक भ्रम है। रज्जुके ज्ञानसे जैसे उसमें प्रतीयमान सर्पकी तुरन्त निवृत्ति हो जाती है वैसे ही निरुपाधि भ्रमके अधिष्ठान ज्ञानसे भ्रम तुरन्त निवृत्त हो जाता है। आत्मामें जीवत्व और ईश्वरत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और प्रमातृत्व और कार्य-कारणत्व, ये सब निरुपाधि भ्रम हैं जो आत्माके ज्ञानके साथ तुरन्त सर्वथा और सदैवके लिये निवृत्त हो जाते हैं। तत्त्व-ज्ञानके अनन्तर भ्रम तो न सोपाधिक रहता है और न निरुपाधिक, परन्तु सोपाधिक भेद उपाधिके रहने तक प्रकाशित रहता है। तत्त्व-ज्ञानीको रज्जुमें तो अँधेरा आदि हेतुओंसे सर्पका भ्रम हो भी सकता है परन्तु आत्मामें जीवत्वका और ईश्वरमें अन्यत्वका तथा जगत्में सत्यत्वका भ्रम नहीं हो सकता, क्योंकि जीव, ईश्वर और जगत्के अद्वितीय अधिष्ठान आत्माका ज्ञान उसको हो चुका है।

ऐसी दशामें ये बुद्धि आदि क्या हैं? क्या आत्मासे विजातीय हैं? नहीं, ये अपने अधिष्ठान चिदात्माकी ही जातिवाले हैं। तो फिर सजातीय होंगे? नहीं, सो भी नहीं, क्योंकि ये दृश्य हैं, परि-वर्तनशील—विकारी हैं, द्रष्टासे भिन्न हैं। अच्छा तो आत्मासे इनका स्वगत भेद होगा? नहीं, क्योंकि इनका अधिष्ठान आत्मा निरंश है। तो फिर ये क्या हैं?

भामतीकार कहते हैं कि ये सब अनिर्वचनीय हैं। इदमित्थं रूपसे इनका निर्वचन नहीं हो सकता। न ये आत्मा हैं, न आत्मासे भिन्न अथवा भिन्ना-भिन्न हैं। न ये सत् हैं, न असत् और न सद-सत्। परन्तु एक बात इनके बारेमें निश्चित है कि इनकी प्रतीति कभी होती है, कभी नहीं होती। इसका अर्थ है कि ये बाधित हैं, मिथ्या हैं। अनिर्वचनीयका पारिभाषिक अर्थ मिथ्या ही है।

अनिर्वचनीय पदार्थोंका भेद भी अनिर्वचनीय होता है, अतः उनके अधिष्ठान-ज्ञानसे उनका मिथ्यात्व ही ज्ञात होता है, अनिर्वचनीय भानका नाश नहीं। वेदान्तोक्त ज्ञान न पैसा घटाता है और न बढ़ाता है। वह केवल आपकी बुद्धिमें जो पैसेके प्रति, शरीरके प्रति, जड़के प्रति, दृश्यके प्रति झूठा अहं-मम भाव है उसको निवृत्त करता है।

यह स्वयंप्रकाश चिदात्मा अनवच्छिन्न है, क्योंकि सभी अवच्छेदोंका प्रकाशक हैं। दूसरी ओर ये बुद्धि आदि अनिर्वचनीय पदार्थ परिच्छिन्न हैं, देशसे, कालसे और वस्तुसे। ये कहीं हैं और कहीं नहीं हैं, कभी हैं और कभी नहीं हैं, कुछ हैं और कुछ नहीं हैं। इन्हें अपने प्रकाशनके लिये चिदात्माकी आवश्यकता होती है, ये स्वयं दृश्य हैं। जिसके द्वारा इनका प्रकाश होता है उसीके द्वारा इनका अभाव भी प्रकाशित होता है। जिसमें ये दिखते हैं, उसीमें इनका अभाव दिखता है। अतः आत्मामें ये सब मिथ्या हैं। परन्तु सत्य और मिथ्याका, अधिष्ठान और अध्यस्तका, द्रष्टा और दृश्यका जहाँ विचार ही नहीं है वहाँ या तो इन्हींको आत्मा मानकर अनर्थकी सृष्टि होती है या इनसे पृथक् किसी परिच्छिन्न चेतनको स्वीकार करके अनर्थका तात्कालिक अथवा अस्थायी शमन किया जाता है।

परिच्छिन्नसे अपरिच्छिन्न अलग होता है और अपरिच्छिन्नकी स्वयंप्रकाशताको जानकर परिच्छिन्न मिथ्या हो जाता है। इस पृथक्ताको न जाननेके कारण आत्माका इन्हीं बुद्धि आदिमें अहं-ममरूप अध्यास हो जाता है। यही जीव भाव है।

(४. ७)

आत्मा नितान्त अविषय नहीं है
अस्मत प्रत्ययका विषय भी है : ४

(इदं-अनिदंका विवेक)

तस्य चानिदमिदमात्मनोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वमुपपद्यते। तथाहि कर्ता भोक्ता चिदात्माऽहंप्रत्यये प्रत्यवभासते। न चोदासीनस्य तस्य क्रियाशक्तिर्भोगशक्तिर्वा सम्भवति। यस्य च बुद्ध्यादेः कार्यकरणसंघातस्य क्रियाभोगशक्ती न तस्य चैतन्यम्। तस्माच्चिदात्मैव कार्यकरणसंघातेन ग्रथितो लब्धक्रियाभोगशक्तिः स्वयंप्रकाशोऽपि बुद्ध्यादिविषयविच्छुरणात् कथञ्चिदस्मत्प्रत्ययविषयोऽहंकारास्पदं जीव इति च जन्तुरिति च क्षेत्रज्ञ इति चाख्यायते। न खलु जीवश्चिदात्मनो भिद्यते। तथा च श्रुतिः "अनेन जीवेनात्मना" इति। तस्माच्चिदात्मनोऽव्यतिरेकाज्जीवः स्वयंप्रकाशोऽप्यहंप्रत्ययेन कर्तृभोक्तृतया व्यवहारयोग्यः क्रियत इत्यहंप्रत्ययालम्बनमुच्यते। न चाध्यासे सति विषयत्वं विषयत्वे चाध्यास इत्यन्योन्याश्रयम् इति साम्प्रतम्। बीजाङ्कुरवदनादित्वात् पूर्वपूर्वाध्यासतद्वासनाविषयीकृतस्योत्तरोत्तराध्यासविषयत्वाविरोधादित्युक्तं 'नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' इति भाष्यग्रन्थेन। तस्मात् सुष्ठूक्तं 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः' इति। जीवो हि चिदात्मतया स्वयंप्रकाशतयाऽविषयोऽप्यौपाधिकेन रूपेण विषय इति भावः (भामती)

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि आत्मा अस्मत्प्रत्ययका विषय होनेसे नितान्त अविषय नहीं है **'न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्'** और इसलिये आत्मामें अनात्म-अध्यासकी संभावना है। अब इसपर विचार करना चाहिये कि आत्मा अहं-प्रत्ययका विषय है या नहीं; है तो कैसे और नहीं है तो कैसे? इसका बहुत बढ़िया विवेचन पञ्चपादिकामें है।

पहिले आपका मानसिक विश्लेषण करें। दो शब्द हैं: **जानामि** और **भवामि**। व्याकरणकी रीतिसे धातु दो प्रकारकी होती हैं: सकर्मक और अकर्मक। 'जानामि' सकर्मक क्रिया है। 'अहं घटं जानामि'में जानामि क्रियाका कर्म 'घट' है और कर्ता अहं। मैं जानता हूँ किसको? घटको। अतः घट प्रमेय है। कौन जानता है? मैं। अतः मैं प्रमाता हूँ। कैसे जानता हूँ? घटाकार वृत्तिके द्वारा। अतः घटाकार वृत्ति प्रमाण है। इस प्रकार 'अहं घट जानामि'में घट प्रमेय है, घटाकार वृत्ति प्रमाण है तथा प्रमाण-प्रमेय-विशिष्ट प्रमाता 'अहं' है। प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटी तथा कर्ता-क्रिया-कर्मकी त्रिपुटी 'अहं घटं जानामि' वाक्यमें है।

इसके विपरीत 'भवामि' क्रिया अकर्मक है। 'अहं भवामि' (मैं होता हूँ) में भवामिका कोई कर्म नहीं है। होना स्वयं होता है। 'अहम् अस्मि' (मैं हूँ), इसमें अस्मिके कर्मकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'भू' सत्तात्मक अकर्मक धातु है,* इसमें कर्मकी कोई आवश्यकता नहीं है।

ज्ञान-क्रियाका कर्ता भी अहं है और सत्तात्मक क्रियाका ज्ञाता भी अहं है। "अहं घटं जानामि" तथा 'अहं भवामि' इन

---

* लज्जा, सत्ता, स्थिति, जागरितं, निद्रा, क्षय, भय, जीवित, मरणं,—धातुगणं तम् अकर्ममाहुः।

दोनों ज्ञानोंमें अन्तर यह है कि प्रथम पक्षमें 'अहं' घटरूप इदंसे आक्रान्त है तथा दूसरे पक्षमें किसी भी इदंतासे आक्रान्त नहीं है। कर्मभूत वस्तुका जो ज्ञाता है वह प्रमाण और प्रमेय दोनोंसे युक्त होनेके कारण इदंतासे आक्रान्त है और अनुभवात्मा जो ज्ञान है वह इदंतासे आक्रान्त नहीं है अर्थात् अनिदं है। अतः ज्ञानके दो स्वरूप हैं: एक तो इदं (यह, यह, यह) और दूसरा अनिदं (यह नहीं, यह नहीं)। अहं बोलनेकी जरूरत नहीं है। अहंके ही ये दो अंश है : इदं और अनिदम्।

अब 'अहं घटं जानामि', 'अहं पटं जानामि', 'अहं मठं जानामि',—इन ज्ञानोंमें जो घट, पट और मठका ज्ञाता अहं है वह एक है या तीन ? वह तो एक ही है, परन्तु कर्मभूत ज्ञानके भेदसे पृथक्-पृथक् भासता है। जैसे एक ही विद्वान्में न्याय, व्याकरण आदि विषयोंके भेदसे भेदकी कल्पना होती है कि 'यह न्यायाचार्य हैं, व्याकरणाचार्य हैं' इत्यादि वैसे ही विषयको लेकर और प्रमाणगतवृत्तिके भेदको लेकर प्रमातामें भी भेदकी कल्पना होती है। सकर्मक ज्ञानको यही गति है। इसमें जो प्रमाण वृत्ति है वह गर्भवती है अर्थात् इसमें दो अंश हैं: एक पतिका अंश (अर्थात् प्रमातांश) और दूसरा पुत्रांश (अर्थात् प्रमेयांश) एक की वजह से आकार आया और दूसरेकी वजहसे आकार परिपुष्ट हुआ। प्रमाण-वृत्तिमें इदंतांश विषयसे आता है और अनिदमंश प्रत्यक् चैतन्य आत्मासे आता है।

अहं आत्मामें इदं और अनिदंका विवेक न होना ही अध्यास है। अर्थात् 'यह' और 'यह नहीं' इन दोनोंका मिल जाना अध्यास है। यदि कहो कि सुषुप्तिमें अध्यास नहीं होता, क्योंकि वहाँ तो प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयका कोई व्यवहार ही नहीं है, तो कहते हैं कि नहीं वहाँ भी व्यवहार है। कैसे ? सुषुप्तिसे उठनेपर मनुष्य कहता

है "मैं सुखसे सोया, कुछ पता ही नहीं रहा"—इससे प्रतीत होता है कि वहाँ (सुषुप्तिमें) प्रमेय सुख था और 'मैं' उसका प्रमाता। असलमें सुषुप्तिमें जिस सुखको मनुष्य विषय करता है उसे सुख न कहकर जाग्रत् और स्वप्नके दुःखोंका अभाव ही कहना चाहिये। अब देखो, जिसको जाग्रदादिके दुःखोंका अनुभव था उसीको जब सुषुप्तिमें दुःखाभावका अनुभव होता है तब वह जाग्रत्-अवस्थामें अपने अनुभवका कथन करता है कि 'मैं सुखसे सोया' इत्यादि। यदि कहो कि दुःखाभाव अभावरूप होनेके कारण विषय नहीं हो सकता, तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि स्मृति सदा अनुभूत विषयकी ही होती है। जब जाग्रत्‌में मनुष्य स्मरण करता है कि 'मैं सुख (दुःखाभाव)में सोया' तो सुषुप्तिमें दुःखाभावका अनुभव अवश्य हुआ, अन्यथा सुषुप्तिके निर्विशेष चैतन्यमें दुःखाभावका संस्कार कहाँसे आता ? बिना संस्कारके स्मृति नहीं होती।

सुषुप्तिमें भी अपनी अपरिच्छिन्नताका अनुभव नहीं हुआ, परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति नहीं मिटी, स्वरूपका अज्ञान नहीं मिटा। तभी तो वहाँ दुःखाभावमें सुखकी भ्रान्ति होती है और अनुभवरूपमें अनुभवाभिकृत्य भ्रान्ति होती है कि 'मैंने सुखका अनुभव किया' तथा स्वयं अज्ञानका द्रष्टा होनेपर भी अपनेमें अज्ञानीपनेका आरोप होता है कि 'मैंने कुछ नहीं जाना, मुझे कुछ पता नहीं रहा' (**नहि किंचिद् अवेदिषम्**)।

अब देखो, यदि सुषुप्तिमें सुखका अनुभव हुआ तो 'मुझे कुछ पता नहीं रहा' यह कहना गलत है और वास्तवमें यदि 'मुझे कुछ पता नहीं रहा' तो यह कहना गलत है कि 'मैं सुखसे सोया'। यदि कहो कि 'मैंने कुछ जाना ही नहीं' तो इस विषयाभावको जाना कैसे ? बात यह है कि वहाँ मैं भी ज्ञानस्वरूप था और दुःखाभाव, विषयाभावकी अन्यताका अज्ञानरूप संस्कार और

उसका अपनेमें आरोप भी बना रहा। सुषुप्त होनेपर भी मैं दुःखाभावको, विषयाभावको देखता रहा! क्या विरोधाभास है!

इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिमें भी इदं और अनिदंका मेल बना रहता है।

अहंमें दोनों अंश बने रहते हैं। इदमंश, जो बदलता रहता है जैसे मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मूर्ख, मैं विद्वान्, मैं जन्मवान्, मैं मरणवान् इत्यादि; और अनिदमंश जो अपरिवर्तनशील रहकर, एक रहकर, सभी प्रत्ययोंका प्रकाशक बना रहता है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

(कठो० १.२.२२)

'विनाशी शरीरोंमें अविचल भावसे स्थित अशरीरीको, जो महान् है, विभु है और आत्मा है, जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।'

अहंमें इदं-स्फुरण ही शरीर है। यह परिवर्तनशील है। उसमें जो अनिदं है वह अपरिवर्तनशील है। उसको जानकर मनुष्य शोकसे तर जाता है। यह अनिदं जो है वह विभु है, महान् है और आत्मा है।

अच्छा, जो विभु आत्मा है वह एक शरीरमें रहकर एक शरीरकी सुषुप्तिको अपनी माने और दूसरोंकी सुषुप्तिको अपनी न माने, क्या यह संभव है? यह तभी संभव हो सकता है जब वह सम्पूर्ण भेदोंका प्रकाशक होनेपर भी और उनसे न्यारा होनेपर भी एक अन्तःकरणके साथ तादात्म्य कर ले। सुषुप्ति आत्माकी तो होती नहीं, अन्तःकरणकी ही होती है। आत्मामें तो केवल उसका आरोप होता है। यही अध्यास है।

किसी फक्कड़ने पूछा : 'एक शरीरकी सुषुप्तिसे इतना प्रेम क्यों ?' बोले : 'आराम मिलता है, विश्राम मिलता है, सुख मिलता है।' फिर पूछा : 'समाधिसे प्रेम क्यों ?' तो बोले : 'वही हेतु है महाराज'। फक्कड़ने फटकारा :

बाध्यतां बाध्यतामेव समाध्याधिः सुधीवरैः।

'अरे जो सुधीवर हैं, विद्वत्प्रवर हैं, उनको चाहिये कि वे पहिले समाधिके रोगको काटें, तब आत्माका दर्शन होगा!

समाधि एक अन्तःकरणमें, एक समयमें अन्तर्देशमें भासती है। वह देश-काल-व्यक्तिसे परिच्छिन्न है। फिर समाधिस्थ प्रज्ञा आत्मा कैसे हो सकती है? समाधि, सुषुप्ति, जाग्रत्, स्वप्न, सब इदं और अनिदंके मेलकी अवस्थायें हैं। अवस्थायें सभी मेलकी ही होती हैं। आत्मज्ञानके लिए इदं और अनिदंका विवेक चाहिये कोई अवस्था नहीं!

प्रत्यय सभी 'इदं' से सम्बद्ध हैं। अहं जो प्रत्ययरूप है वह भी इदंताक्रान्त है। अतः 'अहं प्रत्ययका विषय आत्मा है' इसका आशय यह है कि इदं और अनिदंके मेलवाला जो अहं है (औपाधिक आत्मा) वह अहं-प्रत्ययका विषय है। जो शुद्ध अनिदं है वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है वह न इदं-प्रत्ययका विषय है और न अहं-प्रत्ययका विषय है।

तब यह भी विचार करना चाहिए कि अहंके शुद्ध स्वरूपमें यह मिला-जुला अहं आता कहाँसे है और किस रूपमें भासता है?

चार्वाक कहते हैं कि यह सम्पूर्ण अहं बाहरसे (शरीरके बाहरसे) आता है। विज्ञानवादी बौद्ध इसे पूर्णतः भीतरसे आया मानते हैं। जैन बाहर-भीतर दोनोंसे मानते हैं। शून्यवादी बौद्ध न बाहरसे न भीतरसे मानते हैं। दूसरे शब्दोंमें चार्वाक इदंको

सत्य और अहंको मिथ्या (व्यावहारिक) मानते हैं। बौद्ध-पक्षमें इदं और अनिद तथा इनका मेल अहं सब मिथ्या है। जैन-पक्षमें अहं और इदं दोनों सत्य हैं। वेदान्त-मतमें कोई प्रतीति, चाहे सत्य हो या मिथ्या, निरधिष्ठान नहीं हो सकती और वह अधिष्ठान चेतन होना चाहिये। अतः इदं और अहं प्रतीत्य होनेसे, प्रत्ययरूप होनेसे, दोनों मिथ्या हैं और जिस चैतन्य अधिष्ठानमें दोनों प्रतीत होते हैं वह अनिदं है, अहम्-इदं दोनोसे अतीत है और केवल वही सत्य है।

इदं और अनिदंके मेलसे अहंकी प्रतीति होती है। किस रूपमें ? तो भामतीकार कहते हैं :

तथाहि कर्ता भोक्ता चिदात्माहंप्रत्यये प्रत्यवभासते

अहंका जब स्फुरण होता है तब चिदात्मा तो भासता ही है, दो बात और भासती हैं : मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ। अर्थात् अपने अहं-प्रत्ययमें,* अहं वृत्तिमें,* अहंपनेके व्यवहारमें तीन बातें मालूम पड़ती हैं : मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं ज्ञाता हूं।

प्रश्न यह है कि ये तीनों बातें अर्थात् अपना कर्तापन, ज्ञातापन, भोक्तापन खास अपनी चीज हैं (अपना स्वरूप हैं) या बाहरसे उधार ली हुई है (अध्यारोपित हैं)। यदि अध्यारोपित हैं तो उनसे अपना कुछ हानि-लाभ नहीं हैं, केवल कुछ कालके लिये व्यावहारिक हैं और इसलिये वे आत्माको परिच्छिन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं। और यदि वे स्वरूपगत हैं तो आत्माका नित्यमोक्ष सम्भव नहीं है। इसलिए इस प्रश्नका निर्णय होना आवश्यक है।

---

*प्रत्यय अर्थात् वृत्ति, वृत्ति अर्थात् व्यवहार: वर्तनं वृत्तिः शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपं वा। वृत्तिका अर्थ व्यवहार है चाहे वह बोलनारूप हो अथवा स्फुरणरूप हो।

पहिले हम 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इसकी बात लेते हैं। असलमें यही विद्या-अविद्या-पक्षका बाह्य हेतु है। आन्तर हेतु जो आत्माका घटघटादिके समान अवेद्यत्व तथा उसकी अपरोक्षता है, उसकी चर्चा हम पहिले भी कर चुके हैं और प्रसंगवश फिर भी करेंगे।

कर्म तो मशीन भी करती है परन्तु भोग मशीन नहीं कर सकती, वह तो चेतनके आधारपर ही हो सकता है। कर्म जड़में भी होता है, हमारे करनेसे भी होता है और न करनेसे भी होता है। उदाहरणार्थ विक्रियायें हमारे न करनेसे होती हैं फल सड़ जाते हैं, मकान नष्ट हो जाते हैं, काम-क्रोधादि विकार अपने आप उदय होते हैं, शरीर वुड्ढा हो जाता है इत्यादि। परन्तु ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि करनेसे होते हैं, अपने आप नहीं होते। पशुओंमें भी काम, क्रोधादि विक्रियायें होती हैं परन्तु उनके साथ उनका कर्तापन न जुड़नेसे वे उनके सुख-दुःखमें हेतु नहीं बनते। जबकि मनुष्य विक्रियाओंमें भी अपना कर्तृत्व जोड़कर सुखी-दुःखी होता रहता है। इस प्रकार कर्ताका चेतन होना आवश्यक नहीं है।

गीताका वचन है कि शरीर और इसके तेरह करणों (मन, बुद्धि, अहंकार और दश इन्द्रियों) के कर्तापनमें प्रकृति हेतु है परन्तु सुख-दुःख-भोगमें हेतु पुरुष है :

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ (गी० १३.२०)

कर्म प्रकृतिका अंग है और भोग पुरुषाश्रित है। अविद्याका बाह्य हेतु कर्म है और विद्याका बाह्य हेतु भोग है।

कर्मेन्द्रियाँ तमोगुणका कार्य होनेसे चेतनका आभास ग्रहण नहीं करतीं, अतः उनको अविद्या-इन्द्रियाँ कहा जाता है। जबकि

ज्ञानेन्द्रियाँ सत्त्वगुणका कार्य होनेसे चेतनके आभाससे युक्त होनेके कारण विद्या-इन्द्रियाँ है।

यह जो चिदात्मा है वह कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे अपनेको कर्ता अनुभव करता है और मन तथा ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे भोक्ता अनुभव करता है। इसका प्रमातापन भी बुद्धिकी उपाधिसे ही अनुभूत होता है। यह कर्तापना, भोक्तापना, ज्ञातापना जो अहंके व्यवहारमें अनुभवमें आते हैं। वे आत्माके स्वरूपमें नहीं हैं, आत्माकी औपाधिक प्रतीतियाँ हैं। आप चिदात्मा जब न कर्मेन्द्रिय हैं, न ज्ञानेन्द्रिय और न मन और न बुद्धि, तब आप कर्ता भोक्ता और प्रमाता कैसे? भोग और कर्म औपाधिक हैं, जो निरुपाधिक आत्मा है उसमें न भोग है, न भोग-शक्ति, न कर्म है और न कर्म-शक्ति। वह तो स्वयंप्रकाश सच्चिदानन्दघन अद्वय है।

कर्ममें कुछ अच्छा बुरा नहीं होता, वह तो देश, काल, जाति, धर्म और सम्प्रदायसे विहित-अविहित होकर ही अच्छा बुरा कहलाता है, इसमें कुछ भला बुरा माननेकी जरूरत नहीं है। परन्तु चिदात्माको देखो। वह तो कर्ता ही नहीं है, भोक्ता ही नहीं है बिना इन्द्रियोंके साथ तादात्म्य किये चिदात्माको कर्तापन और भोक्तापनका अनुभव ही नहीं हो सकता। यह अन्तःकरण भी और क्या है? कर्म, भोग और उनकी वासनासे वासित प्रज्ञा ही अन्तःकरण कहलाती है:

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च

जैसा इन्द्रियोंसे कर्म कर रहे हैं अथवा भोग भोग रहे हैं और जैसी इन कर्म और भोगसे वासित बुद्धि रही है, उनसे अपनेको अलग कर लो तो अध्यास मिट जायेगा। अपने कर्ताको कर्मेन्द्रियसे जोड़ दो, भोक्ताको ज्ञानेन्द्रियोंसे जोड़ दो और ज्ञाताको पूर्वप्रज्ञासे

जोड़ दो। फिर इन तीनोंसे विलक्षण इदं अनिदंके साक्षी आत्माकी खोज करो। अध्यास मिट जायेगा।

यहाँ ज्ञान और कर्मके समुच्चयका विकल्प नहीं है। ईशावास्योपनिषद्में जहाँ 'विद्यां चाविद्यां च' कहकर ज्ञान और कर्मके समुच्चयकी वात कही सी मालूम पड़ती है वहाँ तत्त्वज्ञानका प्रसंग नहीं है, वहाँ जीवन जीनेका प्रसंग है। तत्त्वज्ञान इससे विलक्षण वस्तु है।

× × ×

यह जो कर्ता, भोक्ता और प्रमाताका व्यवहार अहंमें प्रतीत होता है उसके बारेमें एक सूक्ष्म विवेक मैं आपको सुनाता हूँ।

प्रमा और प्रमाता दोनोंका शरीरके भीतर ही अनुभव होता है और वे अपरोक्ष रहते हैं। ज्ञातापना भी अपरोक्ष है और 'मैंने यह जान लिया या नहीं जाना'—यह प्रमा भी अपरोक्ष है। परन्तु 'अहं घटं जानामि' (मैं घटको जानता हूँ) में दोहरी वात है। घटका हमारी वृत्तिके कर्मके रूपमें, वृत्तिके विषयके रूपमें अनुभव होता है अर्थात् घट वृत्तिका कर्म भी है और वृत्ति-रूप भी। इसलिये घट प्रत्यक्ष भी है (कर्म होनेसे) और अपरोक्ष भी है (वृत्तिरूप होनेसे)।

विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं कि घट वृत्तिका कर्म नहीं होता, कर्मत्वेन प्रतीत होता है। इसलिए घट भी आन्तर प्रत्ययरूप अथवा वृत्तिरूप ही है, वास्तवमें वाहर घट नहीं है। इस पर वेदान्तियोंका तर्क है कि जिस समय शुक्तिमें झूठी चाँदी दीखती है और जिस समय वाजारमें रखी हुई सच्ची चाँदी दिखती है, उन दोनों चाँदियोंमें भेद है या नहीं ? स्पष्ट है कि भेद है, क्योंकि सच्ची चाँदीमें अर्थकारिता होगी और झूठीमें नहीं होगी। इस

भेदका आधार यह है कि झूठी चाँदी केवल प्रत्ययरूप है और असली चाँदी प्रत्यक्षरूप भी है और विषयरूप भी है।

जो विषय है वह इदं-वृत्तिका कर्म है 'अयं घटः' वाला घट व्यवहारमें है। और 'अहं घटं जानामि' वाला घट प्रत्ययरूप है, प्रमारूप है। 'अहं घटज्ञः' अथवा 'अहं घटं जानामि' यह फलवृत्ति होनेसे वहाँ प्रमाके साथ प्रमाता भी है। अब जो घट प्रमेय हुआ वह कर्मत्वेन प्रत्यक्ष हुआ तथा वही प्रमात्वेन और प्रमातृत्वेन अपरोक्ष हुआ। प्रत्यक्ष और अपरोक्ष दो घट एक ही हैं।

जो घट, पटादिके समान प्रत्यक्ष न हो और स्वर्गादिके समान परोक्ष न हो वह अपरोक्ष होता है। यह अपरोक्ष भी दो तरहका भासता है: एक इदंतया (यह रूपसे) और दूसरा अहंतया (मैं रूपसे)। अपने विचार, अपने निर्णय, अपनी वासना, अपना ममत्व सब अपरोक्ष हैं परन्तु इदंतया भासते हैं। अपना मैं भी जो कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता रूपसे भासता है वह इदंता से आक्रान्त होता है यह पहले कह चुके हैं। परन्तु इस अहंतया भासनेमें इदंतया भासित अपरोक्ष पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक स्थायित्व रहता है। जो शुद्ध अहं है वह अनिदं है वह भासित होता नहीं क्योंकि वह नित्य भासमान है, सब परिच्छिन्नताओंका अवभासक अधिष्ठान और इसलिए उन सबसे अतीत। शुद्ध अहं साक्षात् अपरोक्ष है।

अब देखो, प्रत्यक्ष घटको जाननेका फल क्या हुआ? कुछ लोगोंके मतमें घटको जाननेके तीन फल होंगे: घट-ग्रहण, घट-त्याग या घटकी उपेक्षा, परन्तु इसका नाम फल नहीं है। फल एक होता है तीन नहीं। घटको जाननेका फल घट-प्रमा है, घटका यथार्थ ज्ञान है और कुछ नहीं। 'अहं घटं जानामि' रूप फलवृत्ति भी घटज्ञानका फल नहीं है। परन्तु इन्द्रिय और बुद्धिके समन्वयसे जो 'यह घट है' (अयं घटः) अथवा 'यह ऐसा है' ऐसी प्रमाका

उत्पन्न होना है वही फल है। प्रमा अर्थात् प्रमाणका फल, यथार्थ-ज्ञान।

तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः।

जो चीज जैसी है उसको वैसा ही जानना या अनुभव करना प्रमा है।

प्रमेयको जानकर प्रमेयके सम्बन्धमें प्रमा उत्पन्न होनी चाहिये न कि प्रमाताके सम्बन्धमें। अब प्रमेय हैं कर्मेन्द्रियों द्वारा किया गया कर्म, ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा भोगा गया भोग अथवा बुद्धि द्वारा जानी गई वस्तुएँ। इनको जानकर प्रमा उत्पन्न होनी चाहिये कि कर्मेन्द्रियाँ कर्ता हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ भोक्ता हैं, बुद्धि प्रमाता है; परन्तु ज्ञान उल्टा प्रमाताके सम्बन्धमें होता है कि 'मैं कर्ता हूँ, मैं प्रमाता हूँ, मैं भोक्ता हूँ'। इसीका नाम अध्यास है।

विवेक यह होना चाहिये कि मैं असंग चेतन कूटस्थ आत्मा कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्ता, ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे भोक्ता और बुद्धिकी उपाधिसे प्रमाता जैसा अनुभूत होता हूँ। कर्म, भोग और विषयज्ञान उपाधिगत विशेषताएँ हैं। मैं कूटस्थ इन सबसे विलक्षण अभेदस्वरूप हूँ।

यह ठीक है कि अहंप्रत्ययमें एक साथ तीनों चीजें भासती हैं यानी कर्तापन, भोक्तापन, और प्रमातापन। परन्तु भासनेसे ही ये सत्य नहीं हो जाते। यहीं तो विवेकके लिए अवसर होता है। ये आत्माके औपाधिक भास हैं।

सूतसंहितामें एक श्लोक आता है जिसका अर्थ है कि: "दृश्य तो अचेतन है और कूटस्थ आत्मा चेतन है। जो कूटस्थ

चेतनको देहके भेदसे भिन्न-भिन्न मानता है उसको महामोहरूपी अजगरने निगल लिया है।"※

जैसे किसीका सच्चा गवाह फोड़ना अपराध है, उसकी समझको उल्टी करना अपराध है, उसे रिश्वत देना अपराध है वैसे ही जो एक साक्षी (गवाह)को छिन्न-भिन्न देखता है, छिन्न-भिन्न करता है, वह ब्रह्म-हत्याका अपराधी है।

उन दिनों मैंने काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तथा पं० रामावतार शर्मा द्वारा लिखित 'योरोपीय दर्शन' नामक पुस्तक पढ़ी थी। उन्हीं दिनों हैकलेका निकला था 'विश्वप्रपंच' जर्मनमें। इनका निष्कर्ष यह था कि वस्तुतः सारी सृष्टि जड़ाद्वैत है। जगत्के मूलमें एक ही जड़ सत्ता है और वह अद्वितीय है, उसमें मैतृ (मैटर) का भेद नहीं है। चार्वाक और इनमें केवल इतना ही भेद है कि चार्वाक मूलमें सत्ताको चतुर्विध मानता है, चार भूतोंके रूपमें और ये मूलसत्ताको एक मानते हैं। हमको पढ़नेमें बड़ा आनन्द आया।

जड़ सत्ता एक होते हुये भी प्रत्ययभेदसे अर्थात् नाक, कान, मन, बुद्धि आदिके वृत्तिभेदसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके रूपमें भास रही है। बादमें यही बात हमको भागवतमें मिली :

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥

(भाग० ३.३२.३३)

'जिस प्रकार रूप, रस एवं गन्धादि अनेक गुणोंका आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा विभिन्नरूपसे अनुभूत होता है…'। वृत्तिके भेदसे दृश्य सत्तामें भेद भासता है। जैसे यह

※ अचेतनेऽस्मिन् जगति…साक्षिभेदं प्रकुर्वते।

बात दृश्यके विषयमें है वैसे ही साक्षीके विषयमें भी है। साक्षी भी एक होनेपर वृत्ति-भेदसे अनेक रूपोंमें भासता है, कर्ताके पमें, भोक्ताके रूपमें, ज्ञाताके रूपमें। अन्यथा तो : **प्रतिबोध-विदितं मतं अमृतत्वमपि विन्दते।** श्रुतिने कहा : सम्पूर्ण ज्ञानोंमें, सम्पूर्ण सत्ताओंमें, सम्पूर्ण अहंताओंमें एक ही ज्ञान, एक ही सत्ता, एक ही अहमर्थ है और वह ज्ञान, सत्ता और अहमर्थ एक ही अद्वितीय वस्तुके नाम हैं। आप देखना उपनिषद्में सः, अहं और आत्माका एकसाथ ही वर्णन है :

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम् इत्यथातोऽहंकारादेश एव अहमेवाधस्तात् अहमुपरिष्टात् अहं पश्चात् अहं पुरस्तात् अहं दक्षिणतः अहमुत्तरतः अहमेवेदं सर्वम् इति। अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तात् आत्मोपरिष्टाद् आत्मा पश्चाद् आत्मा पुरस्ताद् आत्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वम् इति।....

(छान्दोग्य ७.२५. १,२)

'सः' अर्थात् भूमा, ब्रह्म। परन्तु 'सः' कहनेसे कोई परोक्ष न मानले अतः कहा 'अहम्'। परन्तु 'अहम्' कहनेसे देहादि संघात अथवा प्रत्ययका भ्रम न हो अतः कहा 'आत्मा'। ज्ञानको 'सः' कहोगे तो आसनसे बैठकर उसका ध्यान करनेकी प्रवृत्ति होगी 'सब वही है' यह भावना करनेकी प्रवृत्ति होगी; 'मैं' कहोगे तो 'मैं सब कुछ हूँ' यह सोचना ही ब्रह्म हो जायेगा। वृत्ति चंचल है, टिकती नहीं। जो टिके सो वृत्ति ही नहीं। कह दो वृत्तिसे। "जा री, न तू मेरी, न मैं तेरा' न तू मैं।" साधु सावधान! वृत्तिको मैं-मेरी मानकर यदि वृत्तिको रोकोगे तो वह अहं-प्रत्ययका ही निमित्त बनेगी। इसलिये कहा 'आत्मा ही सब कुछ है'। यह आत्मा वृत्ति नहीं है; मनको बार-बार अभ्यास कराके अनुभवमें

आनेवाली वस्तु नहीं है। यह तो जैसे सूर्य, चन्द्र, धरती, नक्षत्र, तारे सत्य हैं, दीखते हैं, देखनेके अभ्यासके बिना, ऐसे ही यह आत्मा सत्य है। और यह ऐसा सत्य है जिसके बिना कोई जिन्दा ही नहीं रह सकता।

अच्छा 'मैं कर्ता', ठीक! परन्तु किस कर्मका? अपने किये कर्मका, या दूसरेके किये कर्मका? सत्य कर्मका या मिथ्या कर्मका? स्वप्नमें क्या कर्म नहीं होता या कर्ता नहीं होता, स्वयं नहीं होता या अन्य नहीं होता? सब कुछ होता है वहाँ परन्तु तभी तक जबतक स्वाप्निक चेतना है। जाग्रत् चेतनाका उदय होते ही सबका मिथ्यात्वनिश्चय हो जाता है। इसी प्रकार 'मैं भोक्ता', 'मैं प्रमाता'के विषयमें भी समझना चाहिये।

'ज्ञान' की व्युत्पत्ति दो प्रकारसे की जा सकती है:

१. करण-व्युत्पत्ति, यथा: **घटादिज्ञानकरणम् ज्ञानम्** अथवा **ज्ञायेत घटादि अनेन इति ज्ञानम्**। अर्थात् घट, पटादि पदार्थोंका ज्ञान जिस करणसे हो वह ज्ञान है। अतः इन्द्रियाँ भी ज्ञान हैं।

२. भाव-व्युत्पत्ति, यथा: **ज्ञप्तिर्ज्ञानम्, ज्ञानं ज्ञप्तिः**। जानना जो भाव है वह ज्ञान है।

एक ज्ञान-क्रिया है और एक ज्ञानका करण है। परन्तु ये दोनों ज्ञान करणाधीन ही हैं। ज्ञानरश्मियाँ जब करण द्वारसे होकर विषयसे टकराती हैं तब उसकी प्रतिक्रियारूप प्रत्यय-ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यय-ज्ञानमें विषयका आकार होता है और वह आकार करणके अधीन होता है। चश्मेका रंग वस्तुके रंगको प्रभावित करता ही है। विषय-ज्ञानके सम्बन्धमें यही बात है। विषयाभाव भी विषय-प्रतियोगी-सापेक्ष है, अतः दोनोंका ज्ञान एक ही कोटिका है। बाहरके विषयसे अनुरंजित जो ज्ञान होता

है वह ज्ञानका पराधीनरूप है। "मैं कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता हूँ" इस ज्ञानमें वाहरकी कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धिका रंग मिला हुआ है। इसमें विवेक यह करना है कि प्रकाश रंगसे जुदा है और रंग प्रकाशसे जुदा नहीं है। सूर्यका प्रकाश जब किसी माध्यमसे आवर्तित होता है तब उसमें रंग प्रकट हो जाते हैं अर्थात् रंग प्रकाशका औपाधिक रूप है, स्वरूपतः प्रकाश वेरंग है। अतः विवेक यह है कि कर्ता भोक्ता ज्ञाताका जो निरुपाधिक-रूप स्वयंप्रकाश है वह क्या है? यद्यपि कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमा-तृत्व ज्ञानसे पृथक् नहीं हैं तथापि ज्ञान इनसे पृथक् है। ज्ञान अर्थात् ज्ञप्ति, ज्ञान-करण नहीं।

ज्ञानमें सम्वन्ध विभक्ति नहीं होती। 'मेरा ज्ञान' नहीं होता और न 'ज्ञान मेरा' होता है, क्योंकि 'मेरा ज्ञानमें' मैं ज्ञानसे पृथक् हो जाता हूँ और ज्ञानसे पृथक् 'मैं' जड़ ही हो सकता है। 'मैं ज्ञान' कहना भी अनावश्यक है, क्योंकि ज्ञानमें तो मैं, तू, वह सव ही होता है। इसलिए न मैंका ज्ञान होता है न ज्ञानका मैं होता है। ज्ञानमें सम्बन्ध-विभक्ति झूठी होती है अर्थात् लोक-व्यवहारमें उसका चलन भले ही हो, परन्तु परमार्थतः उसका कोई अर्थ नहीं होता। जैसे पुरुषकी चेतनता या चेतनाका पुरुष नहीं होता क्योंकि पुरुष ही चेतन है, तथा जैसे ब्राह्मणका शरीर और ब्राह्मण दो नही होते, क्योंकि शरीर ही ब्राह्मण होता है वैसे ही जो 'मैं' है वही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही 'मैं' है। जो ज्ञान है वही चैतन्य है, जो चैतन्य है वही ज्ञान है :-

ज्ञानमेव चैतन्यं चैतन्यमेव ज्ञानम्।

इसलिए लोकमें जो प्रमातापनका ज्ञान है वह भी झूठा है। अब कहो कि प्रमाताका ज्ञान होता है 'अहं घटं जानामि' प्रमाण-वृत्तिसे। यदि यह झूठी तो 'अहं ज्ञानम्' इस वृत्तिसे ज्ञान होगा।

अहं और ज्ञान दो हैं क्या? नहीं। तो फिर 'अहं ज्ञानम्' क्यों बोलते हो? अच्छा 'ज्ञानं ज्ञानम्' बोलो। तो बोलते ही क्यों हो? परन्तु क्यों न बोलें, जब बोलना न बोलना दोनों ज्ञान-स्वरूप हैं? बोलो कैसे भी, एक बार यह अनुभवमें आ जाना चाहिये कि ज्ञानमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व झूठे हैं, औपाधिक हैं, पराधीन हैं, ज्ञानाभिन्न हैं और ज्ञान इनसे अतीत अव्यवहार-रूप स्वतन्त्र स्वयंप्रकाश है।

यदि मरनेसे डर लगता है तो आत्माको अमर बोलो, यदि डर नहीं लगता तो अमर बोलो या न बोलो। यदि जड़तासे डर लगता है तो आत्माको ज्ञान बोलो, यदि नहीं लगता तो चेतन बोलो या न बोलो। यदि भेदसे डर लगता है तो आत्माको अद्वितीय बोलो, यदि डर नहीं लगता है तो अद्वितीय बोलो या न बोलो। शब्द बोलनेका जो उद्देश्य है 'उस शब्दके अर्थका दूसरे शब्दोंके अर्थसे व्यावर्तकत्व, वह यदि पूरा हो गया तो बोलना न बोलना समान हो जाता है।

जैसे दृश्य जड़सत्ता अद्वितीय होनेपर भी (जड़ाद्वैतियोंके अनुसार) वृत्तिभेदसे अनेक भासित होती है उसी प्रकार द्रष्टृ-सत्ता चेतन और अद्वितीय होनेपर भी वृत्तिभेदसे अनेकरूपोंसे अनुभूत होती है जैसे कर्ता, भोक्ता, प्रमाता। जड़ और चेतनका भेद भी वृत्तिमूलक ही है। सत्तामें दृश्य और द्रष्टाका भेद नहीं है। फिर कहो कि जड़ाद्वैत ही क्यों न मानें? चेतनाद्वैत छोड़ दें! परन्तु क्या आपमें सामर्थ्य है कि आप जड़ रखलें और चेतनको, स्वयं अपने आपको, छोड़ दें? यह चुनौती है। संसारमें कोई ऐसा माईका लाल नहीं है जो अपने आपको छोड़ दे और फिर किसी जड़को रखले! जड़ तो मालूम पड़ता है। यदि मैं नहीं होऊँगा तो मालूम किसको पड़ेगा। प्रत्ययमूलक जड़की जो भेदसत्ता है वह

मिट जायगी। वृत्तिमूलक जो चेतनकी भेदसत्ता है वह भी मिट जायगी। और चेतन ज्योंका-त्यों अखण्ड एकरस ब्रह्मके रूपमें प्रतिष्ठित है।

पञ्चपादिकापर टीका है विवरण और विवरणपर एक टीका है वार्तिक। सुरेश्वराचार्यका वार्तिक इससे भिन्न है। उसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि 'ठीक है, दृश्यसत्ता एक होते हुए भी इन्द्रिय-प्रत्ययके भेदसे अनेकरूप दीखती है। दृश्य इन्द्रिय-गम्य है अतः यह भेद सम्भव है। परन्तु द्रष्टा तो इन्द्रिय-गम्य नहीं है, इन्द्रियाधिष्ठान है, उसमें इन्द्रिय-प्रत्ययके भेदसे भेदकल्पना अशक्य है।'

इसपर कहते हैं कि अशक्य होनेपर भी इन्द्रियाँ अपनी आदतसे लाचार हैं। अतः चेतनमें भेद उपस्थित करनेका प्रयत्न करती हैं। ज्ञानमें अपने दृश्यका न सही अपना ही धर्म उपस्थित करनेका प्रयत्न करती हैं। यह कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता–पना कुछ ऐसा ही है। परन्तु असलमें चेतनमें भेद हो नहीं पाता। मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं ज्ञाता—इन अनुभवोंमें जो एक मैं रूप ज्ञान सब पृथक्-पृथक् प्रत्ययोंमें अनुगत है वह अखण्ड ही बना रहता है।

देश-देशका भेद, काल-कालका भेद, वस्तु-वस्तुका भेद, देश-काल-वस्तुका परस्पर भेद, अहं और इदं प्रत्ययोंका भेद, अहं-अहं प्रत्ययोंका भेद, इदं-इदं प्रत्ययोंका भेद—ये सब भेद एकको (मैं-को) ही मालूम पड़ते हैं। वह मैं अखण्ड अभेद स्वरूप हूँ।

जैसे दिक्तत्त्वमें पूर्व-पश्चिमका भेद कल्पित है, जैसे कालमें घण्टा, मिनट, सेकिंडका भेद कल्पित है, जैसे द्रव्यमें आकार कल्पित है, वैसे ही अखण्ड चेतनसत्तामें प्रतीयमान ये भेद सब कल्पित हैं। मैं, तू, वह, यहका भेद हमारे व्यक्तित्वकी दृष्टिसे है तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। भेद किसी भी दृष्टिसे सिद्ध नहीं होता, न

मिट्टीकी दृष्टिसे, न जलकी दृष्टिसे, न आगकी दृष्टिसे, न वायुकी दृष्टिसे, न आकाशकी दृष्टिसे, न दिक्की दृष्टिसे, न कालकी दृष्टिसे, न जड़-सत्ताकी दृष्टिसे, न प्रत्ययकी दृष्टिसे, न प्रत्ययाभावकी दृष्टिसे, न दृष्टिकी दृष्टिसे, न द्रष्टाकी दृष्टिसे, न ईश्वरकी दृष्टिसे, न मायाकी दृष्टिसे, न प्रकृतिकी दृष्टिसे, न अविद्याकी दृष्टिसे, न जीवकी दृष्टि-से और न दृङ्मात्रकी दृष्टिसे ।❀

जो वस्तु कहीं भी सिद्ध नहीं होती, न युक्तिमें, न विचारमें, न विज्ञानमें और न अनुभवमें, वही वस्तु सिरपर सवार होकर हमको छिन्न-भिन्न संसारी परिच्छिन्न बना रही है। इसीका नाम भूल है, अज्ञान है, अध्यास है। संसारकी जड़ यही है। तत्त्वज्ञानसे यह अज्ञान निवृत्त हो जाता है। फिर द्वैत नामकी कोई चीज नहीं रहती।

अच्छा, जाग्रत्में और स्वप्नमें कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता तीनों भासते हैं और इदंतया भासते हैं। भले हम अध्यारोपसे उसे अहं-तया अनुभव करते हैं। सुषुप्तिमें तीनों नहीं भासते, अनिदंरूप हो जाते हैं। वहाँ हम तो रहते हैं परन्तु कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता नहीं रहते; वहाँ कर्म, भोग और विषयका सम्बन्ध नहीं रहता; वहाँ न ज्ञाता है, न ज्ञान-क्रिया है और न उसका कर्म विषय। वहाँ सविषयक कोई ज्ञान नहीं रहता। भोग भी नहीं रहता, केवल दुःखाभावमें सुखकी भ्रान्ति रहती है और क भी नहीं रहता, अतएव वहाँ न कोई पाप रहता है, न पुण्य, न पापी और न पुण्यात्मा।

❀ भेदके उपपादनकी ये अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। अभेद स्थापनाके लिए इन सभी दृष्टियोंपर अद्वैत वेदान्तमें विचार किया गया है और इनका खण्डन किया गया है। यहाँ केवल विचारको जाग्रत् करनेके लिये इनका संकेत भर किया गया है।

जाग्रत् और स्वप्नमें अहंकारका इदमंश भासता है और सुषुप्तिमें अनिदमंश। अब कहो कि यह अनिदमंश प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न है, क्योंकि प्रत्येक शरीरकी सुषुप्ति अलग-अलग होती है। तो ठीक है, जैसे गौ अनेक होती हैं परन्तु उनमें गोत्व जाति एक होती है अथवा जैसे जंगलमें पेड़ अनेक होते हैं, परन्तु वन-रूपसे वे सब एक हैं, ऐसे ही सुषुप्तिगत अनिदंको अनेक भी कह सकते हैं और जातिरूपसे एक भी। विचारणीय यह है कि अनिदं-में जब भेदका कोई आधार ही अनुभूत नहीं होता, तब अनिदंका भेद कैसे सिद्ध होगा? अनिदंका भेद भी इदंतया (शरीरके भेदके आधारपर) ही सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं। सुषुप्तिमें न भेद-की कल्पना है और न उसके प्रतियोगी अभेदकी। वहाँ तो इदं और अनिदंका प्रकाशक जो स्वयंप्रकाश आत्मा है, वह रहता है। वह आत्मा न इदं है न अनिदं और न इनका मेल अहंप्रत्यय। वह केवल ज्ञान है।

एक मोटा दृष्टान्त लें मिट्टीका। उपनिषद् कहता है कि **'मृत्तिकेत्येव सत्यं'** मिट्टी ही सत्य है। अब चूल्हेकी मिट्टीमें साफ-साफ मिट्टीका व्यवहार होता है, परन्तु घड़े और सकोरेमें जो मिट्टीका एकत्व है वह बालकोंको समझाना पड़ता है। 'पेड़-पौधे भी मिट्टी हैं' यह बात तो कोई समझदार ही समझ सकता है। शायद पेड़को जला डालनेपर अवशिष्ट राखसे यह बात समझमें आ जाये। विचार करो कि चूल्हेकी जो मिट्टी है उसमें चूल्हेका सम्बन्धमात्र है। चूल्हेका कोई कर्तव्य नहीं है जो घड़ेकी मिट्टी है उसमें कर्मके द्वारा आकृति-विशेष (घटाकृति) गढ़ी गई है वह संस्कारविशेष (बीज)से विशेषाकारको प्राप्त हुई है।

अब आप इदं अनिदंको देखें। यह जो देह है इसमें भी अहं रूप मिट्टी होती है। परन्तु देह पेड़-पौधोंको तरह संस्कार

जन्य है और अन्तःकरण साँचा-विशेष है। यह अहं चूल्हेकी मिट्टी अथवा घटकी मिट्टी जैसी मिट्टी नहीं है। चैतन्य अहंमें संस्कार-जन्य यह देह-प्रतीति है। इस देहकी जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं-में इदं भासता है और सुषुप्तिमें अनिदं। परन्तु इदं और अनिदं जिस ज्ञानमें जिस ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं वह स्वयंप्रकाश आत्मा है। वही अहं नामसे बोला जाता है। केवल वही सत्य है।

विचार करो : अपनी जाग्रत् और स्वप्न अवस्थायें और दूसरों-की जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थायें और दूसरापन ये सब इदं है। अपनी सुषुप्ति अनिदं है। इदं और अनिदंका जो प्रकाशक है और अधिष्ठान है वह एक है और वह स्वयंप्रकाश आत्मा मैं हूँ।

कहो, मैं सम्पूर्ण इदंका प्रकाशक हूँ यह तो ठीक है परन्तु मैं सम्पूर्ण इदंका अधिष्ठान कैसे हो सकता हूँ? प्रपञ्चका आदि क्या है, यह मूल प्रश्न है। वैज्ञानिक जब कहते हैं कि २-३ अरब वर्ष पहिले सृष्टि हुई तो आपकी बुद्धि २-३ अरब पहिलेके कालमें प्रवेश करनेका प्रयत्न करती है। परन्तु क्या प्रवेश कर पाती है अथवा कर सकती है? यह तो वर्तमानके निष्कर्षोंपर आधारित अनुमान है जो अनुमानाभास भी हो सकता है, क्योंकि अनुमान जबतक प्रत्यक्ष नहीं होता तबतक वह प्रमाणकोटिमें नहीं आता। जब कबीर या राधास्वामी या कोई भी सम्प्रदायवादी स्थान-विशेष (ऊपर-नीचे, धुरधाम आदि)में आदि सृष्टिकी कल्पना करते हैं वे अनन्तका विचार ही नहीं करते। अनन्तमें ऊपर नीचे कहाँ होता है। बुद्धि अपने उपादान अनादि अनन्त भूतमें प्रवेश नहीं कर सकती। हम कहते हैं आप ऊपर नीचे, आगे पीछे क्यों जाते हैं? आप अपने भीतर ही क्यों नहीं घुसते? यह रूमाल बाहर है, इसके पास आँख है, आँखके पास हृदय है और हृदयमें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका चक्र चलता रहता है। तो इन सारी

कल्पनाओंके होने न होनेके पहिले जिसका होना आवश्यक है उसको आप आदि क्यों नहीं मानते ? वह क्या है ? वह हमारी दृष्टि है, वह हम स्वयं हैं। देश और कालकी कल्पनाका प्रकाशक ही उनका आदि है। जैसे सृष्टिका आदि देश-विशेष या काल-विशेषमें मानते हैं वैसे वस्तुमें सृष्टिका आदि क्यों नहीं मानते ? विचारका यह बमगोला ही है !

कोई कहते हैं सृष्टि विष्णुने बनाई, शिवने बनाई, ब्रह्माने बनाई, गणेशमें बनाई, सूर्यने बनाई, देवीने बनाई। कोई कहते हैं सृष्टि बैलके सींगपर है, कछुआकी पीठ पर है, शेषके फनपर है। आप वहाँ क्यों नहीं पहुँचते, जहाँसे यह सृष्टि भासती है ? आप स्वयंप्रकाश चैतन्य हैं। 'यह'से पहिले 'मैं' रहता है। आप सृष्टिके आदिका तो अनुसंधान करें और प्रपंचसे निवृत्त होकर अपनी ओर न आवें तो क्या मिलेगा। केवल कालमें अथवा केवल देशमें सृष्टि नहीं होती। जिन-जिन वस्तुओंमें सृष्टिका क्रम भास रहा है—यह कारण है, यह कार्य है, यह इदं है और यह अनिदं है—वे जिससे जिसमें भास रहे हैं और जिसके रहते हुए ही नहीं भासते, उस जपने आपमें सृष्टिका अनुसंधान करते हुये क्यों नहीं लौटते ?

जो आदि है वह अनादि है। आदि अनादि दो नहीं हो सकते। वैष्णव लोग तो नित्य पाठ करते ही हैं :

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्

जो सर्वका आदि है वही सर्वकी अपेक्षा अनादि है। जो सर्वके प्रारम्भका प्रकाशक है वही सबके अन्तका भी प्रकाशक है।

सबके प्रारम्भके पूर्व अनिदं रहता है और सबके अन्तके पश्चात् अनिदं रहता है। प्रारम्भ और अन्तके बीचमें इदं रहता

है। इदं और उसका प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका जो प्रकाशक है वह एक ही है और वह तुम स्वयंप्रकाश हो। उसको ढूंढो तो सृष्टिका तत्त्व मिलेगा।

जैसे मिट्टीको पहिचानना होता है वैसे अपना आपा पहिचानना होता है। मृत्तिकारूप यह स्वयंप्रकाश ही सत्य है। इदं और अनिदं रूप समस्त सृष्टि उसमें अध्यस्त है। नाना गुणयुक्त सृष्टि, नाना आकार युक्त सृष्टि, नाना कर्ता भोक्तासे युक्त सृष्टि—यही जाग्रत् है। इनके भाससे युक्त स्वप्न है और इनके अभावसे युक्त सुषुप्ति है। इन तीनोंकी कल्पना उसमें है, जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, अनन्त है और अद्वितीय है। वह कौन है? उसका घूँघट हटाओ। अरे, वह तुम ही हो। जरा अपना घूँघट ही हटाकर देख लो न!

इस अहं—ब्रह्मका सृष्टिसे क्या सम्बन्ध है? क्या व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध? अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध अथवा आश्रित-आश्रय सम्बन्ध? अथवा उपादान-उपादेय सम्बन्ध? वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि यदि रज्जु और रज्जुमें कल्पित सर्पका कोई सम्बन्ध हो सकता है तो ब्रह्म और सृष्टिका भी सम्बन्ध हो सकता है। सारे सम्बन्ध ब्रह्मके अज्ञानमें अज्ञानसे ही कल्पित हैं। जब तक सर्पकी सत्ता सत्य प्रतीत होती है तभी तक कुछ न कुछ सम्बन्धकी बात रहती है। रज्जुके ज्ञात होनेपर सम्बन्धका विकल्प ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि रज्जु अद्वितीय है। •

(४.८)

आत्मा नितान्त अविषय नहीं है अस्मत् प्रत्ययका विषय भी है : ५

(उदासीन आत्मा और क्रिया-भोग-शक्ति)

अहं प्रत्ययमें जो यह चिदात्मा भास रहा है वह कर्म और और कर्मेन्द्रियोंका और भोग और भोगेन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों)के सम्बन्धको लेकर है। इसीसे चिदात्मा कर्ता, भोक्ता प्रतीत होता है। इनमें कर्म और भोग हेतुओंके त्रिक उपस्थित रहते हैं : कर्म, कर्मके करण और कर्मके कारण*; भोग, भोगके करण और भोगके कारण। कारणमें भी दो प्रकारके कारण हैं : उपादान कारण जिसमें प्रकृत्यंश या जड़ांश है तथा निमित्तकारण जिसमें जीवांश अथवा ईश्वरांश अथवा चिन्मिश्रितांश है। ज्ञानकी प्रधानतासे भोग होता है और जड़ांशकी प्रधानतासे कर्म होता है। इस प्रकार क्रियाशक्ति और भोगशक्ति दोनों अन्तःकरणमें रहती हैं, परन्तु आत्मा इन दोनोंसे उदासीन है। कर्म हो, न हो; भोग हो, न हो परन्तु आत्मा दोनों हालतोंमें ज्यों-का-त्यों रहता है। आत्मा उदासीन है।

उद् ऊर्ध्वम् आसीनः उदासीनः।

जो ऊपर बैठा हो वह उदासीन है। पहाड़ पर चढ़ जानेसे जैसे

---

* 'करणानां घनीभावः कारणम्' अर्थात् करणोंके घनीभावका नाम कारण है।

भूमिकी लम्बी और छोटी, चौड़ी और संकीर्ण वस्तुओंका सामान्यीकरण हो जाता है, वैसे ही जो उदासीन है उसके लिए सब विषमतायें सम हो जाती हैं। जब हम उदासीन हो जाते हैं तो जो कर्म, भोग, कर्तापन, भोक्तापन और एक देहके प्रमाण और प्रमेयके व्यवहार जो पहिले बहुत बड़े और महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ते थे वे सब छोटे मालूम पड़ने लगते हैं, महत्त्वहीन हो जाते हैं। कहा भी है :

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यान् शोचतो जनाः।
भूमिष्ठानिव शैलस्थाः सर्वान् प्राज्ञमुपस्थितिः॥

'आत्मा उदासीन है' इसका अर्थ है कि वह क्रियाशक्ति और भोगशक्ति दोनोंसे ऊपर है। यह जो बुद्धि-आदि कार्यकरण-संघात है उसमें क्रियाशक्ति और भोगशक्ति दोनों हैं, उदासीन आत्मा में नहीं हैं। पुनः बुद्धि आदिका संघात चैतन्य नहीं है, चैतन्यका प्रकाश है और इसलिए प्रकाश्य है। तब आत्मा उदासीन है, इसलिए उसमें क्रियाशक्ति और भोगशक्ति नहीं हो सकती और क्रिया-भोग-शक्ति जिस बुद्धि आदिके संघातमें है, वह आत्मा नहीं है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आत्मामें क्रिया-भोग-शक्ति नहीं हो सकती। यह केवल आत्माके द्वारा प्रकाश्य है। व्यवहारमें यह क्रिया-भोग-शक्ति कभी इदंरूपसे भासती है (जैसे जाग्रत् और स्वप्नमें) और कभी अनिदंरूपसे भासती है (जैसे सुषुप्तिमें)।

सुरेश्वराचार्यजी महाराज कहते हैं कि जो अत्यन्त विविक्त है, अर्थात् जो देह और इन्द्रियोंसे पृथक् है, जो देश-काल-वस्तुसे पृथक् है, जो सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे भी पृथक् है, जो सबसे पृथक् है, उससे कुछ पृथक् नहीं होता। उसकी अद्वितीयता समझनेके लिए उसका पृथक्त्व भी समझना पड़ता है। परन्तु उससे कुछ पृथक् हो नहीं सकता। गीतामें **'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्त-**

मेव च।' से व्यष्टि समष्टिकी एकता बतायी गई है। आप व्यष्टि और समष्टि दोनोंसे पृथक् हैं परन्तु आपके स्वरूपमें न व्यष्टि है और न समष्टि। दोनों कल्पित हैं और उस कल्पनाके भावाभावके अनुकूल जो शक्ति है, महामाया, वह अपने स्वरूपमें कल्पित हैं। बस मूल बात इतनी है कि हमारा जो यह अहं हैं वह बुद्ध्यादिके कार्य-कारण-संघातरूपी कुएँमें गिर गया हैं। विवेकरूपी रस्सीसे उसे उस कुएँसे बाहर निकाल लो। फिर उसकी स्वतन्त्रता हैं कि वह किसी प्रकारके व्यवहारका विषय बने, चाहे इदंका चाहे अनिदंका।

यह जो अहंकार हैं वह इदं और अनिदंकी ग्रन्थि हैं और जो स्वयंप्रकाश है वह इस ग्रन्थिका प्रकाशक है और उसकी दृष्टिसे यह ग्रन्थि मिथ्या है। वेदान्तकी प्रवृत्ति अहंकारकी इस मिथ्या-ग्रन्थिको खोलनेके लिए है।

विवरणकारने छः प्रश्न इस अहंकार (अहं प्रत्यय)के सम्बन्ध-में उठाये हैं : १. अहंकारका उपादान क्या है ? २. अहंकारका निमित्त क्या है ? ३.अहंकारका स्वरूप क्या है ? ४. अहङ्कारका कार्य क्या है ? ५. अहंकार सुषुप्तिमें क्यों नहीं भासता ? ६. अहंकारकी निवृत्ति हो सकती है या नहीं, क्योंकि यदि अहंकार सत्य है तो मिट नहीं सकता, किसी भी उपाय से, क्योंकि सभी उपाय अहंकाराश्रित ही होते हैं, और यदि मिथ्या है तो उपाय करना ही व्यर्थ है। विवरणमें इन प्रश्नों पर बड़ा भारी विचार किया गया है।

अब कोई कहे, "बाबाजी, इस विचारमें क्या धरा है। आप कहते हो ज्ञान प्राप्त करनेके बाद आत्मा नित्यमुक्त है यह बात समझमें आयेगी। हम कहते हैं आत्मा तो मुक्त है ही, चाहे ज्ञान

हो या अज्ञान। ज्ञान प्राप्त करनेकी ही क्या जरूरत है? मान लो कि हम मुक्त हैं और हम मुक्त हैं।"

ऐसा कहनेवाले लोग होते हैं। मगर उनकी बातोंमें मत आना। जब तक तुम्हें दुःख, अज्ञान, मृत्युभय, परिच्छिन्नता सताती है तब तक तुमको विचारकी जरूरत है, माननेसे कुछ नहीं होता। मान्यतायें बदलती रहती हैं। आपका बन्धन अविचारसे है और विचारसे ही वह निवृत्त होता है :

अविचारकृतो बन्धः विचारेण निवर्तते।

विचार न कोई धर्मानुष्ठान है, न जप और अभ्यास; यह न शान्ति है, न समाधि। और न तज्जन्य परिपाकसे जन्य कोई चित्तकी अवस्था या स्वर्गरूप या उपास्यकी प्राप्ति रूप ही है यह विचार। यह तो अविचारसे सिद्ध, अपनेमें जो संसारित्व, हीनत्व, विक्षिप्तत्व और परिच्छिन्नत्व—पराधीनत्व प्रतीत होता है उसकी यह एक ही रामबाण ओषधि है। हमारे कर्म, वासना और ज्ञानकी गति जिस दिशामें बह रही है उससे विपरीत दिशामें यह बुद्धिका प्रवाह है। **चाराद् विपरीतः विचारः।** श्रुतिके **वेदाहमेतम्०** तथा 'तमेव विदित्वा०' इत्यादि मंत्र केवल ज्ञानसे उस परमतत्त्वकी उपलब्धिकी बात कहते हैं।

अहंकारसम्बन्धी इन सूक्ष्म प्रश्नोंका अब हम संक्षेपमें समाधान प्रस्तुत करते हैं।

यह जो आत्मा है वह कार्य और कारणके साथ संग्रसित हो गया है। यह तुलसीके पत्तेके समान वेद्य नहीं है। अर्थात् आत्मा न तो जिह्वासे कटुत्वरूपसे वेद्य होता है, न नाकसे सुगन्धत्वेन वेद्य होता है, न नेत्रसे हरितत्वेन वेद्य होता है, न कर्णसे चट-चटशब्दत्वेन वेद्य होता है, न त्वचासे कोमलस्पर्शत्वेन वेद्य

होता है और न बुद्धिसे 'अहं तुलसीपत्रं जानामि' की भाँति वेद्य होता है। इसका अर्थ हुआ कि विषयवत् आत्माको नहीं जाना जाता, अथवा यह कि इन्द्रिय और अन्तःकरण आत्माके सम्बन्धमें अज्ञानान्धकारसे ग्रस्त हैं। यही आत्माका अवेद्यत्व है। परन्तु अवेद्यत्वके साथ ही आत्मा स्वयंप्रकाश भी है। स्वयंप्रकाशके विना तो किसीका भी स्फुरण संभव नहीं हो सकता। इसलिये गीतामें कहा गया कि आत्मा बुद्धि और इन्द्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है और साक्षात् अपरोक्ष होनेसे स्वयं प्रकाशतया ज्ञेय है।

'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।' (१३।१५)
'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।' (१३।१७)

व्यक्तिगत जीवनमें भी आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञेय और अज्ञेय होकर भी ज्ञानस्वरूप है।

आत्माकी जो यह अज्ञातता है वही अहंकारका उपादान है और उसीकी जो ज्ञातता है (स्वयंप्रकाशतया) वह अहंकारका निमित्त कारण है। इदं और अनिदंकी ग्रन्थि ही अहंकारका स्वरूप है और 'अहमिदं ममेदं भाव' (यह मैं हूँ और यह मेरा है, भाव) उसका कार्य है।

अहंकार सुषुप्तिमें क्यों नहीं भासता, इसका उत्तर यह है कि अहंकारके अवयव असलमें अन्तःकरणके ही अवयव हैं, वे ब्रह्मरूप नहीं हैं। अन्तःकरण सुषुप्तिमें सो जाता है, परन्तु पूरा सूक्ष्म शरीर वहाँ नहीं सोता। वहाँ क्रियाशक्तिरूप अहंकार जागता रहता है और विज्ञानशक्तिरूप अहंकार सो जाता है। मानो अहंकारके भी दो भेद हैं: एक क्रियाशक्तिप्रधान और एक ज्ञानप्रधान। क्रियाशक्तिप्रधान अहंकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-

समाधि अवस्थाओंमें कर्मेन्द्रियों तथा शरीरके भीतरी अंगोंकी क्रियाके लिए उत्तरदायी रहता है और ज्ञानप्रधान अहंकार ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धिका संचालन करता है। सुषुप्तिमें विज्ञान-शक्तिरूप अहंकारके सो जानेपर भी क्रियाशक्तिप्रधानरूप अहंकार प्राणशक्तिका नियमन करके शरीरको जीवित रखता है। यही कारण है कि सुषुप्तिमें कुछ अनुभव न होनेपर भी शरीर जीवित रहता है।

यह अहंकार निवर्त्य है या नहीं, इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि यह निवर्त्य है। यह अहंकार ही पापी या पुण्यात्मा बनाता है। देहमें अहंकार होनेसे इसने आपको जड़ बना दिया है। इसने जब चित् और आनन्दसे पृथक् करके सत्ताको देखा तो वह जड़के रूपमें भासने लगी और जब उसने उस जड़के साथ तादात्म्य किया तो वह स्वयं जड़रूप हो गया। जब इसने सत्ता और आनन्दसे पृथक् करके चेतनताको देखा तब वह स्वयं जड़-रूप हो गया। जब इसने सत्ता और आनन्दसे पृथक् करके चेत-नताको देखा वह स्वयं वृत्तिरूप हो गया। (वृत्ति ज्ञान है परन्तु क्षणिक है)। यह जो अहंकार है वह केवल सत्ताकी प्रधानतासे जड़रूप भासता है और कर्मका कर्ता बनता हैं। जब सत्ता और परमप्रिय आनन्दसे बिछुड़कर ज्ञानकी प्रधानतासे केवल वृत्ति-रूप भासता है तो वह वासनाविमूढ़ होकर भोगकी कल्पना करता है। और जब भोगवासना और कर्मवासनासे विनिर्मुक्त होकर शुद्धवृत्तिमें भासता है तो वहाँ केवल उपलब्धिरूप, अनुभव-रूप होता है। तथा यह जो खण्डितरूप है वह व्यक्तिशः खण्डित-रूप नहीं है अखण्ड है। इस बोधसे अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है और अहंकारकी ग्रन्थिका भेदन हो जाता है।

जरा उस आनन्दकी कल्पना तो कीजिये जिसमें विषयता

न हो, वासना न हो, जड़ता न हो और अपने आपमें सत्ताकी परिच्छिन्नता न हो ! इस कल्पनामें ही कितना आनन्द है फिर असली आनन्दोपलब्धिमें तो कहना ही क्या !

जड़ताकी प्रधानतासे विषयकी उपलब्धि होती है और वासनाकी प्रधानतासे भोगकी; शुद्ध बुद्धिकी प्रधानतासे उपलब्धि-मात्रकी और महावाक्यकी प्रधानतासे उस उपलब्धिमात्रकी अखण्डताका बोध होता है। इसका अर्थ है कि अहं स्वरूपसे अखण्ड, बुद्धिके रूपसे अनुभवरूप, वासनाके सम्बन्धसे भोक्ता, करणके सम्बन्धसे कर्ता और द्रव्यके सम्बन्धसे मूढ़ होता है।

यह अहंकार कहाँसे आया ? शिवमहिम्नस्तोत्रमें कहा गया है :

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥

'किस इच्छाकी पूर्तिके लिये, किस शरीरसे, किस उपाय, आधार और उपादानसे उस रचना करनेवालेने इन तीनों लोकोंकी रचना की ? आपका तर्कातीत ऐश्वर्य इन कुतर्कोंसे परे है। जगत्‌को मोहित करनेके लिये कुछ हतबुद्धि लोक ही इस प्रकार वाक्‌पटुताका प्रदर्शन करते हैं।'

वास्तवमें यह अहंकार कहाँसे आया, इसका प्रश्न ही नहीं उठता। आत्माकी स्वयंप्रकाशताके अज्ञानसे ही यह अहं अहंकार-तया भासता है।

विचारसे वस्तु न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। पूर्व-विद्यमान वस्तु जो अविचारसे असिद्धवत् भास रही है वही विचारसे प्रकाशित होती है। अहंकारके निमित्त-उपादानके

विचारका फल उसमें आत्माके अन्यथाभासका निरसन करना मात्र है। जैसे हम ईश्वरका विचार करते हैं वैसे ही अपने 'अहं'का भी विचार करना पड़ता है। जो 'तत्' है वही 'त्वं' है।

देहमें विमूढ़ चैतन्य (तमोगुणी अहंकार), वासनायुक्त बुद्धिमें व्यक्त चैतन्य (रजोगुणी अहंकार), शुद्ध-बुद्धिमें व्यक्त चैतन्य (सत्त्वगुणी अहंकार) तथा शुद्ध चैतन्य—यह अहंके विचारका तारतम्य है। व्यष्टि उपाधि और समष्टि उपाधिके भेदसे इसीमें क्रमशः 'त्वं' पदार्थ और 'तत्' पदार्थका विवेक होता है और शुद्ध-चैतन्यमें दोनोंकी एकता सिद्ध होती है।

अहं-ममभाव, अर्थात् 'यह मैं और यह मेरा' यही अहंकारका कार्य है। यही आपको बहुत दुःख दे रहा है और मजा यह है कि झूठा ही दुःख दे रहा है।

कोई रोता था कि हमारा छाता खो गया। पूछा 'कब लिया था ?' बोला 'कल ही लिया था, नया लिया था।' पूछा 'कहाँसे लिया, कितनेमें लिया ? तो बोला, 'वह तो मैंने चोरी करके लिया था' !

बस ऐसी ही दशा है संसारमें उन रोनेवालोंकी जो मैं मेरेकेलिए रोते हैं। वस्तु अपनी नहीं, चोरीसे उसपर अधिकार करते हैं और फिर उसमें मैं-मेरा भाव करके उसके संयोग-वियोगमें हँसते-रोते हैं। अरे भाई, माल पराया, माल नकली और फिर जानेवाला, फिर यह मैं-मेरा किसलिए ? यह सब अध्यासजन्य है। इस अध्यासको जितना शीघ्र दूर कर दो उतना ही अच्छा है। परन्तु यह न भूत-भैरवके सामने हाथ जोड़नेसे दूर होगा और न नाक दबानेसे। चेला बननेसे भी दूर नहीं होगा। दूसरेकी समझसे भी दूर नहीं होगा। दूर करनेकी वासनासे भी दूर नहीं होगा।

इसके लिए यथार्थं समझदारी चाहिये और आपकी अपनी समझदारी चाहिये। आप स्वयं तत्त्व हैं, आप स्वयं बुद्ध हैं :

स्वयं च तत्त्वम् स्वयमेव बुद्धम्।

भामतीकार कहते हैं : चिदात्मैव कार्यकरणसंघातेन ग्रथितो लब्धक्रियाभोगशक्तिः। संघात कहते हैं संहननको; कई चीजोंको कूटकर उनका बनाया हुआ मिश्रण। यह शरीर भी हड्डी-चाम-माँस-भेद-मज्जा इत्यादि धातुओंको कूटपीट कर बनाया गया है। अब जो चीज कई चीजोंके मेलसे बनती है वह दूसरोंके लिए होती है अपने लिए नहीं :

संघातस्य परार्थत्वात्।

जैसे मोटर कल पुर्जोंको जोड़कर मालिकके लिए बनायी जाती है, ऐसे ही कई पुर्जोंसे बना यह शरीर, कई वृत्तियोंसे बना यह अन्तःकरण, कई संस्कारोंसे बना यह भोग, सब इनके अपने लिए नहीं किसी दूसरेके लिए हैं, चैतन्यके लिए हैं। संघात चैतन्य नहीं होता, वह विकार होता है, जड़ होता है, दृश्य होता है, अन्तमें फिर विश्रृङ्खलित होनेवाला होता है। जड़ होनेसे यह अपने लिए नहीं चेतनके लिए होता है।

कर्मका किराया चुकाकर आपको जो यह संघातरूप शरीरकी सवारी मिली है उसपर चढ़नेवाले आप चेतन इससे बिलकुल न्यारे हो। यह शरीर तो चलता-फिरता होटल है। जितना पैसा जमा करके आये हो उतने दिन इसमें रहकर यह छूट जायेगा। यह तुम्हारा अपना नहीं है। होटलसे चलते समय बच्चे रोते हैं कि 'हम तो यहीं रहेंगे।' परन्तु उन्हें यह पता नहीं रहता कि वह तो किराये पर है। बड़ा होने पर पता चलता है। यह जो शरीर है इसमें देह ही नहीं मन, बुद्धि, अन्तःकरण, सब किराये पर है। इसी किराये पर लिये हुये संघातमें मैं-मेरा भाव हो गया

है : जैसे यह मेरा शरीर है, यह शरीर मैं हूँ। यह जो क्रिया-भोग-शक्ति है वह इसी संघातकी है, इसी होटलकी है। होटलमें रहो, उसके वैभवका उपयोग करो सो तो ठीक है, परन्तु यदि वहाँकी सामग्रीमें अहं-मम भाव करो कि जब चलेंगे तो ले चलेंगे, यह ठीक नहीं। यह ठीक भी नहीं है और संभव भी नहीं है।

एक बड़ी शर्मनाक परन्तु सच्ची घटना सुनाता हूँ। एक विदेशमें हमारे भारतीय राजनयिकोंका एक दल सरकारी कामसे गया। वहाँ विदेशी सरकारने उनको बहुत अच्छे होटलमें ठहराया, बड़ी आवभगत की। उस होटलके दरवाजोंके पर्दे बहुत सुन्दर थे। जब दल वापस स्वदेश लौटने लगा तो कुछ लोगोंने होटलके पर्दे चुराकर अपने लगेजमें बाँध लिये। चलते समय इस बातका पता लग गया और वे पर्दे उन्हें शर्मिन्दा होकर वापस लौटाने पड़े।

ऐसा मत समझना कि ज्यादा पढ़ने लिखनेसे हृदय शुद्ध हो जाता है। शुद्धके चिन्तनसे हृदय शुद्ध होता है। शुद्ध विचारसे भ्रान्तियाँ दूर होंगी, उससे दुर्वासना दूर होगी और फिर उससे दुष्कर्म छूटेंगे। यह विचारकोंका, ज्ञानमार्गियोंका सिद्धान्त है। धर्मात्मा कहते है कि पहिले दुष्कर्म छोड़ो, तब वासना छूटेगी और फिर बुद्धि शुद्ध होगी। उपासक कहते हैं कि पहिले वासना छोड़ो, तब उससे एक तरफ कर्म शुद्ध हो जायेगा और दूसरी ओर बुद्धि शुद्ध हो जायेगी। तीनोंका निष्कर्ष यह है कि कर्म, वासना और बुद्धिके शुद्ध हुये बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता।

अच्छा, यह देहके साथ जो मैं-मेरा है उसकी जाँच आप कहाँ करते हो? जो जाँच आप कर रहे हैं वह गलत है।

लोग पूछते हैं : 'महाराज, यह सृष्टि कब बनी? किससे बनी? कहाँ बनी? किसने बनाई? कैसे बनाई?' हम उत्तरमें

उनसे पूछते हैं 'भाई, इतनी बात तो तुमने स्वयं मानली है कि सृष्टि है, सृष्टि कभी कहीं किसीसे बनी होनी चाहिए, किसीने किसी प्रकार बनायी होनी चाहिए और फिर हमसे सृष्टिके बारेमें पूछते हो ! यदि हमसे पूछना है तो पहले यह पूछो कि 'महाराज, सृष्टि है या नहीं ?' यदि कहो कि सृष्टि तो साफ ही नजर आती है, उसमें पूछना ही क्या, तो तुम जहाँ बैठे हो वह सृष्टि है या नहीं ? कोनेमें तो बैठा रहना चाहते हो और सृष्टिकी उत्पत्तिका रहस्य जानना चाहते हो ? अपनी देहकी उत्पत्ति तो देखी नहीं जा सकती और सारी सृष्टिकी उत्पत्ति-अवस्थामें प्रवेश करना चाहते हो ! सृष्टिका आदि काल, आदि देश, आदि द्रव्य, आदि कर्ता और आदि प्रक्रिया क्या सृष्टि नहीं हैं ? देहमें 'मैं' करके बैठे रहना चाहते हैं और वहीं बैठकर सृष्टिके आदिका पता लगाने चलते हैं ! पहले अपनी परिशुद्धि करो ! पता लगाओ कि कहाँ बैठकर आप अनन्तको देख सकेंगे, त्रिकालाबाधितको देख सकेंगे, सत्यको, परिपूर्णको देख सकेंगे ! आप देहमें मैं करेंगे और देखेंगे परिपूर्णको, आप देहको मैं मानेंगे और देखेंगे अकालको, अनन्तको, स्वयंप्रकाशको ?

इस देहमें जो मैं है जब इसको काटोगे तो देखोगे कि जिस अनन्त, अकाल, स्वयंप्रकाशको तुम देखना चाहते हो वह तुम स्वयं ही हो ! यह आत्मविद्या बड़ी विलक्षण है।

यह जो अहं-अहं हो रहा है, जिस देशमें, जिस कालमें और जिस रूपमें यह जो अहं-अहं फुर रहा है, उसी देशमें, उसी कालमें और उसी रूपमें वहाँ स्वयंप्रकाश है या नहीं ? जरा पता लगाओ, अनुसंधान करो। यह जो करोड़ों-अरबों, अनन्त मैं-मैं फुर रहे हैं उनमें एक अखण्ड 'मैं' है या नहीं ? हजारों बाध्यमान मैं को जो एक मैं देख रहा है वह अबाध्यमान है। एक 'मैं' जो कटता

जाता है और एक मैं जो मैं के कटनेको देखता रहता है। जो मैं कटनेको देखता है वह अखण्ड है, चेतन है, साक्षी है और अधिष्ठान है। पापी मैं, पुण्यात्मा मैं, आने जाने वाला मैं, सुखी दुःखी मैं, काला-गोरा मैं, ब्राह्मण-मनुष्य मैं, जीव मैं—ये सब कटनेवाले मैं हैं। इनको जो देखता है वह चिदात्मा है।

यह चिदात्मा अखण्ड है। परन्तु केवल अविचारसे यह खण्ड-खण्ड मान लिया गया है। विचार करनेसे यह भ्रम निवृत्त हो जाता है और एक बार निवृत्त होने पर फिर यह लौटता नहीं है।

महात्मा कहते हैं 'ऐसे, चुटकी बजाकर, यह भ्रम निवृत्त हो जाता है। इतना सरल भी है यह ब्रह्मज्ञान! फिर गलती कहाँपर है?

हम कोई १६-१७ सालकी उम्रमें एक महात्माके पास गये। उस उम्रमें भी हम पंडित ही थे। महात्मासे बात चीत हुयी ब्रह्म-ज्ञानके सम्बन्धमें। महात्माने कहा, "देखो पंडितजी, अगर तुम्हारे मनमें संसार-बंसारको भोगने-भागनेकी इच्छा हो तो जाओ भोग-भाग आओ। रहो संसार-बन्धनसे छूटने-छुड़ानेकी बात तो वह तो चुटकी बजावेंगे और छूट जायेगी। मिथ्या सर्पकी निवृत्तिमें क्या देर लगती है!"

(४. ६)

आत्मा नितान्त अविषय नहीं है अस्मत् प्रत्ययका विषय भी है : ६

(आत्मा से ही सब सिद्ध होता है)

इस बात पर विचार करें कि कौन-सी वस्तु आती जाती रहती है और कौनसी वस्तु लगातार हमेशा बनी रहती है ? अर्थात् विचार का विषय यह है कि सातत्य और आगमापायित्व किस अनुभूति में है और क्यों है ?

जब हम घड़ेको जानते हैं तो क्या बात होती है ?—घड़ा सामने आने पर घड़ेका ज्ञान उत्पन्न होता है या कि ज्ञान पहलेसे विद्यमान रहता है और घड़ा सामने आते ही घड़ेका ज्ञान हो जाता है ? यही जिज्ञासा प्रत्येक विषयके ज्ञानके सम्बन्धमें है। अर्थात् जो कुछ भी मालूम पड़ता है वह उसके होने पर मालूम है या कि उसके न होनेपर भी मालूम पड़ता है ? दूसरे शब्दोंमें 'क्या बात ठीक है ?—दृश्यके होने पर दृश्य मालूम पड़ता है या कि न होने पर मालूम पड़ता है ?'

'मैंने घटको जान लिया, मैंने पटको जान लिया, मैंने मठको जान लिया'—यह सविषयक ज्ञानका रूप है। इन ज्ञानोंमें बुद्धि विशिष्ट-विशिष्ट आकारोंको जैसे घट, पट, मठको ग्रहण करती

रहती है। प्रश्न यह है कि क्या इन विशिष्ट आकारोंसे बुद्धि निष्पन्न होती है या कि बुद्धि पहले से ही रहती है और उसीमें विशिष्ट-विशिष्ट आकार बनते हैं? जैसे हवाके धक्केसे लहर उत्पन्न होती है तो क्या लहरें होनेसे जल होता है या कि जल पहलेसे रहता है और उसमें लहरें उत्पन्न होती रहती हैं? यह ज्ञानमें जो विशेष-विशेष लहरें उत्पन्न होती हैं—घटाकाशकी, मठाकाशकी, महाकाशकी इत्यादि, तो इनमें क्या ज्ञान विकारी है? क्या ज्ञान अवकाशवाला है अथवा क्या ज्ञान कालिक है?

यह तो साफ मालूम पड़ता है कि हमको ही सब विशेष ज्ञान होते हैं—यह-वह वस्तुका ज्ञान, यहाँ-वहाँ देशका ज्ञान, आज-कल कालका ज्ञान। परन्तु क्या काल ज्ञानको उत्पन्न करता है या ज्ञान कालको देखता है? क्या पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर देश ज्ञानको उत्पन्न करता है या ज्ञान देशको देखता है? क्या ज्ञान पहिले होता है और उसमें देश दीखता है या देश पहिले होता है और उसका ज्ञान होता है! क्या देशज्ञानके मिट जानेपर ज्ञान भी मिट जाता है? यही प्रश्न काल और वस्तुके सम्बन्धमें भी है।

ज्ञानकी तरंगका नाम प्रत्यय है। विशिष्ट ज्ञान प्रत्ययरूप ही होता है। प्रत्ययका जन्म होता है और मरण हो जाता है। ज्ञान एक अनन्त महासमुद्र है। उसमें अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान-मूलक पूर्व-पूर्व विषय-संस्कारोंके निमित्तसे तरह-तरहकी प्रत्यय-रूप तरंगें उठती रहती हैं, उसीमें खेलती हैं और अस्त हो जाती हैं।

मयि अनन्तमहाम्भोधौ अनन्ता विश्ववीचयः।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वाज्ञानतः॥

प्रत्यय आते हैं और जाते हैं, किन्तु जिस ज्ञान-समुद्रकी ये तरंगे

हैं वह अविराम बना रहता है। यह अखण्ड ज्ञान ही निर्विशेष आत्मा है।

यह जो ज्ञानात्मा है वह कैसा है, इस विषयमें तैत्तिरीय श्रुति कहती है :

अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते।

(तैत्तिरीय० २.७)

यह आत्मा अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलय और अभय है। 'अदृश्ये' कहकर आत्माको प्रत्यक्ष विषयसे विलक्षण बताया। 'अनात्म्ये' कहकर विषयके भीतर कोई आत्मा है इसका खण्डन किया। आत्मा न विषयके भीतर है न बाहर। आत्माके बाहर भीतर कुछ नहीं होता। यह तो बाहर-भीतरका प्रकाशक है।

अच्छा जो आत्मा न भीतर है न बाहर, वह परोक्ष होगा! तो कहा 'अनिरुक्ते', अर्थात् कथनका भी विषय नहीं है तो परोक्ष ही कैसे कह सकते हैं? 'अनिरुक्ते' कहनेके साथ ही 'अनिलयने' भी कहा, अर्थात् यद्यपि आत्मा बाहर-भीतरके भावाभावसे उपलक्षित अवाङ्मनसगोचर अनिर्वचनीय है तथापि अज्ञात नहीं है। वह अपने आश्रयके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता। 'अनिलयने' अर्थात् आश्रयकी अपेक्षासे रहित। अभिप्राय यह कि आत्मा अपरोक्ष है। आत्मा सत्य है या असत्य? ऐसे प्रश्न सदैव दूसरेके बारेमें ही उठते हैं; अपने बारेमें नहीं उठ सकते, क्योंकि जिस वृत्तिमें, जिस प्रत्ययमें, यह प्रश्न उठ रहा है उसके साक्षीके रूपमें आप स्वयं-सिद्ध हैं। 'मैं हूँ' यह स्वयं-सिद्धि मानकर ही सारे प्रश्नोत्तर होते हैं।

नहि कश्चित् संदिग्धे अहमस्मि वा नास्मि वा।

'मैं हूँ या नहीं' यह प्रश्न ही नहीं उठता। अपने होनेमें कभी

संदेह ही नहीं होता। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कभी अनुभव भी नहीं हो सकता।

नहि कश्चित् प्रतीयात् नाहमस्मीति।

'यह नहीं है' ऐसा तो अनुभव हो सकता है परन्तु 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव नहीं हो सकता।

'मैं हूँ' इस अनुभवके बाद 'यह घट है' ऐसा अनुभव होता है। परन्तु 'क्योंकि यह घट है और मैं घटको देख रहा हूँ, इसलिये मैं हूँ' यह यथार्थ मीमांसा नहीं है। हमसे घटकी सिद्धि हो रही है, घटसे हमारी सिद्धि नहीं हो रही है।

यह जो घट, पट, मठ इत्यादिकी विशिष्ट बुद्धियाँ हो रही हैं, मालूम पड़ रही हैं, वे मालूम पड़ती है और मिट जाती है, बदल जाती हैं। फिर शेष कौन रहता है? वह ज्ञान शेष रहता है जिसने इन विशिष्टताओंके भाव, परिवर्तन और अभाव सबको देखा। घटको और घटाकार वृत्तिको, फिर पटको और पटाकार वृत्तिको जिसने देखा अर्थात् विषय और प्रत्यय दोनोंको जिसने देखा वह शेष रहता है।

'अदृश्ये'से आत्मा घटवत् प्रत्यक्ष नहीं है। 'अनात्म्ये'से आत्मा दूसरा नहीं है। 'अनिरुक्ते'से आत्मा निर्वचनीय नहीं है। और 'अनिलयने'से आत्माका कोई कारण नहीं है, क्योंकि जिसका लय नहीं होता उसका कोई कारण भी नहीं होता।

कार्यका ही कारणमें लय होता है और कारणका ही कार्यमें उदय होता है। कार्य उत्पत्ति-विनाशशील होता है और कारण विकारी-परिवर्तनशील होता है। जो आत्मा विकार और विकारीका साक्षी है, जो आत्मा बदलते हुये विषयों और प्रत्ययों-का साक्षी है वह विषय या विषयानुभूतिसे उत्पन्न ज्ञान नहीं है अपितु दोनोंका अधिष्ठान है, अपरोक्ष है और अपना आपा है।

ऐसा कहना गलत है कि यदि विशेषणका दर्शन न हो तो आत्मा सत्य नहीं है।

वृत्ति-ज्ञान और स्वरूप-ज्ञानमें क्या अन्तर है ? आपने किताब देखी और वह मनमें बैठ गई। पुस्तकाकार वृत्ति पहिले नहीं थी (उसका प्रागभाव है), पीछे नहीं रहेगी (प्रध्वंसाभाव है), अन्य वृत्तियोंसे भिन्न है (अन्योन्याभाव है।, जहाँ उठ रही है वहाँ न पुस्तक है और न पुस्तकका आकार (अत्यन्ताभाव है) और यह अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें ही प्रतीत हो रही है (मिथ्या है)। इसलिये वृत्ति सविषया है, साश्रया है, अनेकरूपा है, नाशवती है और मिथ्या है। अतः स्वरूपज्ञानमें इस वृत्ति-ज्ञानका कोई महत्त्व नहीं है।

अब देखिये इसी वृत्ति ज्ञानके साथ आप अपनेको जोड़ते हैं या नहीं ? मुख्य चोट यह है कि जैसे एक बार घट मालूम पड़ता है और एक बार पट, वैसे ही यह एक बार सुख और एक बार दुःख मालूम पड़ता है। यह सुख-दुःखकी वृत्ति कटने-पिटनेवाली है, परिच्छिन्न है। इसका प्रागभाग, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव होता है, अतः मिथ्या है। परन्तु मानते तो सब इसीको है! अभी आप सुखी हैं (सुख वृत्तिके साथ एक हैं)। थोड़ी देर बाद दुःखी हो जायेंगे (दुःख वृत्तिके साथ एक हो जायेंगे)। आप विचारो आप ये दोनों हैं या दोनोंसे न्यारे ? सुखीभाव और दुःखीभाव दोनों अध्यास हैं।

किसीने कहा 'हम दुःखी हैं'। महात्माने कहा, 'अच्छा इसी समय अपनी वृत्तिको आजसे छः मास आगे ले जाओ। दुःख चला जायेगा।' यह भी एक अध्यास ही है।

विचार यह करो कि आप तो वही हैं जो कल दुःखी था

और आज सुखी है। फिर आप सुखी दुःखी कहाँ? केवल अध्याससे ऐसा मालूम पड़ता है।

विचार करो: 'मैं पापी हूँ' यह वृत्ति आगन्तुक है या स्वाभाविक? आप हिन्दू हैं और गो-वध करते हैं तो पापी हैं, परन्तु यदि मुसलमान होते तो क्या पापी होते? पापी-पुण्यात्मा-पना सब संस्कारोंसे होता है। पूर्व-पूर्व संस्कारोंसे जो सुख-दुःख होता है वह तज्जन्य वासनाके अनुसार अभिमान होनेसे होता है।

यह पापी-पुण्यात्मा सुषुप्तिमें कहाँ चला गया? इसका अर्थ है कि यह प्रत्ययरूप है। यदि कहो कि सुषुप्ति भी वृत्तिरूप है, अभाव वृत्तिरूप है, तो जैसे 'मैं पापी, मैं पुण्यात्मा' वृत्ति आई और गई वैसे ही 'मैं सुषुप्त हुआ' यह वृत्ति आई और चली गयी।

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः (पंचदशी १.५)

जब सोकर उठते हैं तो कहते हैं कि हमें इतनी देर तक कुछ मालूम नहीं पड़ा। इसका अर्थ है कि हमको 'जो मालूम न पड़ना' आया था वह चला गया। इसलिये 'मैं सोया' यह अनुभव गलत है। जो सोया था वह सुषुप्तिका स्मरण नहीं कर सकता और जो स्मरण कर रहा है वह सोया नहीं था। इसका नाम अध्यास है।

जाग्रत्-अवस्थामें सब भासता है, व्यावहारिक रूपसे। स्वप्न-वस्थामें सब भासता है, मानसिक रूपसे। एक सुषुप्ति है जिसमें कुछ नहीं भासता—न व्यावहारिक और न मानसिक। यह सुषुप्ति-अवस्था आपको ही मालूम पड़ती है या कोई आपको, जब आप सुषुप्तिमें थे, समझा गया था? अर्थात् आपकी सुषुप्तिका अनुभव तो किया दूसरेने और आपको बता दिया गया। ऐसा नहीं होता। आप स्वयं ही कहते हैं 'मैं सोया था' किसीके कहनेसे नहीं कहते!

भले मानुस ! यह बढ़िया अवस्था तुमने स्वयं देखी। वह कैवल्य तो नहीं थी, परन्तु उस जैसी तो थी ही। 'कुछ नहीं दीख रहा था', यह कैसे मालूम पड़ा ? मैं खुद ही अभावको देख रहा था। प्रज्ञाका घनीभाव देखा, बीजावस्था देखी। वहाँ न विषय था और न अभिमानरूप वृत्तियाँ। जाग्रत्में वृत्ति और विषय दोनों रहते हैं। स्वप्नमें वृत्ति ही विषय बनती है। और सुषुप्तिमें वृत्ति और विषय दोनों नहीं रहते। दोनोंका न होना कौन देखता है ? सावधान ! आप सुषुप्तिमें सोये नहीं थे। आप बिलकुल जाग रहे थे। आप अलुप्तदृक्, अलुप्तबोध थे।

नहि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्

उस समय तुम्हारी दृष्टिका लोप नहीं हुआ था। उस समय तुम्हारी दृष्टिसे जाग्रत् और स्वप्नकी वस्तुओंका घनीभाव दिख रहा था। जब वे वृत्तियाँ जग गईं तो कहते हो 'मैं सो गया था।' सोई थीं वृत्तियाँ और जागते थे तुम। परन्तु जागकर अहम् और वृत्तियोंका विवेक लुप्त हो गया। 'मैं' और वृत्तियोंके अविवेक जन्य मिश्रण हुए बिना सुषुप्तिका स्मरण नहीं हो सकता।

अलुप्त बोधात्मा था अपना स्वरूप। वहाँ सुषुप्तिमें देवता, इष्ट, उपास्य, वेद सब सो गये थे :

तत्र माता अमाता भवति, तत्र पिता अपिता भवति, तत्र देवा अदेवा भवन्ति, तत्र वेदा अवेदा भवन्ति।

परन्तु वहाँ जागता था केवल आत्मा। जागकर बोलते हो 'मैं सो गया था' ? यह तो वदतो व्याघात हुआ ! परन्तु जैसे मोहके कारण कोई अपनी पत्नीकी मृत्युको अपनी मृत्यु मान बैठता है वैसे ही वृत्तियोंके साथ मोहजन्य तादात्म्यके कारण यह 'अहं' वृत्तियोंके सो जाने पर अपनेको सोया हुआ मान लेता है। और

वृत्तियाँ आत्माके अनुभवको अपने ऊपर ले लेती हैं। यही अन्योन्याध्यास है।

जितना भी यह प्रत्यय होता है कि मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, एक कालमें होता है दूसरे कालमें बदल जाता है, तीसरे कालमें बिलकुल नहीं होता। इसलिये ये प्रत्यय मिथ्या हैं। फिर, एक कर्म करनेसे 'मैं पापी' प्रत्यय होता है और गोदानादि प्रायश्चित्त कर्म करनेसे 'मैं निष्पाप हूँ' यह प्रत्यय होता है। अतः उक्त दोनों प्रत्यय अध्यारोप हैं 'मैं' पर, और मैं पाप-निष्पाप दोनोंसे विनिर्मुक्त हैं।

उपासनामें ईश्वरके सामने अपनेको पापी कहनेका एक अलग रहस्य है।

वृन्दावनमें एक दिन मैं बिहारीजीके दर्शन करने गया। वहाँ एक आदमी श्लोक बोल रहा था:—

पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसंभवः।
पाहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहरो हरिः॥

इस श्लोकका अर्थ है: 'मैं पाप हूँ, पाप कर्म करने वाला हूँ, पापात्मा हूँ और पापसे उत्पन्न हुआ हूँ। हे सब पापोंके हरण करनेवाले पुण्डरीकाक्ष हरि मेरी रक्षा कीजिये।'

साथके एक सज्जनने तुरन्त हमें टहोका: 'यह भी कोई सनातन धर्म है! पापी, पापी, पापी! पापी कहते-कहते पापी ही हो जायेंगे।' मैंने कहा 'दर्शन कर लो, इसका उत्तर फिर बताउँगा'।

बादमें मैंने बताया कि बिहारीजीके सामने पापोऽहं इत्यादि उच्चारण करनेके बाद जो वृत्ति उदय होगी उस फल-वृत्तिका वर्णन यदि करो तो क्या होगी? इसका फल होगा—निष्पापोऽहं

इत्याकारक फलवृत्ति। पाप करनेके वाद 'पापोऽहं' वृत्ति उदय होती है परन्तु 'सर्वपापहरो हरिः' विहारीजीके सामने 'पापोऽहं' उच्चारण करनेकी फल-वृत्ति होती है 'निष्पापोऽहं'। इसका नाम सनातन धर्म है।

यहाँ वृत्तिकी जो क्रिया होगी उस पर ध्यान दो। क्या वह निष्पाप हो गया? असलमें वह पापी हुआ नहीं था और निष्पाप भी नहीं हुआ। पहिले पापका अध्यारोप अपने ऊपर कर लिया था, अव उसका अपवाद हो गया। वह स्वयं तो ज्योंका-त्यों ही रहा। वेदान्त ज्यों-के-त्यों रहनेवाले आत्माका बोध कराता है, वह किसी भी अंशमें धर्म, उपासना और योगके साधनका खण्डन नहीं करता।

अब देखो, वह जो बिहारीजीके सामने पापोऽहं कहके निष्पाप हो गया वह हमेशाके लिये नहीं हुआ। क्योंकि उसकी आस्था न निष्पापस्वरूप आत्मामें है और न 'सर्वपापहरो हरिः' विहारीजीकी नित्य तथा अहेतुक करुणामें है। उसकी आस्था तो कर्ममें है। कर्मसे ही पापी हुआ था और पापोऽहं उच्चारणरूप कर्मसे ही निष्पाप हुआ। आगे फिर पाप-कर्म होगा तो फिर 'मैं पापी' प्रत्यय उत्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार सारा ही जीवन अध्यारोप—अपवादमें बीतेगा।

सदैवके लिए निष्पाप होनेके लिये उसे इस बात पर विचार करना चाहिए कि 'पापोऽहं', दोनों अभिमानोंमें निमित्त वृत्ति, काल, अभिमानका भेद होनेपर भी वह एक 'मैं' कौन है? वह न पापी है, न निष्पापी। जब पापसे मिला तो पापी और जब निष्पापसे मिला तो निष्पापी। जब दोनोंसे अलग तो द्रष्टा और जब उसका ब्रह्मत्व समझमें आया तो पापीपनेकी सदैवके लिए निवृत्ति।

'मैं सुखी हूँ' यह आत्मा 'मैं'की चमचमाती साड़ी है और 'मैं दुःखी हूँ' यह उसकी मातमपुरसी की काली पोशाक है। परन्तु 'मैं' इन साड़ी और पोशाकमेंसे कोई नहीं है। आप जब सुखीके घर जाते हैं तब सुखी होते हैं और जब दुःखीके घर जाते हैं तो दुःखी होते हैं। ये दोनों अध्यास हैं।

आप कह दो मनसे 'अरे मन, तू चाहे हँस या रो, हम तेरे साथ नहीं हैं।' परन्तु हम कह नहीं सकते, क्योंकि हम हँसाने-रुलानेवाले निमित्तोंको सच्चा मानते हैं। लेकिन क्या ये निमित्त सच्चे रहते हैं? हमारे देखते-देखते ही इनकी सच्चाईकी और इनकी अत्यन्त उपयोगिताकी पोल-पट्टी खुल जाती है।

एक आदमीने पाँचसे पाँच लाख रुपया कमाया। परिवार भरा पूरा था उसका। सब लोग उसे खूब प्यार करें। एक बार वह बीमार पड़ गया। पहिले तो घरवालोंने स्वयं सेवा की। जब अच्छा न हुआ तो सेवाके लिये एक नर्स रख दी गयी। फिर भी अच्छा न हुआ तो भगवानसे मनाने लगे कि यह जल्दी मर जाय। उस आदमीको जब यह भान हुआ तो उसने भी कहा 'उठालो भगवान्!' उस समय कौन उसका सच्चा निमित्त है? कोई नहीं।

जो इन निमित्तोंको सच्चा मानकर इनके साथ अपनेको मिला देता है वह अध्यासके चक्करमें पड़ जाता है।

आपका मन, आपकी बुद्धि, आपका अन्तःकरण मिथ्या है, और मिथ्या ही नहीं मिथ्यावादी भी है, बल्कि मिथ्यावादी पहिले है मिथ्या बादमें है! कैसे? वह आपसे दिनमें दस बार झूठ बोलता है। अभी आपको सुखी बताता है, फिर दुःखी बताता है; अभी आपको पापी बताता है और फिर पुण्यात्मा बताता है। कभी आपको कुछ बताता है और कभी कुछ! आश्चर्य यह है कि आप उसकी हर बातको स्वीकार करते चले जाते हैं।

आपकी बुद्धि आपको अनादि भूतकी बात बताती है और आप कहते हैं : 'ऐसा ही है।' आपकी बुद्धि आपको अनन्त भविष्य की बात बताती है और आप कहते हैं : 'ऐसा ही है।' ये दोनों बातें असंभव हैं। कालके आदि और अन्त अनुभवके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि काल स्वयं अनुभवात्मा है।

देवदत्तस्य स्वापकाले देवदत्तः आत्मनो न भिद्यते, भिन्नत्वेन अनुपलब्धत्वात्।

देवदत्तके शयनके समय देवदत्त उसकी आत्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि भिन्नरूपसे उसकी उपलब्धि नहीं होती और यदि अनुभव और अनुभवके भेदको छोड़ दें तो स्वप्रकाश आत्मामें काल नामकी कोई वस्तु ही नहीं है।

कालको हम आँख वन्द करके सोचते हैं : इससे पहिले, इससे पहिले। परन्तु जो अनादि और अनन्त काल है उसके साथ किसीकी बुद्धिका संयोग नहीं हो सकता। अनादित्व और अनन्तत्व कभी विषय नहीं होते। कल्पितत्वेन ही कोई वस्तु अनादि और अनन्त होती है। हमसे अन्य रहकर कोई अनादि अनन्त हो, ऐसा नहीं हो सकता। किसीके अनादि-अनन्तके बारेमें केवल आँख बंद करके सोच ही सकते हैं।

प्रत्ययरूप अनादित्व अनन्तत्व अन्यका ही हो सकता है और प्रत्ययाधिष्ठानरूप अनादित्व अनन्तत्व आत्माका ही होता है। इसलिये देश, काल और वस्तुका अनादित्व अनन्तत्व कल्पना-मूलक है। जब कल्पनाके अधिष्ठानमें कल्पना ही मिथ्या है तब कल्पितके अनादित्व अनन्तत्व भी मिथ्या ही हैं।

आओ ! उसी अधिष्ठानकी जिज्ञासा करें, जिसमें पूर्ण निर्भयता

है, पूर्ण स्वातन्त्र्य है, पूर्ण समत्व है, र्ण असंगता है, पूर्ण उदासीनता है, पूर्ण अद्वितीयत्व है।

वेद्यकी सिद्धिसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। आत्माके सिद्ध होनेसे ही सब सिद्ध होता है। वेद्य अनेक होते हैं—यथा घट, पट, मठ इत्यादि और उनका ज्ञाता एक होता है। एकसे अनेककी सिद्धि होती है, अनेकसे एककी नहीं। वही एक मैं जो घटको जानता हूँ वही मठको भी जानता हूँ, पटको भी जानता हूँ, इसलिये मैं आत्मा तो एक ही हूँ। दृश्य देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न है और मैं आत्मा अपरिच्छिन्न हूँ। दृश्य आत्माधीन, प्रकाश्य है, वेद्य है, और इसलिये आश्रित, अनेक, नाशवान्, जन्मवान् है। इस प्रकार एक अनन्त अखण्ड चिद्वस्तुमें वेद्य मिथ्या है और चिद्-वस्तु आत्मा है।

अविवेकसे सत्य और मिथ्याका मिथुनीकरण हो गया है, वह विवेकसे नष्ट हो जायेगा। परन्तु आप डरना नहीं, विवेक होने-पर न आपके शरीर पर कोई असर पड़ेगा और न धन, परिवार, व्यवहार पर। आत्माको अद्वय जाननेसे केवलमात्र आपका भय—जन्म-मृत्युका भय, लोक-लोकान्तरमें आने-जानेका भय, अज्ञानी होनेका भय, दुःखी होनेका भय—तथा पारतन्त्र्य सदैवके लिए नष्ट हो जायेंगे।

●

(४.१०)

आत्मा अपरोक्ष है तथा प्रत्यगात्मारूपसे प्रसिद्ध है

आत्मा नित्य अपरोक्ष है तथा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) रूपसे प्रसिद्ध है।

अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। (भाष्य)

जिसको सिद्ध करनेके लिए साधनकी जरूरत पड़े, सो सिद्ध होता है और जो वस्तु पहिलेसे ही मौजूद हो वह प्रसिद्ध होती है। आत्मा साधन-निरपेक्ष प्रसिद्ध है।

आत्मा अपरोक्ष है, इसका अर्थ है कि यह आत्मा हमसे किसी भी दशामें दूर नहीं होता। कालमें दूर नहीं होता, क्योंकि यह असम्भव है कि एक सेकिंड आत्मा पीछे रह जाय और हम आगे बढ़ जायँ। देशमें दूर नहीं होता, क्योंकि यह असम्भव है कि आत्मा एक इंच पीछे रह जाय और हम आगे चले जायँ। हमारे और आत्माके बीचमें एक कणमात्रका भी व्यवधान नहीं है। देश, काल, वस्तु कोई भी आत्मा और हमको अलग नहीं कर सकते, क्योंकि सच्चाई यह है कि जो आत्मा है सो हम हैं, जो हम हैं सो आत्मा है और वास्तवमें हम ही आत्मा हैं। क्योंकि अपना आपा सदा अपरोक्ष है, इसलिये आत्मा भी सदा अपरोक्ष है। अपरोक्ष अर्थात् जो परोक्ष न हो अर्थात् देश, काल और वस्तुका कोई व्यवधान उसके अस्तित्वको ढक नहीं सकता।

आत्माकी अपरोक्षता वेद्यमूलक नहीं है। जैसे घटको देखकर घटाकार वृत्ति होती है वैसे आत्माको देखकर आत्माकी, अपनी, वृत्ति नहीं बनती। आत्मा वृत्ति बननारूप नहीं है, बनना, न बनना, सब आत्माको ही भासता है। "वेद्य है, दीख रहा है, इसलिये इसके देखनेवालेके रूपमें मैं भी हूँ" ऐसा अनुमान आत्माके बारेमें नहीं चलता। वेद्य घड़ीसे मेरी सत्ता सिद्ध नहीं होती, मुझसे ही वेद्यकी, घड़ीकी, सत्ता सिद्ध होती है। ज्ञेयसे ज्ञानात्माकी सिद्धि नहीं होती, ज्ञानात्मासे ही ज्ञेयकी सिद्धि होती है।

अनुमान भी लोग गलत ढंगसे लगाते हैं। हमारे एक साथी थे। उनका मस्तिष्क कुछ खराब हो गया था। एक बार हम गये मथुरा। वहाँ बग्घीमें हम दोनों बैठ गये। रास्तेमें बग्घी खड़ी कराके वे टमाटर खरीदने चले गये। मैं बग्घीमें बैठा रहा। आधा घंटा हुआ, एक घंटा हुआ, तो मैं भी उतरकर उन्हें ढूंढने चला। पहुँचा तो दूकानदारने कहा: 'स्वामीजी, ये कहते हैं १५ रुपयेका टमाटर दे दो। हम संकोचमें पड़े हैं कि दें या न दें।' मैंने मित्रसे पूछा कि १५ रुपयेका टमाटर क्यों ले रहे हैं। वे बोले: 'चूंकि हमारे पास १५ रुपये हैं इसलिये हम १५ रुपयेका टमाटर ले रहे है।'

इसी प्रकार क्योंकि वेद्य जाना जा रहा है, इसीलिये ज्ञाता आत्मा है, ऐसा नहीं। ज्ञानात्मा आत्मा है इसीलिये वेद्य जाना जा रहा है।

हमारी जो अपरोक्षता है वह ज्ञाता-ज्ञेय और ग्राह्य-ग्राहक भावसे निरपेक्ष है। विषय घड़ी और ग्राहक अहंकार दोनोंसे अतीत है यह आत्मा। घड़ीकी तरह कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और उनसे जो अतीत है वह देशान्तरमें अतीत नहीं है यहीं अतीत है

और वही जीव, हिरण्यगर्भ और ईश्वर रूप ग्राहकसे भी अतीत है। ग्राह्य-ग्राहक भाव दोनों इदंतया ही मालूम पड़ते हैं, परन्तु जिसको वह ग्राह्य-ग्राहक मालूम पड़ रहे हैं वह परोक्ष कहाँ होगा!

आपको यह तो मालूम ही होगा कि श्रमसे वस्तुकी शुद्धि होती है। फूलको धोलो, शुद्ध हो गया। सोनेको तपालो, सोना शुद्ध हो गया। उसी प्रकार धर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। श्रम ही उद्देश्य, अधिकारी, विधि और श्रद्धासे युक्त होकर धर्म बन जाता है और वह कर्ताको शुद्ध करता है। श्रम बाहरको शुद्ध करता है तो धर्म भीतरको। उपासना तत्पद-वाच्यार्थ लक्ष्यको शुद्ध करती है। प्राप्यका शुद्ध स्वरूप उपासनासे स्पष्ट होगा। योगाभ्यास द्रष्टाको दृश्यसे पृथक् करता है और इसलिये योग त्वंपद-वाच्यार्थ आत्माको लखाता है। परन्तु वहाँ जो ग्राह्य अथवा उपास्यसे अवच्छिन्न चैतन्य है, तत्पद-लक्ष्यार्थ; और यहाँ जो ग्राहकसे अवच्छिन्न चैतन्य है, त्वंपद-लक्ष्यार्थ; वह ग्राह्य-ग्राहकके भेदसे भिन्न-भिन्न नहीं होता, अभिन्न ही रहता है। वहाँ जो देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न, द्रव्यावच्छिन्न चैतन्य है और यहाँ जो देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और द्रव्यावच्छिन्न चैतन्य है वह अद्वैत ही रहता है। वह ज्ञान है और ज्ञानमात्र है। वह नित्य साक्षात् अपरोक्ष है, वही सबका प्रत्यगात्मा है। वह वेद्यमूलक नहीं है, सम्पूर्ण वेद्य उसीसे जाने जाते हैं।

विषय-ज्ञान और आत्म-ज्ञानमें क्या भेद है? विषय-ज्ञान करण-सापेक्ष होता है जब कि आत्मज्ञान करण-निरपेक्ष है। यह सामने फूल है। फूल वस्तु, नेत्रेन्द्रिय, सूर्यका प्रकाश, मन, बुद्धि तथा फूल-संस्कार—ये सब चैतन्यके साथ एकत्र हों तब फूल-विषयका ज्ञान होगा। फूलको प्रकाशसे देखते हैं, प्रकाशको नेत्रसे देखते हैं, नेत्रको मनसे देखते है; मनको बुद्धिसे और बुद्धिको

संस्कार-युक्त अहंकारसे देखते हैं। परन्तु प्रत्यगात्माको, सबको देखनेवालेको, किससे देखोगे? वह स्वयं ज्ञान है, ज्ञानका विषय नहीं। वह स्वयं ज्ञान है ज्ञेयका ज्ञाता नहीं।

विषय-ज्ञानमें वैविध्य होता है, इसीलिये वह विज्ञान है। आत्मज्ञान समस्त वैविध्यका अपवाद करके निष्पन्न होता है, अतः वह ज्ञान है। अब बीचमें शरीर है, बाहर विषय है और भीतर प्रत्यगात्मा। इसलिये जिससे भीतरकी ओर गति होगी वह ज्ञानका हेतु होगा और जिससे बाहरकी ओर गति होगी वह विज्ञानका हेतु होगा।

जो सबसे भीतर है, सबसे पहिले है, सबसे अन्तरंग है, जो बिना किसी व्यवधानके है, जो अपरोक्ष है, वह प्रत्यगात्मा है।

यदि आप सृष्टिकी यात्रा करते जायेंगे तो आपकी बुद्धि हमेशा यात्रा ही करती रहेगी। इसका न आदि मिलेगा और न अन्त। और फिर झूठमूठ ही कह देना कि सृष्टिके आदिमें हमारे भूतभैरव, गणेश, देवी, शिव, विष्णु आदि हैं और वही अन्तमें रहेंगे। यदि आप वर्तमानमें रहनेवालेको नहीं पहिचानेंगे तो आदि या अन्तमें रहनेवालेको कैसे पहिचानेंगे? बुद्धिका कभी अनादि भूत अथवा अनन्त भविष्यके साथ सम्पर्क नहीं हो सकता। इसलिए सृष्टिके आदि और अन्तके बारेमें जो कुछ भी कहा जायेगा वह सबका सब कल्पित होगा।

यदि कभी भी हम ईश्वरको जान सकेंगे तो वर्तमानमें ही और वर्तमानके द्वारा ही। वर्तमानमें एक द्रष्टा है और एक दृश्य। दृश्य या तो प्रत्यक्ष है या परोक्ष और सदैव द्रष्टाके अधीन है, जबकि द्रष्टा नित्य अपरोक्ष और स्वाधीन है। आत्मा (द्रष्टा) स्वयंप्रकाश होकरके अवेद्य रहकरके ही अपरोक्ष होता है। यह आत्माकी स्वयंप्रकाशिता है। यह न तो घट-पटादिके समान

वेद्य (प्रत्यक्ष) है और न स्वर्गादिके समान परोक्ष। किन्तु यह प्रत्यगात्मा अपरोक्ष है।

आत्मविद्या परोक्ष-विद्या नहीं है। यह अपरोक्ष-विद्या है। यह कोई रहस्यवाद भी नहीं है। रहस्यवाद माने 'आओ हमारे चेला बनो'। कोई आपको मूलाधारसे उठानेकी जिम्मेदारी लेगा तो कोई अनाहतसे। हमें सब मालूम है भाई! कोई सौ मतोंकी साधना हमारे दिमागमें चुरती हैं। सब कुछ होता भी हो तो क्या? जिसको यह सब होता है उसको जानो। अरे, जिसका व्याह उसका तो कहीं पता नहीं और माल सब बराती ही खा गये!

यही अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, प्रत्यगात्माको जब दृश्यके साथ मिला दिया जाता है तब परिणाम होता है: यह मैं और यह मेरा। जो 'यह' है वह 'मैं' नहीं है और जो 'यह' और 'मैं'का द्रष्टा है वह न 'यह' और न 'मैं'। वह केवल चिन्मात्र आत्मा सदा अपरोक्ष है।

यही मैं—मेरापन व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठा है और यह व्यक्तित्व बड़ा दुःख देता है। वेदान्त सीढ़ीके रूपमें सम्प्रदाय और आचार्य-वचनको मानता है, अन्तमें तो वह असम्प्रदायभुक् अवचनरूप सिद्धान्तका निर्वचन करता है। जो वेदान्त बुद्धिमात्रका निषेध करता है उसमें किसी जीवके वचनका, किसी आचार्य या सम्प्रदायके वचनका क्या अर्थ होता है? आप वेदान्तके अनिर्वचनीय सिद्धान्तपर ध्यान दें व्यवहारके लिये और आत्माकी ब्रह्मरूपतापर ध्यान दें परमार्थके लिये।

वेदान्त कोई व्यवहारातीत वस्तु नहीं है। इसका अर्थ होता है कि आप कटने-पिटनेवाले अहंकारके साथ न जुड़ें। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यी हूं' इत्यादि सब प्रत्यय आते जाते

रहते हैं इसलिये उनमें किसीके साथ मत जुड़ो। 'मैं जिन्दा हूँ' इस प्रत्ययके साथ भी नहीं और 'मैं मुर्दा हूँ' इस प्रत्ययके साथ भी नहीं, अन्यथा भूत-प्रेत हो जाओगे। जो रोता है 'हाय, हाय मैं मर गया' वह है जिन्दा और कहता है 'मर गया।' फिर कौन है वह ? वह भूत-प्रेत है, क्योंकि जिसे मरनेका भी अभिमान हो और अज्ञातरूपसे जिन्दा रहनेका भी अभिमान हो वही भूत-प्रेत है। इस प्रकार वेदान्त समस्त अहंकारोंका छेदन कर देता है। इससे निर्भयता उत्पन्न हो जाती है। 'यहाँ चींटी न मरे, वहाँ मच्छर न मरे' इन छोटे-छोटे भयोंसे मुक्तिकी कौन बात, भयमात्रसे मुक्ति हो गयी। संग्रह करनेका लोभ कट गया और भविष्यके लिये इसकी कामना कट गयी। हाय ! इस अपरोक्ष प्रत्यगात्माको लोग देहके साथ जोड़कर मैं–मेरा करके दुःखी हो रहे हैं।

(४.११)

प्रत्यक्षमें ही अध्यास होता है— इस बातका खण्डन । अध्यासकी संभावना

पूर्वपक्षने आक्षेप किया था कि आत्मा दीखती नहीं। इसपर आचार्यने बताया कि आत्मा नितान्त अविषय नहीं है, क्योंकि प्रथम तो यह अस्मत्प्रत्ययका विषय है और दूसरे यह प्रत्येकका प्रत्यगात्मा है और नित्य अपरोक्ष है।

अव भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि अध्यासका कोई यह नियम भी नहीं है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विषयमें ही विषयान्तरका अध्यास हो :

न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। (भाष्य)

वोले भाई क्यों ? तो एक उदाहरण दिया आचार्य श्रीने कि जैसे अप्रत्यक्ष आकाशमें अविवेकी लोग तलमलिनता आदिका अध्यास कर लेते हैं जवकि आकाश इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं, उसी प्रकार प्रत्यगात्मामें अनात्माका अध्यास भी अविरुद्ध हैं :

अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः।

इस उदाहरणके समझनेके लिए यहाँ आकाशके स्वरूप पर किंचित् विचार अपेक्षित है।

न्याय-वैशेषिक मतमें द्रव्य उस पदार्थका नाम है जिसमें कोई क्रिया हो सके तथा जिसका अपना कोई विशेष गुण हो। दूसरे शब्दोंमें गुण और क्रियाके आश्रय होनेका नाम द्रव्यत्व है :

गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्

उदाहरणार्थ धरतीको खोद सकते हैं, उसमें गड्ढा बना सकते हैं अतः इन क्रियाओंके आश्रय होनेसे तथा गन्धगुणवाली होनेसे धरती द्रव्य है।

इसी प्रकार आकाश भी द्रव्य है, क्योंकि उसमें पक्षी उड़ते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणियोंकी गतिका आश्रय है; तथा अवकाश दातृत्वरूप गुण आकाशका है। अवकाश गुण और गमनागमन-क्रियाका आश्रय आकाश है। इसीमें वायु दौड़ती है और शान्त मन्थर होती है। इसीमें प्रकाश-अंधकार आते हैं जाते हैं। इसीमें पानी बरसता है नहीं बरसता है। इसीमें सब ग्रह नक्षत्र घूमते हैं। सबको अवकाश देना ही जिसका गुण है वह है आकाश–द्रव्य।

परन्तु आकाश प्रत्यक्ष नहीं है; किसी इन्द्रियसे उसका अनुभव नहीं होता। इसीलिये आकाश को नभ भी कहते हैं। नभ = न + भ = न भास। अर्थात् जो नेत्रसे न भासे वह नभ। अप्रत्यक्ष होने-पर भी वह आकाश बालकोंको और अज्ञानियोंको नीले रंगवाला तम्बू या उल्टा कढ़ाह जैसा लगता है अथवा इन आरोपोंका विषय बनता है जैसे कि 'आकाश स्वच्छ है, आकाश मलिन है' इत्यादि।

वास्तवमें निर्मलता, मलिनता आदि तो तैजसमें दिखते हैं आकाशमें नहीं। परन्तु अविवेकी लोग उनका अध्यारोप आकाशमें करते हैं। उसी प्रकार अविवेको लोग जड़ता और आभास (जीव)में होनेवाले गुण-दोषोंका अध्यारोप अपने चिदाकाश-स्वरूपमें करते हैं।

जैसे आकाशमें प्रकाश और अन्धकार आते जाते हैं और आकाश ज्यों-का-त्यों एकरस बना रहता है वैसे ही अपने उस चिदाकाश स्वरूपका ख्याल करो जिसमें जड़तारूप अन्धकार और आभासरूप प्रकाश आते जाते रहते हैं और आप चिन्मात्र ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं।

अब मूल प्रश्नपर पुनः थोड़ा दूसरे दृष्टिकोणसे विचार करते हैं।

मूल शंका यह है कि बिना सादृश्यके अध्यास नहीं हो सकता। जब इतनी सामग्री हो तब अध्यास सिद्ध हो: अधिष्ठान, अध्यस्त, सादृश्य, अध्यासके बाह्यहेतु (अन्धकार आदि) तथा अज्ञान। अब आत्मा अद्वितीय है, इसलिये अधिष्ठान और अध्यस्त तथा सादृश्यका भेद सम्भव नहीं; और आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिये उसमें बाह्य हेतु और आन्तर हेतु अज्ञानका सम्भव नहीं। इसलिये आत्मामें अध्यास सम्भव नहीं।

बौद्ध लोग कहते हैं कि बिना अधिष्ठानके भी अध्यास सम्भव है और बिना अध्यस्तके भी। जैसे शून्य सत्तामें आकाशकुसुम (खपुष्प) की प्रतीति। इसपर मीमांसकोने आक्षेप क्रिया:

अध्यस्यते खपुष्पत्वमसत् कथमवस्तुनि।
प्रज्ञातगुणसत्ताकम् अध्यारोप्येत वा न वा॥

'देखो भाई! तुम्हारा अध्यास-सिद्धान्त गलत है। एक तो शून्य कोई वस्तु नहीं और उसमें जो खपुष्पका अध्यास हुआ वह भी न देखा गया न सुना गया। तो तुम्हारा अधिष्ठान भी असत् और अध्यस्त भी असत्। अवस्तुमें अवस्तुका अध्यास कैसे होगा? यदि सत्तागुणका ज्ञान हो तभी अध्यास होता है। जैसे यदि रस्सी हो और पहिलेसे देखा हुआ साँप हो तो सामनेवाली रस्सीमें पूर्व-

दृष्ट सर्पका अध्यास हो सकता है। वह भी कभी हो और कभी न हो और फिर भी सादृश्य होनेपर ही होगा। रस्सी और सर्पमें कुछ तो सादृश्य चाहिये!'

मीमांसकों की युक्तिसे 'असत् अधिष्ठानमें असत् अध्यस्तका अध्यास'—सिद्धान्त तो कट गया, परन्तु सादृश्य-हेतु-सिद्धान्त बन गया। इसको आचार्य शंकरने आकाशमें तलमलिनता आदिके दृष्टान्तसे काट दिया। न्याय-वैशेषिकके अनुसार आकाश अप्रत्यक्ष है और उसमें कढ़ाह, तम्बू आदि आकार अथवा निर्मलता, मलिनता आदि गुण नहीं हैं तथापि अविवेकी लोग ऐसा आरोप करते हैं—सादृश्य न होनेपर भी।

यहाँ इस दृष्टान्तमें भाष्यकारने प्रौढ़िवादका आश्रय लिया है। स्वमतमें (वेदान्तमें) आकाशका यह स्वरूप नहीं है तथापि मीमांसकोंकी युक्तिको काटनेके लिये उन्होंने न्याय-वैशेषिकके आकाशके स्वरूपका आश्रय ले लिया है।

असलमें बात यह है कि अध्यासके लिए सादृश्यकी आवश्यकता नहीं होती, सादृश्य-संस्कारकी आवश्यकता होती है। वह संस्कार काल्पनिक वस्तुके सम्बन्धमें भी हो सकता है और प्रत्यक्ष-वस्तुके सम्बन्धमें भी। और ये संस्कार अनादि प्रवाही अविद्यासे सबको प्राप्त हैं। इसीसे नित्य, निर्विकार चेतन, आत्मामें, द्रष्टामें, अनित्य, विकारी और जड़ अनात्माका, दृश्यका, अध्यास संभव हो जाता है। और मुश्किल यह है कि अध्यास इतना सिरपर सवार है कि इसको नकारना ही कठिन लगता है।

भौतिकवादी आकाशको तत्त्व नहीं मानते। वेदान्तका मत है कि शब्द गुणवाला आकाश है। भौतिकवादी शब्दको वायुका गुण मानते हैं। वायु गतिशील हैं और जहाँ-जहाँ गति होती है

वहीं ध्वनि होती है, अन्यत्र नहीं। वे तो जलको भी तत्त्व नहीं मानते, दो गैसों (हाइड्रोजन और आक्सीजन) का मिश्रण मानते हैं। असल बात यह है कि वेदान्तोक्त तत्त्व और विज्ञानोक्त तत्त्वकी परिभाषामें अन्तर है।

विज्ञानमें तत्त्व वह पदार्थ है जो अपनेसे सरल पदार्थोंमें विभक्त न हो सकता हो और नही अन्य ऐसे सरल पदार्थोंसे बन सकता हो। माने तत्त्वमें एक ही द्रव्य होता है और उसके अपने विशिष्ट गुण होते हैं। एक ही तत्त्व ठोस, द्रव और गैस अवस्थाओंमें परिवर्तित किया जा सकता है। तत्त्व इन्द्रियप्रत्यक्ष होता है भले ही वह सहकारी उपकरणों द्वारा भी वेद्य हो।

वेदान्त अध्यात्म-शास्त्र है। यहाँ भौतिक यन्त्रों द्वारा तत्त्वका निश्चय नहीं होता। यंत्रोंके रूपमें हमारे पास केवल हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं। वाह्य उपकरण भी ज्ञानेन्द्रियोंके अभावमें अर्थशून्य हैं। अतः अध्यात्म-शास्त्रमें ऐन्द्रियक गुणोंके आधार पर तत्त्वोंकी मीमांसा की जाती है।

ज्ञानेन्द्रियाँ द्रव्यको ग्रहण नहीं करती, द्रव्य-गुणको ग्रहण करती हैं। गुणके आधारपर द्रव्यका अनुमान होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उनके आधारपर पाँच तत्त्वोंकी परिकल्पना अध्यात्म-शास्त्रने की हैं। नाकके द्वारा गन्धगुणका ग्रहण होता है, इसलिए गन्ध गुणवती पृथ्वीको तत्त्व माना गया है। पृथ्वी वह द्रव्य हैं जिसका गुण गन्ध है और वह नासिका द्वारा ग्राह्य है। इसी प्रकार जिह्वा द्वारा वेद्य रस है और वह रस जिस द्रव्यका गुण हैं वह जल हैं। षट्रसके गुणी षट्द्रव्य नहीं होते, एक ही द्रव्य जल है। नेत्र द्वारा वेद्य जो रूप है वह रूप गुण जिस द्रव्यका है उसका नाम अग्नि अथवा तेज है। रूपी अनेक नही एक तेज हो है। त्वगेन्द्रिय द्वारा वेद्य जो स्पर्श है उस स्पर्श

गुणका जो गुणी द्रव्य है वह वायु है और वह एक है। कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य जो शब्द है उस शब्द गुणवाला द्रव्य आकाश है। इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध गुणवाले क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—पाँच तत्त्व माने गये हैं।*

जैसे एक ही इन्द्रियसे अनेक अनेक शब्द सुननेपर आकाश द्रव्य अनेक नहीं होता अथवा अनेक स्पर्श ग्रहण किये जानेपर वायु द्रव्य अनेक नहीं होता, अनेक रूप देखे जानेपर तेज अनेक नहीं होता इत्यादि—उसी प्रकार महात्माओंका कहना है कि ज्ञानेन्द्रियोंसे अनुभूत पाँच द्रव्यों अनुभव किये जानेपर भी मूल द्रव्य पाँच नहीं होते। मूलसत्ता एक ही है और वह है ज्ञान, परन्तु पाँच गोलकोंके कारण उसकी पञ्चधा उपलब्धि होती है। इन्द्रियोंके भेदके कारण गुणोंमें भेद होता है, गुणी एक है। इन्द्रियोका गुण-भेद मनके कारण होता है और मनके भेद पूर्व-पूर्व संस्कारोंके कारण होते हैं। और पूर्व-पूर्व संस्कारोंकी जो धारा बह रही है उसके सब भेदोंका साक्षी एक चेतन—आत्मा है। इस प्रकार एक चेतन सत्ता ही मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियाँ, पञ्चतत्त्वके रूपमें गृहीत होती है।

प्रश्न यह है कि शब्द गुणवाले द्रव्य आकाशका, प्रत्यक्ष कैसे होता है? शब्द गुणका कानसे ग्रहण होता है, तो क्या कानसे आकाशका प्रत्यक्ष होता है? क्या आकाश नेत्रसे देखा जा सकता है, माने क्या आकाशमें कोई रूप है? इसी प्रकार क्या आकाशमें कोई गन्ध है, रस है अथवा स्पर्श है?

---

* विज्ञानकी दृष्टिसे जो तत्त्व है जैसे 'लोहा' अथवा जो तत्त्व नहीं है जैसे 'जल' वे सब पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होनेसे पाँच तत्त्वोंसे मिलकर ही बने हैं। अतः अध्यात्म-दृष्टिसे वे तत्त्व नहीं हैं।

स्पष्ट है कि यदि आकाशमें शब्द-गुणके अतिरिक्त अन्य गुण भी होते, तब तो वह तत्त्व हीन रहता, क्योंकि वह उन ५ तत्त्वों-से कुछका या सबका संघात बन जाता। इसलिए कर्णेन्द्रियके अतिरिक्त वह अन्य इन्द्रियोंका तो विषय हो ही नहीं सकता। परन्तु कर्णेन्द्रियसे भी आकाशका साक्षात्कार नहीं होता उसके गुण शब्दका ही साक्षात्कार होता है। गुण-गुणीका नित्य सम्बन्ध होनेसे गुणके साक्षात्कारमें गुणीका साक्षात्कार मान लिया जाता है। अन्यथा तो कोई भी तत्त्व (शब्द, स्पर्शादि तन्मात्राओंके आश्रयभूत आकाश, वायु आदि पञ्च तत्त्व) इन्द्रियगम्य नहीं हैं।

तव ये जो कठोर पृथ्वी, द्रवित जल, धक-धक करती अग्नि अथवा सूर्यका प्रकाश, साँय-साँय करती वायु तथा अनाद्यन्त फैला हुआ अवकाशस्वरूप आकाश (पोल) हैं—ये जो सब इन्द्रियगम्य पदार्थ हैं, तत्त्व नहीं हैं। ये सब उन तत्त्वोंके मिश्रित भाव हैं। अथवा वेदान्तकी भाषामें पञ्चीकृत भाव हैं। अपञ्चीकृत तत्त्व अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पृथक्-पृथक् तत्त्व इन्द्रियगम्य नहीं हैं। गुणोंके माध्यमसे ही इनकी उपस्थितिका आभास होता है।

यह जो पोल, अवकाशस्वरूप, विस्तृत आकाश नेत्रका विषय होता है उसमें विस्तार और अवकाश सापेक्ष कल्पनायें हैं—सीमित घट, पट, मठादिकी अपेक्षा तथा ठोस वस्तुओंकी अपेक्षा। तथा उसमें प्रतीयमानता प्रकाशकी है, आकाशकी नहीं। कल्पना करो कि सम्पूर्ण विश्वमें न पृथ्वी है, न जल है, न प्रकाश है और न स्पर्श और केवल साक्षी है। तब क्या यह अवकाशत्व, यह विस्तार और इसकी वर्तमान प्रतीयमानताका क्या अनुभव होगा? नहीं। अथवा कल्पना करो एक ऐसे मनुष्यकी जिसकी कानके अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञानेन्द्रिय नहीं है। उसको संसारका कैसा

अनुभव होगा ? दोनों परिस्थितियोंमें साक्षीके अतिरिक्त जो कुछ भी शेष रहता है वही शब्दाश्रय आकाश है। इसीको वेदान्ती लोग कहते हैं कि आकाश इन्द्रियगम्य नहीं है, आभासभास्य नहीं है, अपितु साक्षी-भास्य है। यों साक्षी और अधिष्ठानके ऐक्यबोधसे आकाश तत्त्व ब्रह्मतत्त्वसे पृथक् अनुभवमें नहीं आता।

व्यवहारमें आलोकाकार चाक्षुष-वृत्तिमें अभिव्यक्त जो साक्षी है वही आकाशको देखता है। साक्षी-वेद्य है आकाश। नेत्रगोलकमें जो चक्षुरिन्द्रिय है वही कभी अन्धकाराकार होती है तो कभी आलोकाकार। जिस इन्द्रिय-वृत्तिसे आलोकका ज्ञान होता है उसीसे अन्धकारका ज्ञान होता हैं। आलोकाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त जो चैतन्य है वह देखता है कि आलोक फैला हुआ है। वही साक्षी हैं जो आकाशको देखता है।

घड़ीको हम खुली आँखसे देखते हैं परन्तु आकाशको जैसे खुली आँखसे देखते है वैसे ही बन्द आँखसे, क्योंकि आकाश आँखसे दीखता ही नहीं। जैसे अपने राग-द्वेष, इच्छा, भय आदि इन्द्रियोंसे नहीं देखे जाते, साक्षी द्वारा देखे जाते हैं, वैसे ही आकाश भी साक्षी-भास्य ही है। मनसे भी आकाशको नहीं देख सकते, क्योंकि मन उसीको देख सकता है जो इन्द्रियोंकी सहायतासे देखा जा सकता है। इन्द्रियोंसे नितान्त अज्ञात वस्तुका दर्शन मन नहीं कर सकता।

अब कहो कि जो आकाश इन्द्रियगम्य नहीं है, मनसे गम्य नहीं है, वह है भी या नहीं तथा है तो नित्य परोक्ष होगा ? तो शब्द गुणवाला होनेसे और शब्दगुण कर्णेन्द्रियसे गृहीत होनेसे उसके आश्रयभूत द्रव्य आकाशके अस्तित्वमें कोई विकल्प नहीं होना चाहिये; और साक्षी-भास्य होनेसे अन्य साक्षी-भास्य पदार्थ राग-द्वेषादिके समान अपरोक्षता भी आकाशमें हैं। और साक्षीकी

ब्रह्मरूपताका अनुभव होनेपर साक्षीसे भिन्न आकाशकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती।

ऐसे अतीन्द्रिय आकाशमें भी अविवेकी लोग यह आरोप करते हैं: 'आकाश नीला है, आकाश काला है, आकाश पीला है, आकाश स्वच्छ है, आकाश मलिन है, आकाश उलटे हुये कढ़ाहके आकारका है अथवा तम्बूके आकारका है इत्यादि।' यहाँ आकाश और इन अध्यारोपित तैजस गुणोंका क्या सादृश्य है? इसका अर्थ है, अध्यासके लिए सादृश्य, प्रत्यक्ष आदि किसी शर्तका होना आवश्यक नहीं है।

अज्ञाने किं दुश्शकम्।

जहाँ अज्ञान है वहाँ दुश्शक क्या है? जहाँ तुम अपनेको नहीं पहिचान रहे हो वहाँ तुम अपनेको क्या मान बैठोगे, इसका क्या ठिकाना है? जो अपना सरीखा हो उसीको तुम अपना आपा मानोगे, ऐसी गारंटी नहीं। उससे विपरीतको भी अपना आपा मान सकते हो। इसलिए अध्यासमें सादृश्यका नियम नहीं है।

इस प्रकार अध्यासकी सब असम्भावनाओंका प्रतीकार करके अब भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं:

एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मनि अपि अनात्माध्यासः।

'इसी प्रकार प्रत्यगात्मामें अनात्माका अध्यास भी अविरुद्ध है।'

विवेकसे यह साफ मालूम पड़ता है कि जो आत्मा नहीं है उसको हमने आत्मा मान रखा है। क्यों? तो यों कि कभी हमने विवेक ही नहीं किया कि मैं हूँ कौन? विचार करना कि शरीरका कौन-सा भाग तुम हो और कौन-सा तुम नहीं हो? शरीरका कोई-सा हिस्सा तुम नहीं हो। दिल बदलनेके बाद भी

वही तुम जीवित रहते हो, परन्तु दिलको तुम 'मैं-मेरा' मानते हो या नहीं ! जब दिल ही तुम नहीं हो तो अन्य अवयवों जैसे हड्डी, चमड़ी आदिकी तो बात ही क्या ? आँखके रहनेपर तुम रहते हो और आँखके न रहनेपर भी (अंधे होनेपर भी) तुम रहते हो। इसी प्रकार पाँवके सहित और पाँवके बिना भी तुम रहते हो। वास्तवमें अविवेकपूर्वक एक संस्कारकी धारा बह रही है। वाचस्पति मिश्रके शब्दोंमें अति विरूढ़ वासना-निविड़ जो अविद्या है वह बड़ी गाढ़ हो गई है। 'यह' भी बोलते जाते हैं और 'मैं' भी कि 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ'।

सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते पराङ्गत्व आत्म-विज्ञानात् अन्यत्र इति अवधारयत।

इस बातका अवधारण अर्थात् निश्चय करलो कि अपनेसे अलग जितने पदार्थ तुम जानोगे उनमें तीन बात होंगी : वे अच्छे हैं या बुरे हैं, यह भाव बनेगा; वे प्रिय हैं या अप्रिय हैं, यह बुद्धि बनेगी और इसलिए उनमें प्राप्तव्य या अप्राप्तव्य-बुद्धि बनेगी; उनको हटाने या सटानेका कर्म होगा। उससे पुनः तीन प्रतिक्रियायें होंगी : उन पदार्थोंके प्रति सत्यत्व बुद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता मूलक संस्कार, राग-द्वेषमूलक वासना। इससे पुनः कर्म होगा और इस प्रकार यह चक्र चालू रहेगा। परिणाम बन्धन और पराधीनता है यह स्पष्ट है। यह भेद-ज्ञानकी स्थिति है।

इसके विपरीत आत्म-विज्ञानकी विशेषता है कि : आत्मा न अच्छा होता है और न बुरा, क्योंकि आत्मा तो अच्छे और बुरे दोनोंका साक्षी होता है। साक्षी न शत्रु होता है न मित्र। आत्मा अपना आपा है, इसलिए उसको न पाना है न खोना। उसको हटाना या सटाना भी नहीं हो सकता। वह नित्य प्राप्त है, अतः उसकी प्राप्तिके लिए कुछ करनेकी भी आवश्यकता नहीं है।

अन्यका ज्ञान कर्म—उपासनाका अंग है और आत्माका ज्ञान शुद्ध ज्ञान ही है। यदि तुम्हें स्थिति-विशिष्टका ज्ञान होगा तो आपको बार-बार समाधि लगानी पड़ेगी, क्योंकि स्थिति सभी टूटेंगी। प्रेम-विशिष्ट ज्ञानमें धारामें बहना पड़ेगा—उसीके लिये उठें, उसीके लिए बैठें, उसीके लिए खायें-पीयें। परन्तु जो शुद्ध ज्ञान है उसमें न अभ्यास है, न धाराका प्रवाह। वह एक क्षणमें अविद्याको दूर कर देगा और फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहेगा।

(४. १२)

अविद्या और विद्याका लक्षण

अध्यासकी संभावना दिखाकर अब भाष्यकार उपसंहारमें अध्यासकी मूल अविद्या तथा उस अध्यासकी निवृत्ति करनेवाली विद्याका लक्षण बताते हैं :

तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते; तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्याम् आहुः । (भाष्य)

'उस उस लक्षणवाले इस अध्यासको पण्डित लोग अविद्या ऐसा मानते हैं । और इसके विवेकके द्वारा वस्तु-स्वरूपके निश्चय-को विद्या कहते हैं ।'

आप अपने आपको कैसे जानते हैं ? किताबमें पढ़कर या दूसरेके कहनेसे ? आप इन्द्रियवान् हैं, बुद्धिमान् है यह आप किस गवाहीसे जानते हैं ? आप इन्द्रियोंके बिना ही अपनी इन्द्रियवानता-को जानते हैं और बुद्धिके बिना ही, किताबमें पढ़े बिना ही, अपनी बुद्धिमानताको जानते हैं । अपने राग-द्वेष, शान्ति-अशान्ति, तृप्ति-अतृप्ति, स्वप्न-सुषुप्ति तथा सम्पूर्ण मानसिक और बौद्धिक सृष्टि-को बिना किसीकी गवाहीके ही जानते हैं । इसी बातको वेदान्त यों कहता है कि ये सब साक्षी-भास्य पदार्थ हैं । फिर इनके साक्षीको, अपने आपको, किसकी गवाही से जानोगे ?

कहीं म्युनिसिपैल्टीमें किसी व्यक्तिकी मृत्यु गलत दर्ज हो गई ।

अव जव वह व्यक्ति अपनी पैंशन लेने गया तो उसे मृत घोषित किया जा चुका था। उसके आग्रह करने पर उसे अपने जिंदा होनेका प्रमाण प्रस्तुत करनेको कहा गया। जीवित व्यक्ति सामने खड़ा है परन्तु उसके जीवित होनेका प्रमाण-पत्र चाहिए!

दूसरेके सामने अपने आपको सिद्ध करनेके लिए दस्तावेज चाहिए या गवाही चाहिए, परन्तु अपने आपको अपने सामने ही सिद्ध करनेके लिए किस दस्तावेजकी जरूरत है? किताबोंमें जो लिखा है कि 'तुम हो, तुम आत्मा हो' यह दस्तावेज है और उपदेशक लोग जो कहते-फिरते हैं कि 'तुम हो, तुम आत्मा हो' यह गवाही है। अरे सुषुप्तिमें जहाँ न कोई इन्द्रिय रहती है, न मन, न दस्तावेज और न गवाही वहाँ क्या तुम अपना न होना स्वीकार कर लेते हो? 'तुम हो' यह तुम्हें खुद ही मालूम पड़ता है और सुषुप्तिमें न मालूम पड़ने पर भी अपनेको मरा नहीं मानते। 'सुषुप्तिसे पहले जो मैं था वही सुषुप्तिके वाद भी हूँ' यही ज्ञान होता है न? वोले सुषुप्तिमें तो साँस चलती थी इसलिए 'मैं वहाँ रहता है' यह साँसकी गवाहीसे मैं जानता हूँ। परन्तु यह सच नहीं है क्योंकि 'सुषुप्तिमें साँस चलती थी' यह भी मालूम नहीं रहता। अतएव मालूम पड़ने और न पड़ने पर भी साक्षी-मैंका अभाव नहीं होता।

क्या आपने कभी यह जाननेकी कोशिशकी जो सुषुप्तिमें नहीं मरता वह मृत्युमें भी शायद न मरता हो? इसकी सम्भावनापर विचार करना।

जिस एक बूँद पानीमेंसे यह शरीर निकल आता है उसमें तुम छिपे थे? कभी पता लगाया इसका? एक डाक्टरने हमें था, सच झूठ तो वह जाने, कि यदि एक बोतलमें कोयलके पानी रख दिया जाय और दूसरी बोतलमें कौआके

अण्डेका पानी रख दिया जाय और उनपर 'लेबिल' न लगाया जाय, तो यह पता लगाना असम्भव है कि कौन सा जल किस अण्डेका है? कौनसे जलमें कोयलकी कुहू-कुहू छिपी है और कौनसे-में कौवेकी काँउ-काँउ, यह बताना असम्भव है।

यह आत्मदेव शरीरमें कहाँ छिपे रहते हैं? श्रुतिने कहा:

परमे व्योमन् गुहायां निहितं

'यह आत्मा परम-व्योमकी गुहामें छिपे हैं।'

ऐसे स्वयं-प्रकाश आत्म-तत्त्वमें, जो नित्य अपरोक्ष तथा परिच्छिन्नताकी गन्धलेशसे शून्य है, अविवेकी लोग अनात्माका आरोपकर लेते हैं और तदनुसार उसमें विपरीत धर्मकी कल्पना कर लेते हैं। **अन्यस्य अन्यधर्मावभासताम्**—अन्यमें अन्यके धर्मका अवभास तथा **स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः** यही अध्यासके लक्षण हैं। (देखिये अध्यास-भाष्य)

ऐसे लक्षणोंवाले अध्यासको पण्डितजन 'अविद्या' मानते हैं। मूर्ख लोग नहीं। मूर्ख लोग तो अध्यासको सत्य एवं अपरिहार्य ही मानते हैं, किन्तु पण्डित लोग इसको अविद्या मानते हैं और आत्मा—अनात्माके सत्यानृतमूलक विवेकके द्वारा आत्माका यथार्थ स्वरूप निश्चय करते हैं। इस निश्चयका नाम विद्या है।

जो 'पण्डित' नहीं है अथवा जो 'पण्डितों'में आस्था नहीं रखता, उसके लिये वेदान्त विद्या नहीं है। उसके लिए धर्म है अथवा उपासना अथवा योग। जो मूढ़ है वह धर्मका अधिकारी है, जो विक्षिप्त है वह योगका अधिकारी है तथा जो अभिमानी है वह उपासनाका अधिकारी है। लेकिन जो अपने सम्पूर्ण अनर्थोंका बीज उपलब्ध अध्यासको और उसकी कारणभूता अविद्याको मानता है और भोगसे उपरत होकर जिज्ञासा-सम्पन्न होकर विचार करता है वह 'पण्डित' है।

पण्डित माने जातिका ब्राह्मण नहीं होता। पण्डित कहते हैं :
सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा है, पण्डा संजाता अस्य इति पण्डितः
सदसत् विवेक करनेमें सक्षम बुद्धिका नाम पण्डा होता है। वह वुद्धि सम्यक् प्रकारसे जिसके आशयमें उदित हो चुकी हो उसे कहते हैं पण्डित। पण्डामें इतच् प्रत्यय 'जाता' अर्थमें है। शूद्र-शरीरमें भी यह पण्डित-वुद्धि हो सकती है और ब्राह्मण शरीरमें भी नहीं हो सकती। काशीमें एक कोली थे—जोखनप्रसाद चौधरी। वे आर्यसमाजके प्रधान थे। वेदके बड़े अच्छे विद्वान् थे। लोग उन्हें पं० जोखनप्रसाद चौधरी कहते थे।

तात्पर्य यह हुआ कि जो आत्मा-अनात्माके विवेकी लोग हैं वे उक्त लक्षणोंवाले अध्यासको अविद्या मानते हैं अथवा आविद्यक मानते हैं।

यहाँ अध्यासको ही भगवान् शंकरने अविद्या बताया है। पहले इसका विवेचनकर चुके हैं कि अध्यास और अविद्या दो चीजें हैं। अविद्या कारण है और अध्यास कार्य।

महात्माओंने अविद्या और अध्यासके अलग-अलग लक्षण किये है :

आच्छादकत्वमात्रम् अविद्यालक्षणम्।
विपरीतबुद्धिरूपत्वम् अध्यासलक्षणम्।

आच्छादकत्व अर्थात् ढकनामात्र अविद्याका लक्षण है; तथा वुद्धिका वस्तुके स्वरूपके विपरीत होना अध्यासका लक्षण है।

सुषुप्तिकालमें बुद्धि लीन रहती है, तो विपरीत कहाँसे होगी। अतः वहाँ अध्यास नहीं रहता। परन्तु 'मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप हूँ'—आत्माका यह स्वरूप सुषुप्तिमें भी आवृत रहता है, अतः वहाँ अविद्याको स्थिति रहती है। जाग्रत् और स्वप्न

अवस्थाओंमें बुद्धिकी विपरीतता एक सामान्य अनुभव है। अतः वहाँ अध्यासका विविधरूपोंमें अनुभव होता है। वस्तुतः कारण अविद्या अपने कार्य अध्यासके साथ जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है।

कुछ लोग अविद्याको मूलाविद्या और अध्यासको तूलाविद्या भी कहते हैं।

एक ही वस्तुके विषयमें अज्ञान और विपरीत ज्ञान दोनों होनेपर अविद्या और अध्यास एक हो जाते हैं और तब अध्यासको ही अविद्या कहते हैं। शांकर अविद्या आच्छादकत्व (आवरण) और विपरीत बुद्धि (प्रक्षेपण) दोनों लक्षणवाली है।

आत्माका स्वरूप ब्रह्म है—इसको न जानना और इसके विपरीत आत्माको जीव जानना, यह अध्यास अविद्या है। आत्मा असम्बन्धी है—इस बातको न जानना और इसका अनात्मासे कुछ राग-द्वेषात्मक अथवा कोई और सम्बन्ध मानना, इस अध्यासका नाम अविद्या है।

संक्षेपमें, मैं-मेरारूप जितना प्रत्यय ज्ञान है वह सब अध्यास है और यही अविद्या है।

एक सज्जन जमीनके लिये किसीका भी सिर फोड़ डालते थे। महात्माने पूछा : 'भाई, तुमने जमीनको अपना माना है, ठीक है; परन्तु क्या जमीनने भी तुमको अपना माना है? जमीन तो तुम्हारे बाप-दादोंसे पहलेसे चली आ रही है, सृष्टिके आदिसे जमीन चली आ रही है। कितने इसे मेरी-मेरी कहते आये और चले गये। क्या यह किसीकी हुई? अब तुम इसको मेरी मान रहे हो! तो तुम्हें ही दुःख भोगना पड़ेगा धरतीको नहीं।'

धरती स्वयं हँसती है जब दो राजा उसके लिये लड़ाई लड़ते हैं :

द्रष्ट्वात्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम् ।

धरतीके साथ और संसारकी सभी वस्तुओंके साथ आपका सम्बन्ध एवं प्रेम एकांगी ही है। सब सम्बन्ध स्वार्थके हैं। प्रेममें भी भोग ही रहता है। हमने बाप-बेटेको अदालतमें कटघरेमें खड़ा होते देखा है; माँ-बेटा, पति-पत्नी, भाई-भाई सब सम्बन्ध एवं प्रेम स्वार्थमूलक हैं।

सम्बन्ध और प्रेमसे होनेवाला दुःख कहाँसे निकलता है? यह सम्बन्धियोंमें से नहीं मैं-मेरेपनके भावमेंसे निकलता है। यही अध्यास है।

सम्बन्धी मेरे, वस्तुयें मेरी, देह मेरी, इन्द्रियाँ मेरी, मन मेरा, बुद्धि मेरी, संस्कार मेरा, इष्ट मेरा—यह सब अध्यास है। मैं पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, विद्वान्-मूर्ख, दुर्बल-बलिष्ठ, ऐश्वर्य-वान्, ऐश्वर्यहीन, ब्राह्मण-शूद्र, गृहस्थी संन्यासी—ये भी सब अध्यास हैं। यही अविद्या है।

अध्यास न आत्मामें है न अनात्मामें, अपितु बुद्धिमें है। उसी बुद्धिका संशोधन करना वेदान्त-विचारका इष्ट है।

अध्यास माने बुद्धिका खेल। गीताप्रेसमें एक सज्जन थे। बड़े विद्वान्। उन्होने 'गाँधीजीके साथ सात वर्ष' नामक पुस्तक लिखी है। अंग्रेजीके भी बड़े लेखक। एक दिन डाक्टरने उनकी जाँच की और बता दिया कि उन्हें टी. बी. है। वे वहाँ से उठे और जाकर सो गये। अब तो वे मृत्युके भयसे ग्रस्त हो गये। आखिर एक बड़ा डाक्टर बुलाया गया। उसने उनसे कहा कि टी. बी. नहीं है। उसके बाद वे यथापूर्व कार्य करने लगे।

दुनियामें दुःख सोलह-आना मानसिक है। दुनियामें जिसे दुःख कहते हैं वह सबका सब बुद्धिका अपराध है।

प्रज्ञापराधो ह वै एष दुःखमिति ।

जब आप दुःखी होते हैं तो आप किसी न किसी चीजको छोड़नेमें हिचक रहे होते हैं। 'इसके बिना हम कैसे जीयेंगे !' यह चिन्ता आविद्यक है। असलमें आपका जीना पराधीन नहीं है। बाहर-बाहरसे जितना ज्ञान आपमें ढूँसा गया है—हम आपके बड़े प्रेमी, बड़े स्नेही—वही सब दुःखका हेतु है।

अध्यासमें अनर्थरूपता है और अविद्यामें अनर्थहेतुता।

अच्छा, आप अध्यासकी ही निवृत्ति करो, क्योंकि आप कह सकते हैं कि अविद्या (अज्ञान) में कोई दुःख नहीं है। सुषुप्तिमें कोई दुःख नहीं रहता है और अविद्या रहती है। लोग दुःख दूर करनेके लिए दवा खाकर अज्ञानमें जाते हैं, परन्तु सुषुप्ति या बेहोशीसे उठने पर दुःख ज्योंका-त्यों रहता है। इसलिए जब तक अविद्याकी निवृत्ति नहीं होगी तब तक सदैवके लिए दुःख बिदा नहीं हो सकता। इसीलिए वेदान्तका जोर अविद्या-निवृत्ति पर रहता है। क्योंकि हेतुके अभावमें अध्यासजन्य दुःख तो स्वयमेव निवृत्त हो जायेगा।

अविद्याको अविद्या क्यों कहते हैं ? विद्यासे निवर्त्य होनेके कारण :

विद्यानिवर्त्यत्वात् अविद्या इति उच्यते ।

विद्याके अभावका नाम अविद्या नहीं है। अविद्या अभावरूप नहीं है। अविद्या भी विद्याकी भाँति ही भावरूप है, परन्तु विद्या-से विरोधी स्वभावकी है और विद्या द्वारा निवर्त्य है। 'अहम् अज्ञः' यह अविद्या-वृत्ति है और 'अहं ब्रह्मास्मि' यह विद्या-वृत्ति है। एक ही अधिकरणमें परस्पर विरोधी वृत्तियाँ हैं ये। अज्ञानवृत्ति ज्ञानवृत्तिसे निवृत्त हो जाती है।

यदि कहो कि हम अविद्याको धर्म या उपासना या समाधिसे निवृत्त कर लेंगे उसमें वेदान्त विचारकी क्या आवश्यकता है ? तो ऐसी वात नहीं। आगेके प्रमाण-प्रकरणमें भगवान् भाष्यकार यह बतानेवाले हैं कि लौकिक तथा शास्त्रीय सभी प्रवृत्तियाँ अध्यासमूलक ही हैं, अतः उनसे अध्यासके कारण अविद्याकी निवृत्ति शक्य नहीं है। अविद्याकी निवृत्तिके लिए तद्विरोधी विद्यावृत्ति चाहिए और वही वेदान्तविचारसे प्राप्त होती है। समाधिमें वृत्ति ही नहीं रहती तो विरोध-वृत्ति कहाँसे आयेगी ? दूसरे सब साधनोंके फल कर्मज होनेसे अनित्य हैं, अतः उनसे सदैवके लिए अविद्या निवृत्त नहीं हो सकती, भले ही थोड़े काल-के लिए स्तम्भित हो जाय।

अब विद्याका लक्षण करते हैं :

तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्याम् आहुः।'

'इसके विवेकके द्वारा वस्तु-स्वरूपके निश्चयको विद्या कहते हैं।'

विवेक किसका ? आत्माका अनात्मासे। वस्तुस्वरूपावधारण किस वस्तुका ? आत्माका। अर्थात् प्रथम आत्माको अनात्मासे विविक्त करके द्वितीय उस आत्माके वास्तविक स्वरूपका वुद्धिमें अवधारण—निश्चय, यह विद्या है।

आत्मविवेककी चार कक्षायें है :

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मात् आत्मेति कीर्त्यते॥

(१) 'यच्चाप्नोति' प्रथम कक्षा है।

यद्वस्तु जाग्रदवस्थायां अन्तःकरणम्
इन्द्रियाणि विषयांश्च आप्नोति व्याप्नोति।

जो वस्तु जाग्रत् अवस्थामें अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें व्याप्त होकर विषयोंका सेवन करता है वह आत्मा है। इन्द्रियोंवाला, अन्तःकरणवाला, देहवाला, जो जाग्रत् अवस्थामें चेतन है वह आत्मा है। यह प्रथम विवेक है। यही आत्मा एक शरीरमें विश्व है और समष्टिमें विश्वात्मा या विराट् है।

(२) **'यदादत्ते'** द्वितीय कक्षा है।

अन्तःस्थान् विषयान् एव आदत्ते।

जो स्वप्नावस्थामें भीतर ही विषयोंको, देहको, इन्द्रियोंको, अन्तःकरणको ग्रहण करता है वह आत्मा है। यह द्वितीय विवेक है। यही आत्मा एक शरीरमें तैजस कहलाता है और समष्टिमें हिरण्यगर्भ कहलाता है।

(३) **'यच्चात्ति विषयानिह'** तीसरी कक्षा है।

जो सुषुप्तिकालमें सबको खा जाता है और स्वयं प्रकाशित रहता है (जैसे मकड़ी अपने जालेको स्वयं निगलकर स्थित रहती है) वह आत्मा है। यह विवेकको तीसरी श्रेणी है। यही आत्मा एक शरीरमें प्राज्ञ और समष्टिमें ईश्वर कहलाता है।

(४) **'यच्चास्य सन्ततो भावः'** चौथी कक्षा है।

जिसका भाव जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें बना रहता है, जो विश्व, तैजस, प्राज्ञ रूप सोपाधिक आत्माओंमें व्यापक है, जो विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वरमें ओत-प्रोत है, जो अवस्था और उपाधियोंसे अतीत है, जिसमें ये अवस्थायें और उपाधियाँ आती जाती रहती हैं। जो इनके भावाभावका प्रकाशक है, वह इन तीन-तीनसे विलक्षण तुरीय तत्त्व चेतन ब्रह्म है। वही आत्माका वस्तु-स्वरूप है। **'स आत्मा स विज्ञेयः'** यह माण्डूक्यकी श्रुति है।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति स्वयं कालावस्थायें हैं तथा इनका भेदक भी काल है। कार्य-कारणका भेदक काल है, व्यष्टि-समष्टिका भेदक देश है और व्यष्टि-व्यष्टिका भेदक वस्तु है। हमारा समूचा अनुभव इन्हीं देश-काल-वस्तुकी सीमामें बँधा है। परन्तु विचार यह करना चाहिये कि ये देश, काल, वस्तु किसमें हैं, किसको इनका अनुभव होता है? क्या ये स्वयंमें स्वयं-सिद्धियाँ हैं अथवा इनका अधिष्ठान और इनका प्रकाशक इनसे भिन्न है? क्या प्रकाशक और अधिष्ठान दो हैं या एक? यदि एक हैं तो अनेकता क्यों और दो हैं तो इनका भेदक क्या है? विवेकका यही स्वरूप है।

ये देश, काल और वस्तु सब 'मैं'को ही ज्ञात होते हैं, 'मन' रहते हुए ही ज्ञात होते हैं, सुषुप्तिमें मनके लीन हो जानेपर ज्ञात नहीं होते; अतः इनकी सत्ता 'मन'की सत्तासे अभिन्न है। या तो मन देश, काल और वस्तुका परिणाम हो अथवा देश, काल और वस्तु मनके परिणाम हों अथवा दोनों किसी तीसरी वस्तुके परिणाम हों। वह तीसरी वस्तु यदि जड़ होगी तो 'मैं'का दृश्य होगी और चेतन होगी तो 'मैं'से अभिन्न होगी।

श्रुति कहती है कि देश, काल और वस्तु जिस अधिष्ठानमें प्रतीत होते हैं वह चेतन है। उसको ईश्वर कहते हैं। वही 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें 'तत्' पदका वाच्यार्थ है। और देश, काल और वस्तु जिसको प्रतीत होते हैं, जो देश, काल और वस्तुका प्रकाशक हैं, 'मैं' वह चेतन है। उसको आत्मा कहते हैं। वही 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें 'त्वं' पदका वाच्यार्थ है।

अब तत् और त्वं दोनों चेतन हैं और उनमें भेद देश, काल, वस्तुकी कार्य-कारणताका है। अतः इन कार्य और कारणकी

उपाधियोंका निषेध कर देनेपर जो तत् है वही त्वं है और जो त्वं है वही तत् है। फिर बीचमें देश, काल, वस्तु भी तदभिन्न ही है।

देशकाल-वस्तुकी कल्पनाका प्रकाशक और अधिष्ठान एक ही चैतन्य है। वह सत् होनेसे अधिष्ठान है और चित् होनेसे प्रकाशक। जो सत् है सो चित् है और जो चित् है सो सत् है। इसका विवेक करो।

बुद्धि और आत्माका विवेक करो। बुद्धि-आदिका प्रकाशक एक है। व्यष्टि-समष्टिका प्रकाशक भी वही एक है। व्यष्टि और समष्टि दोनों बुद्धियाँ हैं। कार्य-कारण दोनों बुद्धियाँ हैं। आप अपनी बुद्धिपर भरोसा करते हैं? आश्चर्य है? दस बरसकी उम्रमें बुद्धिने जो निर्णय दिया वह १६ बरसकी उम्रमें नहीं रहा और जो १६ बरसकी उम्रमें निर्णय दिया वह ३० बरसपर नहीं रहा। उसपर भी तुर्रा यह कि आप कहते हैं 'दूसरोंकी बुद्धिपर विश्वास मत करो, यह अन्धविश्वास है।' आपकी अपनी बुद्धि ही कौन गंगा नहाई हुई है?

आप जरा बुद्धिसे ही अलग हो जाओ—अपनीसे भी और दूसरोंकी बुद्धिसे भी। जरा विवेक करो कि आप बुद्धि-मात्रके साक्षी हैं। बुद्धियाँ सारी आपमें ही सोती हैं और जागती हैं। बुद्धि दृश्य, जड़, परिणामिनी और विकारी है और आप स्वयंप्रकाश, द्रष्टा, चेतन और कूटस्थ हैं। आप अदृष्ट द्रष्टा हैं, अश्रुत श्रोता हैं, अमत मन्ता है, अविज्ञात ज्ञाता हैं। श्रुतिका वचन है:

अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ, अमतं मन्तृ, अविज्ञातं ज्ञातृ।

जरा बुद्धिसे अपना विवेक करो! तुम बुद्धिके पीछे बैठे बुद्धिको देखते हो। जब तुम बुद्धिमें अपने आपको डालते हो तब बुद्धि एतावन्मात्र देखती है अथवा उसमें बाहरसे आयी हुई चीजोंको देखती है। इसका भी विवेक करो कि बुद्धिमें बाहरसे क्या आ

गया है ? वह आगन्तुक बनावटी चीजे क्या हैं ? क्या बात बाहरके संस्कारसे मान ली है ? किसकी देख सुनकर क्या माना गया है ? यह छूतकी बीमारी तुम्हारी बुद्धिमें कितनी बनावट और कितनी स्वाभाविक है ? स्वाभाविकमें कितना स्वरूप है और कितना परिवर्तनशील है ? यह विचार करो। तुम साक्षी हो न। विवेककर सकते हो।

बुद्धि संस्कृत, विकृत हो सकती है परन्तु अपना आपा न संस्कृत है न विकृत और न व्याकृत-अव्याकृत। क्योंकि सब व्याकृत-अव्याकृत इसीसे प्रकाशित हैं। बुद्धि कभी कहीं कुछ रहती है परन्तु आत्मा सर्वत्र सर्वदा एकरस रहता है। अपना आत्मा सबसे अलग, सबका प्रकाशक, सबका अधिष्ठान, स्वयंप्रकाश चिन्मात्र है—इस विवेकका ठीक-ठीक ग्रहण न होना ही अविद्या है और ठीक-ठीक ग्रहण होना विद्या है। विद्यासे अविद्या नष्ट हो जाती है।

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि **तद्विवेकेन वस्तु स्वरूपावधारणं विद्याम् आहुः** अर्थात् उसके विवेक द्वारा वस्तुके स्वरूपका यथार्थ अवधारण विद्या कहलाती है। एक वस्तुस्वरूप और एक उसका अवधारण, ये दो अलग-अलग वस्तुयें नहीं हैं। 'वस्तुस्वरूपावधारणम्'में कर्मधारय समास है, तत्पुरुष समास नहीं है। पञ्चपादिका, विवरण, भामती, न्यायनिर्णय, किसीमें भी यहाँ तत्पुरुष समास नहीं माना गया। सबने कर्मधारय ही माना है :

वस्तु स्वरूपं च तदवधारणं च वस्तुस्वरूपावधारणम्।
वस्तु स्वरूपसे अभिन्न जो वस्तुस्वरूपका निश्चय है वह वस्तुस्वरूपावधारण है। दृश्य वस्तुके सम्बन्धमें दृश्य बाहर रहता है और उसके स्वरूपकी अवधारणा भीतर मनमें होती है, परन्तु द्रष्टा अथवा आत्मा अथवा ब्रह्मके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं हो सकती।

उसका स्वरूप और उसका निश्चय (ज्ञान) पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ब्रह्म और ब्रह्मविद्या दोनों एक हैं।

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥

'जिसने ज्ञेय आत्मा से अभिन्न आकाश सदृश ज्ञानसे आकाश-सदृश जीवोंको जाना है उस पुरुषोत्तमको नमस्कार करता हूँ'। (गौड़पादीयकारिका अलातशान्ति—१)

उक्त श्लोकमें गौड़पाद दादाने ज्ञेय और ज्ञानकी एकता बतायी। गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने **'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'** से यही बात बतायी है। 'यत् ज्ञेयं तत् ज्ञानं, यत् ज्ञानं तद् ज्ञेयम्'। जो ज्ञेय है सो ज्ञान है और जो ज्ञान है सो ज्ञेय है। यह ज्ञेय आत्माका वाचक है।

इस प्रकार जो 'वस्तु'का स्वरूप है वही उसके स्वरूपका अवधारण है और जो उसका अवधारण है वही उसका स्वरूप है। इसीका नाम विद्या है कि 'मैं ही हूँ स्वयंप्रकाश चेतन वस्तु और मैं ही हूँ उसका ज्ञान।'

विद्या अविद्याको निवृत्त कर देती है परन्तु यह निवृत्ति भी अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे, आत्मासे, पृथक् नहीं होती। श्री सुरेश्वराचार्य कहते हैं :

निवृत्त आत्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।

अविद्याकी निवृत्ति कोई अवस्था नहीं है। यह निवृत्ति किसी देशकालमें नहीं रहती। जैसे घड़ेका फूटना मृत्तिकासे भिन्न नहीं होता, वैसे ही अज्ञाननिवृत्ति भी ज्ञानसे, ब्रह्मसे, अलग नहीं होती।

यह निवृत्ति भी कोई रहस्य नहीं है। सत्तायें दो प्रकारकी हैं : एक वाध्यमान और एक अबाध्यमान। पुस्तक 'है' भी और 'नहीं' भी हो सकती है। वर्तमानमें है और अपने प्रागभावमें और प्रध्वंसाभावमें नहीं है। परन्तु पुस्तकका द्रष्टा सदैव 'मैं' है, क्योंकि वह पुस्तकके भाव और अभाव (है और नहीं) दोनोंका साक्षी है। शङ्कराचार्य भगवान्‌का यह सूत्र ही है कि : **'नहि कश्चित् प्रतीयात् नाहमस्मीति'**—कभी किसीको यह प्रतीति नहीं हो सकती कि 'मैं नहीं हूँ'। इसीसे दृश्यसत्ता जितनी भी है वह वाधित विद्यमान है और सम्पूर्ण विश्वका द्रष्टा 'मैं' अबाधित विद्यमान है। इसी प्रकार दृश्य-प्रपञ्चकी भासमानता बाधित भासमानता है और साक्षीकी भासमानता अवाधित है। पुस्तकका भान हो, न हो, परन्तु अपनी भासमानता सर्वदा अबाधित रहती है। भानका मिटना भी आत्मभानसे ही सिद्ध होता है। दृश्य प्रपंचकी प्रियता भी वहती हुयी है, वाधित है। कोई वस्तु कभी प्रिय तो कभी अप्रिय होती है, परन्तु अपना आपा सदैव ही अबाधित प्रिय है।

इस प्रकार जगत् वाधित विद्यमान, वाधित भासमान और बाधित प्रिय है और आत्मा अवाधित विद्यमान, अबाधित भासमान और अबाधित प्रिय है। जो वाधित भासमान है वह जगत् व्यवहार्य है और जो आत्मा 'मैं' अबाधित भासमान है वह परमार्थ है। व्यवहार वाध्यमान होनेसे मिथ्या है और परमार्थ 'मैं' अबाध्यमान होनेसे सत्य है। जो सत्य 'मैं' है वही 'है' जो मिथ्या है वह है ही नहीं। मिथ्या जगत् सत्य 'मैं'के बिना प्रतीत नहीं होता और सत्य 'मैं' विना मिथ्याके प्रकाशित रहता है। मिथ्या परतन्त्र है और सत्य 'मैं' स्वतन्त्र। बस इस सत्यका यथार्थ वोध—यही अविद्याका प्रतिभट विद्या है।

विद्यासे केवल अविद्या (अध्यास) की निवृत्ति हो जाती है और जगत्के व्यवहारका लोप भी नहीं होता। केवल बुद्धिमें ही हेरफेर होता है। वस्तुमें परिवर्तन करना ज्ञानका स्वभाव नहीं, केवल वस्तुके अज्ञानका नाश ही ज्ञानसे होता है। संसारमें सारे दुःखोंका कारण 'बेवकूफी' है। आत्मा जैसा है और अनात्मा जगत् जैसा है उनको वैसा न जानकर आत्मामें अनात्माका और अनात्मामें आत्माका अध्यास हो जाता है जिससे सब दुःखों और अनर्थोंकी प्राप्ति होती है। विद्यासे आत्माका और जगत्का जैसा सत्य और मिथ्या रूप है वैसा जानते ही अध्यास और उससे उत्पन्न दुःखोंकी समूल निवृत्ति हो जाती है और आत्माका सहज स्वातन्त्र्य, सहज आनन्द, सहज निर्भयता, सहज ज्ञान और सहज अद्वितीयता जीवनमें छा जाती है। यही अविद्या-निवृत्ति और उसका परिणाम है।

लोग कहते हैं: स्वामीजी, आप समझाते हैं तो समझमें आ जाता है, परन्तु सत्संगसे बाहर निकलते ही फिर संसार सिर पर सवार हो जाता है।

तो भाई मेरे! यह विचार करो कि जो चढ़ा और जिसके ऊपर चढ़ा वह तुम नहीं हो। लो हो गई छुट्टी। अपनेको मानते हो धरतीवाला, धनवाला, देहवाला, इन्द्रियवाला, मनवाला। फिर धरती, धन, देहके सुख, दुःख और बंधनसे छुट्टी कैसी ?

यहाँ बम्बईमें तो दारूवाला, ड्रेसवाला सब कुछ होता है। एक दिन हमारे यहाँ किसीका टेलीफोन आया: 'हेलो, मैं दारूवालासे मिलना चाहता हूँ'! हमने कहा 'यहाँ तो सत्संगवाला है दारूवाला नहीं और फोन रख दिया। वृन्दावनमें एक पागल है। वह झोलीमें सब कुछ डालता रहता है और रहता है गुदड़ीवाला।

यह जो आपने अपनेको गुदड़ीवाला बना रखा है; कहींकी ईंट कहींका रोड़ा जोड़कर तद्वान् बन गये हैं, इस वालापनको ही निकालना है। एक वार पक्का करके समझ लो। बस एक वार अपनी आत्माको ब्रह्म जान लिया तो फिर देह रहनेपर भी अविद्या नहीं लौटेगी। वुद्धि उल्टे हँसेगी, क्योंकि जब तुम कहोगे 'मैं देह हूँ' तो वुद्धि तुरन्त कहेगी 'यह वनावट है'। वुद्धि सदैव सत्यका पक्षपात करती है। घड़ीको लेकर लाख जप करो 'यह हीरा है, यह हीरा है,' घड़ी हीरा नहीं हो सकती, क्योंकि तुम्हारी वुद्धि उसको घड़ीरूपसे सत्य जानती है। अध्यासके अनुकूल बुद्धि मोहित है और वुद्धिके प्रतिकूल अध्यास निर्वन्धक होता है, क्योंकि उसका मिथ्यात्व सुनिश्चित है।

एक वार मैंने श्री उड़ियावावाजी महाराजसे पूछा, 'ध्यान किसका करें?'। वे बोले : 'भूख लगनेपर क्या खाना चाहिये यह नहीं पूछा जाता। येन केन प्रकारेण जिससे भूख मिट जाय वही खाना चाहिये। भोज्यका स्वरूप इष्ट नहीं है। ऐसे ही ध्यानकी वात है। जिस जातिका विक्षेप है उसी जातिके ध्यानसे विक्षेप दूर कर लेना चाहिये।'

मैंने कहा : महाराज ध्यान तो एक ही होना चाहिए! वे बोले : 'हाँ, गोलोक, वैकुण्ठ, साकेत, समाधिके लिए तो ध्यान एक ही होना चाहिये, परन्तु विचारवान्का ध्यान तत्काल दृष्ट दुःखकी निवृत्तिके लिए होता है अतः अनेक भी हो सकता है। जिस ध्यानके करनेसे प्राप्त विक्षेप मिट जाय और जिसके न करनेसे वह विक्षेप न मिटे वह ध्यान कर लेना चाहिये।'

असलमें सत्यके जान लेने पर मिथ्या कर्तृत्व, मिथ्या क्रिया, मिथ्या कर्म, मिथ्या कर्मफल तथा मिथ्या भोक्तृत्व कोई भी अलग-अलग अथवा एकसाथ मिलकर भी वोधवान्को वाँध नहीं सकते।

क्योंकि जो पदार्थ स्वरूपसे निर्बन्ध है, निरुपद्रव है, वह अन्यथा प्रतीत होने पर भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ सकता। अन्यथा-प्रतीति-कालमें भी वह निर्बन्धक और निरुपद्रव बना रहेगा।

आत्मा स्वभावसे ही मुक्त, स्वतन्त्र और ज्ञानस्वरूप है। अतः वह बद्ध, द्रष्टा या दृश्य या जड़ प्रतीत होने पर भी अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावको नहीं त्यागता। क्या रस्सी साँप दीखने पर विषैली हो जाती है? क्या उसमें दंश करनेका सामर्थ्य आ जाता है? नहीं। जहाँ अध्यस्त मिथ्या होता है वहाँ अधिष्ठान ही मिथ्यारूपमें प्रतीत होता है। अथवा जहाँ अध्यस्त मिथ्या है वहाँ अध्यस्तके प्रातीतिक गुणोंका अधिष्ठानके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

तत्रैवं सति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते। (भाष्य)

ऐसा होने पर अर्थात् अध्यासके अविद्यात्मक होनेपर और वस्तु-स्वरूपके निश्चयसे उसका नाश हो जाने की दशामें जिसमें जिसका अध्यास होता है, तत्कृत दोष या गुणके साथ उसका अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता।

यह जो तुम्हारी आत्मा है—जिसमें देश नहीं है और जिसमें देश स्वप्नके देशके समान फुरफुरा रहा है, जो काल की सीमामें कभी नहीं बँधता, काल ही जिसमें स्वप्नके कालकी तरह फुरफुरा रहा है, जो वस्तुओंके गुण-दोषसे अच्छा-बुरा नहीं होता, बल्कि वस्तुएँ ही जिसमें स्वप्नकी वस्तुओंकी तरह फुरफुरा रही हैं—ऐसे अधिष्ठान हो तुम! स्वयंप्रकाश ब्रह्म! अस्पर्शयागी हो तुम! ये अनहुयी वस्तुएँ हैं। जैसे स्वप्नके यज्ञसे पुण्य नहीं होता और पापसे पाप नहीं होता उसी प्रकार यह जो जाग्रत् अवस्थाके पाप-पुण्य हैं वे दिखाई पड़ते हैं परन्तु उनका आपको अबाध्यमान

सत्तासे कोई सम्बन्ध नहीं है। माने हुए सुख दुःख असली नहीं होते।

बौद्धोंका श्लोक है :

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥ (भामतीसे उद्धृत)

वस्तु जैसी है वैसी ही रहती है। तलवार मारनेसे आकाश कटता नहीं, आँख बंद कर लेनेसे प्रकाश मिट नहीं जाता। ऐसे ही बुद्धि जिसको सत्य जानती है वह किसी भी क्रिया, कारक और फलसे असत्य नहीं हो सकता।

आप चार घण्टे भूलमें रहो, सपनेमें रहो और एक मिनट यथार्थ ज्ञानमें रहो। तो सपना मिट जाता है कि नहीं? मिट जाता है। इसी प्रकार आप कभीके अज्ञानी सही, एक सेकिण्ड ब्रह्मका अनुभव कीजिए और हमेशा हमेशाके लिए मुक्त हो जाइये! क्योंकि लाख अध्यास होने पर भी सभी अध्यास आविद्यक हैं उनका आपके सत्य ब्रह्मस्वरूपके साथ अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता।

(५०)

अध्यास-भाष्य : ३

(प्रमाण-भाष्य)

मूल भाष्य :—

तत्रैवं सति यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न संबध्यते। तमेतम् अविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति? उच्यते देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति असंगस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते, तथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, 'हरिततृणपूर्ण-

पाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति; एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसम्बन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम्, अशनायाद्यतीतम्, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम्, असंसार्यात्मतत्त्वम् अधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा हि 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते।

अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा — पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान् मूकः, काणः, क्लीबः, वधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान्—कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्। एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य, तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

(ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य अध्यासभाष्य समाप्त)

अर्थ :—ऐसा होनेपर (अर्थात् अध्यास अविद्यात्मक होनेपर और वस्तु-स्वरूपका निश्चय होनेपर) जिसमें जिसका अध्यास होता है वह तत्कृत दोष अथवा गुणके साथ अणुमात्र भी सम्बन्धित नहीं होता। पूर्वोक्त इस अविद्या संज्ञक आत्मा और अनात्माके परस्पर अध्यासको सामने रखकर ही सब लौकिक और वैदिक प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार प्रवृत्त हुए हैं तथा विधि-निषेध-बोधक और मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं।

तो फिर अविद्यावाला प्रमाता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्रका आश्रय कैसे हो सकता है? इसपर कहते हैं—देह, इन्द्रियादिमें मैं-मेरा अभिमान रहित आत्माका प्रमातृत्व अनुपपन्न होनेसे उसमें प्रमाणकी प्रवृत्तिकी भी अनुपपत्ति होती है, क्योंकि इन्द्रियोंका ग्रहण किये बिना प्रत्यक्षादि व्यवहार सम्भव नहीं होते और शरीरके बिना इन्द्रियोंका व्यवहार सम्भव नहीं होता। अनध्यस्त आत्मभाववाले शरीरसे कोई व्यापार नहीं कर सकते। और उपर्युक्त इन सब अध्यासोंके न होनेपर असंग आत्मामें प्रमातृत्व उपपन्न नहीं होता, प्रमाताके बिना प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र अविद्वानोंका ही आश्रय करते हैं।

और पशु आदिके व्यवहारसे विद्वान्‌के व्यवहारमें विशेषता नहीं है। जैसे श्रोत्रादि इन्द्रियोंका शब्दादि विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर पशु आदि भी उन शब्दादिका ज्ञान प्रतिकूल होनेपर उधरसे निवृत्त होते हैं और अनुकूल होनेपर उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं। हाथमें डण्डा उठाये हुए किसी पुरुषको सन्मुख आते देखकर 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझकर पशु वहाँसे भागने लगते हैं और यदि हाथमें हरी घास पकड़ी हो तो उस व्यक्तिके प्रति अभिमुख होते हैं। वैसे ही लोक व्यवहारमें हम प्रायः

देखते हैं कि खड्ग हाथमें उठाये क्रूर दृष्टिसे ललकारते हुए बल-शाली पुरुषको देखकर विद्वान् लोग भी वहाँसे हट जाते हैं तथा उसके विपरीत स्निग्ध दृष्टिवाले मधुरभाषी सौम्य पुरुषके प्रति प्रवृत्त होते हैं। अतः पुरुषोंका प्रमाण-प्रमेयव्यवहार पशु आदिके समान है। और यह तो प्रसिद्ध ही है कि पशु आदिका प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्वक होता है। उनके साथ समानता देखनेसे विवेकी पुरुषोंका भी प्रत्यक्षादि व्यवहार व्यवहारकालमें पशु आदिके समान ही है, ऐसा निश्चय होता है।

शास्त्रीय व्यवहारमें तो यद्यपि देहसे भिन्न आत्माका स्वर्गादि लोकोंके साथ सम्बन्ध जाने बिना विवेकपूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष अधिकृत नहीं होता, तथापि उपनिषद्वेद्य, क्षुधा आदिसे अतीत, ब्राह्मण-क्षत्रियादि भेदशून्य, असंसारी आत्मतत्त्वकी कर्मके अधिकारमें अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसमें (आत्मतत्त्वकी) अनुपयोगिता है और अधिकारका विरोध है। इस प्रकार आत्म-ज्ञानसे पूर्व प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् पुरुषके आश्रयत्वका उल्लंघन नहीं करता। जैसे कि 'ब्राह्मण यज्ञ करे' इत्यादि शास्त्र-वाक्य आत्मामें वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था आदि विशेष अध्यासका आश्रय करके प्रवृत्त होते हैं।

अतद्में तद्बुद्धि अध्यास है—यह हम पहले कह चुके हैं। जैसे कि कोई पुत्र, स्त्री आदिके अपूर्ण या पूर्ण होनेपर 'मैं ही अपूर्ण या पूर्ण हूँ' इस प्रकार बाह्य पदार्थोंके धर्मोंका अध्यास करता है; तथा 'मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, गोरा हूँ, खड़ा हूँ, जाता हूँ, लाँघता हूँ' इस प्रकार देहके धर्मोंका अध्यास करता है और 'मैं मूक हूँ, काना हूँ, नपुंसक हूँ, बधिर हूं, अन्धा हूँ, इस प्रकार इन्द्रियोंके धर्मोंका अध्यास करता हैं तथा इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरणके धर्मोंका अपनेमें अध्यास करता है।

उसी प्रकार अहं-प्रत्ययवाले अन्तःकरणका अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके साक्षी प्रत्यगात्मामें अध्यास करके और उसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्माका अन्तःकरण आदिमें अध्यास करता है। इस प्रकार अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या ज्ञानरूप और आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका प्रवर्तक अध्यास सर्वजन प्रत्यक्ष है।

इस अनर्थके हेतुभूत अध्यासकी समूल निवृत्तिके लिए तथा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की प्रतिपत्तिके लिए सब वेदान्तोंका आरम्भ होता है। जिस प्रकारसे सब वेदान्तोंका यह ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्रयोजन है उसे उसी प्रकार हम यहाँ शारीरक मीमांसामें दिखलायेंगे।

(५. १)

प्रमाण-भाष्य की अवतारणा

आत्मामें जो अनात्मप्रतीति हो रही है उसको अध्यास मानने-का क्या प्रयोजन है? तथा इस अध्यासमें प्रमाण क्या है? इस पर भगवान् भाष्यकारका कथन है कि अध्यस्त वस्तु अधिष्ठानके अपरोक्ष ज्ञानसे निवृत्त हो जाती है, यह मोक्ष-सिद्धि ही अध्यासका प्रयोजन है तथा लौकिक और वैदिक सभी व्यवहारोंका कारण यह अध्यास ही है; अतः अध्यास प्रत्यक्षसिद्ध है :

तत्रैवं सति यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न संबध्यते। तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। (भाष्य)

शब्दार्थः—जिसमें जिसका अध्यास होता है, तत्कृत दोष अथवा गुणके साथ अणुमात्र भी वह सम्बन्धित नहीं होता। पूर्वोक्त इस अविद्यासंज्ञक आत्मा और अनात्माके परस्पर अध्यासको आगे रखकर ही सब लौकिक और वैदिक प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयके व्यवहार प्रवृत्त हुये हैं और विधिपरक, निषेधपरक और मोक्षपरक शास्त्र भी प्रवृत्त हुये हैं।

व्याख्याः—अधिष्ठान और अध्यस्त अलग-अलग दो वस्तुयें नहीं है, इनके लक्षण अलग-अलग हैं।

यद् यस्मिन् अध्यस्तं तद् ततः किंचिदपि न भिद्यते।

जिसका जिसमें अध्यास होता है वह उससे बिलकुल अलग नहीं होता। परन्तु उसकी स्वतन्त्रसत्ताके भ्रमको मिटानेके लिये अधिष्ठान और अध्यस्तका विवेक करना पड़ता है।

अस्ति (है-पना) दो तरहका मालूम पड़ता है :

(१) मालूम तो पड़े परन्तु फिर न रहे, गहराईमें जाने पर न रहे, वस्तुके स्वरूप पर विचार करने पर न रहे। भासे तो सही, परन्तु जब जहाँ जिसमें भासे तब वहाँ उसमें न हो। प्रिय तो मालूम पड़े, परन्तु उससे पहिले पीछे प्रिय न हो, गहराईमें घुसनेपर प्रिय न हो। ऐसी सत्ताको अध्यस्त कहते हैं। अध्यस्तके मिथ्यात्वका निश्चय हो जाना शक्य है।

(२) विद्यमान हो, भासमान हो, प्रिय हो और उसकी विद्यमानता, भासमानता और प्रियताका किसी भी प्रकार किसी भी अवस्थामें मिथ्यात्व निश्चय न हो। ऐसी सत्ता सत्य होती है। सत्यमें ही मिथ्या वस्तु कल्पित होती है।

जो अध्यस्त है सो मिथ्या है। वह मिथ्या जिसमें प्रतीत होता है वह उस अध्यस्तका अधिष्ठान है। अनात्मा मिथ्या है, अध्यस्त है और आत्मा सत्य है और उसका अधिष्ठान है।

अधिष्ठानसे भिन्न अध्यस्तकी कोई स्थिति नहीं है जबकि अध्यस्तसे भिन्न अधिष्ठान 'है'। वास्तवमें अधिष्ठान ही अध्यस्त-रूपसे प्रतीत होता है।

ऋग्वेदमें एक प्रश्न उठाया : ईश्वरने जब सृष्टि की थी तब वह खुद कहाँ बैठा था ? वह कौन सा मसाला था जिससे उसने द्यौ, पृथ्वी आदिकी रचना की ?

किंस्वित् कतमत् अधिष्ठानम् आरम्भणम् ?

इसके उत्तरमें दूसरा मन्त्र है :

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्
सबाहुभ्याम् धमति सं पतत्रैर् द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।*

(ऋग्वेद १०।८१।३)

वह परमेश्वर अद्वितीय था। उसका कोई मददगार नहीं था। न कहीं वह बैठा था, न कुछ मसाला था उसके पास। उसने अपने आपमें ही सब बनाया, अपने आपसे ही सब बनाया, स्वयं ही सब कुछ बन गया। न कालकी मदद ली जो सृष्टिके रूपमें परिणामको प्राप्त होता; न देशको मदद ली कि सृष्टि विस्तारको प्राप्त होती; न वस्तुकी मदद ली कि सृष्टि अपने बीजमेंसे निकलती। 'एकः असहायः अद्वितीयः' था वह।

इस मन्त्रका उद्गीथ-भाष्य देखा, वेंकटनाथका भाष्य देखा, स्कन्दस्वामीका भाष्य देखा, सायणाचार्यका भाष्य देखा और निरुक्त-भाष्य देखा। सबका एक ही तात्पर्य है कि सर्वका उपादन वही एक अद्वितीय है और सर्व उसीमें है। इसका तात्पर्य यह है कि परमेश्वरके सिवाय 'सर्व' कुछ नहीं है।

एक अनेक भास रहा है। अशरीरी शरीर भास रहा है। पूर्ण परिच्छिन्न भास रहा है। अकाल क्षण-क्षण भास रहा है। आत्मा अनात्माके रूपमें भास रहा है। चेतन जड़के रूपमें भास रहा है। सत् असत्के रूपमें भास रहा है। आनन्द दुःखके रूपमें भास रहा है। यहाँ अनेकता नहीं है, कार्य-कारणभाव नहीं है।

हे भगवान्! क्या विचित्र लीला है! जो मालूम पड़ता है वह

---

* वही, जिसके चारों ओर चक्षु हैं, चारों ओर मुख हैं, चारों ओर बाहु हैं और चारों ओर पाद हैं; वही एक परमेश्वर द्यौ और पृथ्वीकी रचना करता हुआ अपनी भुजाओं से पंखोंको भाँति उनको धारण करता है।

असली वस्तु नहीं है, और जो असली वस्तु है वह मालूम पड़ती हुई भी नहीं मालूम पड़ती।

शरीरका जन्म-मरण, इन्द्रियोंका परिश्रम, प्राणकी भूख-प्यास, मनका संकल्प-विकल्प, बुद्धिका निश्चय-अनिश्चय तथा उसका यथार्थ-अयथार्थ—यह सब प्रतीत होता है, इसलिये उसमें कुछ असलियत नहीं है। उन सबका होना, भासना और प्रियत्व तुम्हारा अपना होना, भासना तथा प्रियत्व नहीं है। उल्टे तुम्हारी अपनी सत्-चित्-आनन्दरूपता ही औपाधिकरूपसे उनकी अस्ति, भाति और प्रियताके रूपमें भास रही है। इसलिये निर्द्वन्द्व रहो। वह सब मायाकी प्रतीतियाँ तुम्हें छू नहीं सकतीं। तुम भूत होकर प्रपञ्चमें निविष्ट हो नहीं सकते और प्रपञ्च चुड़ैल होकर तुम्हें लग नहीं सकती। यह बिलकुल पक्की बात है कि अध्यस्तका दोष-गुण अधिष्ठानमें और अधिष्ठानकी नित्यता, ज्ञानस्वरूपता और आनन्दरूपता अध्यस्तमें कभी व्याप नहीं सकती। इसलिये मस्त रहो। विवेकका यही फल है और इसी विवेकके न होनेपर इतरेतराध्यास होता है। अर्थात् आत्मामें अनात्मधर्मोंका अध्यास और अनात्मामें आत्माके धर्मोंका अध्यास अविद्यासे मनुष्य करते हैं। इसको अन्योन्याध्यास भी कहते हैं।

इसके आगे जो श्रीशंकराचार्य भगवान् कहने जा रहे हैं वह एकदम मौलिक बात है तथा निरूपण-शैली भी एकदम मौलिक है। वे कहते हैं: 'पूर्वोक्त इस अविद्या नामसे प्रसिद्ध आत्मा और अनात्माके अन्योन्याध्यासको सामने रखकर ही सारे प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार प्रवृत्त हैं चाहे वे लौकिक हों अथवा वैदिक हो तथा विधि-निषेध और मोक्ष परक शास्त्र भी इसी हेतुसे प्रवृत्त होते हैं।' यह कथन एकदम वज्र है!

इतरेतराध्यास या अन्योन्याध्यास दोनोंका एक ही अर्थ हैं:

इतरका इतरके साथ अध्यास अथवा अन्यका अन्यके साथ अध्यास। यह अध्यास ही अविद्या है।

आपको मालूम होगा कि न्याय-शास्त्र भ्रमको और प्रमाको परस्पर विरोधी मानते हैं :

प्रमाभ्रमाभ्याम् निखिलोऽपि लोकः

कहीं 'प्रमा' अर्थात् यथार्थ ज्ञान होता है और कहीं 'भ्रम' अर्थात् भूल होती है। इसीसे लोक-व्यवहार चलता है। जहाँ प्रमा होगी वहाँ भ्रम नहीं होगा और जहाँ भ्रम होगा वहाँ प्रमा नहीं होगी। इसलिये भ्रमको निवृत्त करनेके लिये प्रमाकी जरूरत होती है।

प्रमाका अर्थ है यथार्थ ज्ञान अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही अनुभव करना, प्रमाणके फलको प्रमा कहते हैं :

प्रमाणफलं प्रमा तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः

इसके विपरीत भ्रमका अर्थ है : जो वस्तु जैसी है उसे उसके विपरीत समझना। स्त्रीमें, धनमें, पुत्रमें, यशमें सुखका अनुभव होता है और उनमें सुखका तारतम्य भी देखनेमें आता है, क्योंकि अधिक या उत्तम सुखके लिये छोटे या हीन सुखोंका त्याग देखा जाता है। परन्तु विषयोंमें सुखका जो ज्ञान है वह प्रमा है या भ्रम ? भोगते समय तो वह प्रमा ही अनुभूत होता है परन्तु ज्यों-ज्यों भोग क्षीण होता जाता है विषयकी पराधीनता एवं दुष्परिणाम सम्मुख आते जाते हैं और विषयोंकी सुखरूपता भ्रम बन जाती है।

इस प्रकार न्याय-शास्त्रमें अविद्याको भ्रम कहते हैं और विद्याको 'प्रमा'। प्रमासे भ्रम निवृत्त हो जाता है।

योग-दर्शनमें अविद्याका लक्षण किया गया है कि :

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

(योगदर्शन २.५)

'अनित्यमें नित्य-बुद्धि, अशुचिमें शुचि-बुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धि, आत्मामें अनात्म-बुद्धि ऐसी ख्यातिका नाम अविद्या है ।'

यह वेदान्तके 'अध्यास'का ही परिवर्तितरूप है। देह अनित्य है, अपवित्र है, दुःखरूप है तथा आत्मा (मैं) नहीं है तथापि इसीको मनुष्य नित्य, पवित्र, सुखरूप और आत्मा समझता है— यही अविद्या है ।*

योगदर्शनकार आत्मामें अनात्मबुद्धिको अविद्या नहीं कहते, अनात्मामें आत्मबुद्धिको ही अविद्या कहते हैं। नित्य, पवित्र, सुखरूप और आत्माकी अनित्य, अपवित्र, दुःखरूप और अनात्माके रूपसे जो ख्याति है वह विपर्यय-वृत्तिके अन्तर्गत है। वह मिथ्या ज्ञान है ।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । (योगदर्शन १.८)

वेदान्तमें योगके दोनों विपर्यय अध्यासके अन्तर्गत हैं और यही अध्यास अविद्या है ।

अब योगमें अविद्या कैसे निवृत्त होती है ? तो पहले समाधि लगाकर अपनेको चित्तकी निरुद्ध दशाका द्रष्टा अनुभव करें, तब

---

* विचार यह करना चाहिये कि क्या देह स्वरूपसे ही अपवित्र है ? दाँत मुँहमें रहता है तो पवित्र और बाहर रहे तो अपवित्र ! मल-मूत्र भीतर रहे तो पवित्र और बाहर रहे तो अपवित्र ! शरीर जब तक चलता है तो पवित्र और मर गया तो अपवित्र ! विचार करनेपर ज्ञात होगा कि जिन पदार्थोंमें मैं-भाव (आत्मभाव) लग जाता है वे भाव-संसर्गसे ही पवित्र हो जाते हैं, क्योंकि 'मैं' (आत्मा) ही वास्तवमें पवित्र है ।

पुरुष-ख्याति होकर, गुणमयी सृष्टिसे वैराग्य-पूर्वक अपने द्रष्टा-स्वरूपमें स्थिति होगी।

सांख्यमें पुरुष और प्रकृतिका अविवेक ही अविद्या है और उनका विवेक ही विद्या है।

इस प्रकार प्रमा और भ्रम, अविद्या और आत्मख्याति, अविवेक और विवेक परस्पर विरुद्ध हैं।

इतरेतराध्यास उपर्युक्त सब अविद्याओंसे विलक्षण है और जीवनकी वास्तविकता है। अपना आपा शरीर पर चढ़ बैठा और शरीर आत्मा पर चढ़ बैठा, आत्माके नित्यत्वादि धर्म अनात्मा पर और शरीरके अनित्यत्वादि धर्म आत्मा पर अध्यारोपित हो गये। बस यही अध्यास हो गया।

बड़ा भारी अध्यास होता है यह! मरनेके दिन तक भी यह ख्याल नहीं होता कि हम मरेंगे, क्योंकि असलमें तो हम अमर हैं। अन्य देहधारियोंके मरते हुए शरीरोंको देखकर हमने एक मृत्युका भय तो दिलमें बसा लिया है, परन्तु वस्तुतः स्वीकृति नहीं दी है तभी ऐन मरनेके समय तक भी मृत्युका विचार नहीं होता। अपने मृत्युकी कल्पना ही नहीं होती। देहसे तादात्म्य कर लिया तो मान लिया मरनेवाला। यह देह और देहके विकार, इन्द्रियाँ और उनका श्रम, प्राण और उनकी भूख-प्यास, मन और उसके संकल्प-विकल्प, बुद्धि और उसके निश्चय-अनिश्चय और सम्पूर्ण अभिमान—सबके सब अध्यस्त हैं। इनको जब अपनेमें मिथ्या प्रतीयमान जान लेते हैं तथा स्वयंको अबाधित अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म अनुभव कर लेते हैं तब वही विद्याके अंग बन जाते हैं।

मैं नहीं हूँ, अथवा मैं जड़ हूँ अथवा मैं अपना अप्रिय हूँ—यह कभी कोई अनुभव नहीं कर सकता! चुनौती है, यह कभी अनुभव

हो ही नहीं सकता। यदि अनुभव हो रहा है तो अपने नास्तित्व, जड़त्व एवं अप्रियत्वका अनुभवकर्ता 'मैं' चेतन है, और यदि अनुभव नहीं हो रहा है तो इस अनुभवका अनुभव जिसको हो रहा है वह चेतन है वास्तविकता यही है कि अपनी सत्ता-चित्ता-प्रियताको दृश्यमें आरोपित करके तथा दृश्यकी म्रियमाणता, जड़ता एवं अप्रियताको अपनेमें आरोपित करके मनुष्य दुःखी हो रहा है। इससे बचनेका उपाय है विचार! लोग विचारको सुलाकर सुखी होना चाहते हैं। जो कहता है कि आँख बन्द करके सुखी हो जाओगे, विचारकी क्या आवश्यकता है, वह कहीं आपकी जेबसे कुछ निकालना तो नहीं चाहता? विचारका तिरस्कार क्यों? फिर तो नीदकी गोलियाँ खाकर गम-गलत क्यों न कर लिया जाय!

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते

अविचारसे बन्धन होता है और विचारसे निवृत्त हो जाता है।

एक व्याख्यानदाता व्याख्यान दे रहे थे: 'भाइयों और बहिनो! अब व्याख्यान सुनने-सुनानेका समय नहीं है, काम करनेका समय है!' किसीने कहा: 'फिर आप व्याख्यान क्यों दे रहे हैं?' वे बोले: 'व्याख्यान देना भी तो काम है। यह वाणी-का कर्म है।'

जो लोग कहते हैं 'विचार मत करो, कुछ करो' वे न तो यह समझते हैं कि विचार भी कर्म है और न वे विचारके महत्त्व-को ही समझते हैं। विचारमें तप है, साधना है, सत्यका ग्रहण है, असत्यका त्याग है, विद्याका ग्रहण है और अविद्याका नाश है। मशीनको पहले कर्म दिया जाता है, मनुष्यको पहले ज्ञान दिया जाता है और फिर कर्म। कर्म तो ज्ञानानुसारी होता ही है।

ईश्वर-कृपासे आप मनुष्य हैं मशीन नहीं। अतः विचार करें। इसीलिए कहा है : **वचनं ज्ञापकं न तु कारकम्।**

विचारमें पक्षपात नहीं होता। मनुष्य पक्षधर होनेसे पक्षी हो जाता है, मनुष्य नहीं रहता। श्रीशङ्कराचार्य भगवान् जब तत्त्वका निरूपण करते हैं तो पक्षपात रहित होकर, क्योंकि तत्त्व अव्यवहार्य्य है। इसीलिए वह निडर होकर घोषणा करते हैं कि 'सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार तथा सम्पूर्ण विधि-निषेधमय और मोक्षपरक शास्त्र अध्यासको स्वीकार करके ही उपपन्न होते हैं।' शङ्करके इस वाक्यकी तुलना किसी भी सम्प्रदायाचार्यके किसी भी वाक्यसे नहीं हो सकती। यह एकदम मौलिक है। आप इस बातका रहस्य समझें।

यह न सोचना कि संसारमें प्रमाण-प्रमेयके व्यवहारसे अतिरिक्त भी कोई व्यवहार है। सारे व्यवहार प्रमाण-प्रमेयरूप ही हैं। प्रमाण क्या? अनुभवका करण, यन्त्र, औजार अथवा चश्मदीद गवाह, सबूत। अपने विषयके सम्बन्धमें जो प्रमाण है वह और केवल वही उस विषयका अनुभव कर सकता है और इसलिए उसके सम्बन्धमें केवल वही एकमात्र चश्मदीद गवाह है। उदाहरणके लिए नेत्र रूपके सम्बन्धमें एकमात्र प्रमाण है और श्रवण शब्दके सम्बन्धमें। इसी प्रकार स्पर्श, रस और गन्धके विषयमें क्रमशः त्वक्, जिह्वा और घ्राण इन्द्रियाँ प्रमाण हैं।

प्रमाणसे जो जाना जाता है वह प्रमेय होता है और जो प्रमाणके द्वारा जानता है वह प्रमाता होता है। प्रक्रियाके भेदसे प्रमाताका अनेकविध वर्णन किया जाता है : जैसे कोई उसे आभासरूप मानता है, कोई प्रतिबिम्बरूप मानता है और कोई अन्तःकरणावच्छिन्नरूप। परन्तु प्रक्रिया कोई भी हो, प्रमाता तो

वही होगा जिसके पास प्रमाणवृत्ति होगी; और वह प्रमाणवृत्तिसे ही प्रमेयको जानेगा।

वृत्तिके सिवाय प्रमाण भी कोई नहीं होता। नेत्रगोलक रूपके सम्बन्धमें प्रमाण नहीं है बल्कि चक्षु-वृत्ति ही प्रमाण है। इसी प्रकार घ्राणवृत्ति, श्रवण-वृत्ति इत्यादि प्रमाण होते हैं।

एक संक्षेप-दृष्टि प्रमाणोंके प्रकार पर भी डाल लें। ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें प्रमाण हैं। (इन्द्रियाँ असाधारण करणके रूपमें प्रमाण होती है तथा मन साधारण करणके रूपमें)। ये प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं। प्रत्यक्षका अनुयायी प्रमाण है अनुमान, और प्रत्यक्षके आश्रित ही है उपमान। धुँयेको देखकर अग्निका अनुमान होता है और 'मोहन शेर है' कहनेसे मोहनकी बहादुरीका ज्ञान उपमानसे होता है। शब्द-प्रमाण उन विषयोंके सम्बन्धमें होता है जो प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानसे न जाने जायँ। जैसे 'वरुण घड़ेमें बैठे हैं'—इस वाक्यमें घड़ा तो प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ज्ञात हो रहा है परन्तु वरुण देवता किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे गृहीत नहीं हो सकते। परन्तु शास्त्रदृष्टिसे वह बुद्धिमें गृहीत हो सकता है। वरुणमें केवलमात्र शास्त्र ही प्रमाण है।

यहाँ यह स्मरण रहे कि प्रत्यक्षमें शब्द-प्रमाणकी गति नहीं होती और शब्दमें प्रत्यक्षकी गति नहीं होती।

शब्द-प्रमाणके अन्तर्गत ही ऐतिहासिक लोग ऐतिह्य प्रमाण और पौराणिक लोग संभव प्रमाण मानते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष और शब्द—ये दो प्रमाण मुख्य हैं। प्रत्यक्षके अनुयायी हैं अनुमान और उपमान। उधर शब्दके अनुयायी हैं ऐतिह्य और संभव। नाट्य-शास्त्री चेष्टाको भी एक प्रमाण मानते हैं।

मीमांसक लोग, जिनमें पूर्वमीमांसक और उत्तरमीमांसक दोनों शामिल हैं, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि दो प्रमाण और मानते हैं। यद्यपि ये अनुमानके ही बच्चे-कच्चे हैं तथापि ये अनुमान प्रत्यक्षके आधार पर भी होते हैं और शब्दके आधारपर भी, क्योंकि प्रमाणकी धारायें दो हो गयी न, एक दृष्टार्थानुपपत्ति अथवा दृष्टानुपपत्ति और दूसरी श्रुतार्थानुपपत्ति अथवा श्रुतानुपपत्ति। दृष्ट प्रत्यक्षमूलक है और श्रुत शब्दमूलक।❀

बौद्ध, जैन, नैयायिक, वैशेषिक, इस्लाम, ईसाई, पारसाई और सभी धर्म-सम्प्रदाय‡ शब्दप्रमाणके अन्तर्गत आप्तवाक्योंको

❀ शब्दमूलक अर्थापत्तिका उदाहरण है कि श्रुतिने कहा 'नेह नानास्ति किंचन'। यह भेद-निषेध तभी संभव होगा जब प्रतीयमान भेद वास्तवमें मिथ्या हो और वास्तवमें अभेद हो। अत: मिथ्यात्व और अभेदका ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध है। इसी प्रकार अनुपलब्धि प्रमाणके अन्तर्गत अनुमान इस प्रकार होगा कि क्योंकि सुषुप्तिकालमें जाग्रत्-स्वप्नमें उपलब्धभेदका अभाव है, इसलिए भेद पारमार्थिक सत्य नहीं है। अनुपलब्धि-प्रमाण और अभावका प्रत्यक्ष एक ही बात है।

प्रत्यक्षमूलक अर्थापत्ति प्रमाणका उदाहरण है कि: "एक मोटा ताजा मनुष्य है जो दिनमें भोजन नहीं करता।"—यह वाक्य मान लो किसीने कहा अथवा ऐसा व्यक्ति किसीने मान लो देखा। तो चूँकि मोटा-ताजा होनापन बिना भोजनके खाये संभव नहीं है, इसलिये यह अनुमान तुरन्त होगा कि वह व्यक्ति रातमें भोजन करता है। रातमें भोजन करनेका ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध है। इसी प्रकार घटकी अप्रतीतिसे 'घट नहीं है' यह ज्ञान होता है अनुपलब्धि प्रमाणसे।

‡ ऋग्वेदमें जरदण्डी ऋषिका वर्णन मिलता है। पारसियोंका जरदोस्य संभवत: इसी ऋषिसे प्रभावित है। उनके 'जिंदा-अवेस्ता' ग्रन्थमें कोई २५ मन्त्र ऋग्वेदके हैं और उनके पाठके ढंगसे मालूम पड़ता है कि

प्रमाण मानते हैं। आप्त माने वे लोग जिनको तत्त्वका साक्षात्कार हो गया है; उनके वाक्य ही आप्तवाक्य हैं। आप्तोंमें भी तारतम्य स्वीकार करते हैं। जैसे जैनोंमें 'आप्त'की तीन कोटियाँ हैं: (१) महापुरुष अथवा तीर्थंकर, (२) श्रावक—जो उन महा-पुरुषोंतक पहुँच गया है और (३) जैनागमके अध्येता। संतमतमें तो पूर्व-पूर्व सन्तोंके वचन अथवा 'वाणी' ही प्रमाण माने जाते हैं, जैसे कबीरमतमें और सिखमतमें। परन्तु वेदोंकी शब्दराशि आप्तोंकी वाणीसे विलक्षण है।

वैदिकमतमें जो शब्द प्रमाणकी धारा है वह आप्त-धारासे विलक्षण है। वेदके प्रामाण्यके सम्बन्धमें दो धारायें हैं: (१) ईश्वरका वचन होनेसे वेद प्रमाण है और (२) ईश्वरका निरूपण करनेके कारण वेद प्रमाण है। वैशेषिकोंके सूत्र '**तद्-वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्**' के ये द्विविध अर्थ किये जाते हैं। ठीक ऐसा ही अर्थ वेदान्तदर्शनके '**शास्त्रयोनित्वात्**'—सूत्रका ब्रह्म सब शास्त्रोंकी योनि है अथवा सब शास्त्र ब्रह्मका निरूपण करते हैं। परन्तु इस सम्बन्धमें मीमांसक लोग आपत्ति करते हैं कि यदि वेद ईश्वरसे और ईश्वर वेदसे सिद्ध होता है तब तो यह अन्योन्याश्रय दोष हो गया और वेद और ईश्वर दोनों अधर-में लटक गये! तब वेदका प्रामाण्य किस प्रकारका है?

आप नाकसे गन्धमात्रका अनुभव करते हैं परन्तु गन्धोंका नाम आप नाकसे नहीं रख सकते। गन्धोंका भेद-विभेद-परिच्छेद एवं वर्गीकरण न केवल नाकसे हो सकता है और न जिह्वा आदि अन्य इन्द्रियोंसे। वह तो मन और बुद्धिके संयोगके बिना संभव नहीं है। आपने नेत्रसे चमेलीका फूल देखा, गुलाबका

उनकी शैली और उच्चारण मूलतः वैदिक ही है। अपभ्रंश स्वीकार करनेपर यह बात समझमें आ जाती है।

फूल देखा; मनने उनकी स्मृति रख । नाकने उनकी गन्ध सूँघी और वुद्धिने यह वर्गीकरण कर दिया 'अमुक गन्ध गुलावकी है और अमुक चमेली की ।'

अभिप्राय यह कि कोई भी इन्द्रिय वस्तुकी पूर्णताके प्रत्यक्षमें समर्थ नहीं है । फिर पूर्ण ईश्वरके ज्ञानके सम्बन्धमें तो इन्द्रिय-ज्ञान तुच्छ ही है । यदि आप ईश्वरको नेत्रसे देखकर पहिचानना चाहते हो कि 'यह ईश्वर है' तो याद रखना जिसमें तुम्हारा प्रेम होगा, राग होगा, उसीको ईश्वर मान वैठोगे । 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहनेवाले वहुत लोग हैं । ईश्वर न किसी एक इन्द्रियका विषय है और न सव इन्द्रियाँ मिलकर ईश्वरका ज्ञान करा सकती हैं ।

कहो, अन्त:करण ईश्वरके ज्ञानमें प्रमाता है । तो पूर्ण ईश्वरके ज्ञानका करण होनेके लिये एक ऐसा अन्तःकरण चाहिये जिसमें भ्रम न हो, प्रमाद न हो, विप्रलिप्सा (ठगी) न हो और करणापाटव (करणकी अपटुता) न हो । ऐसे अन्त:करणको ही प्रज्ञा कहते हैं । 'ऐसी प्रज्ञा ही ईश्वरके ज्ञानमें प्रमाण है', यदि यह कहा जाय, तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रज्ञाका भी तारतम्य देखा जाता है जैसे कि समाधिसे पूर्वकी प्रज्ञामें और समाधिसे वादकी प्रज्ञामें । दूसरे प्रज्ञाका विषय ईश्वर और प्रज्ञा स्वयं, इनमें क्या सम्वन्ध है ? कार्य-कारणका सम्वन्व है न, फिर ईश्वर प्रज्ञाका प्रकाशक—अधिष्ठान है या प्रज्ञा ईश्वरका ? तीसरे, प्रज्ञासे तुमने जिस तत्त्वका निश्चय किया वही सर्वोत्तम परिपूर्ण ईश्वर-तत्त्व था, इसका निर्णय कैसे हो ? यदि ऐसा होता कि प्रज्ञासे सवको एक ही तत्त्वका साक्षात्कार होता तो अनेक आचार्य, अनेक सम्प्रदाय, अनेक मत संसारमें न होते । यह निर्णय संविधानके आधार पर होता है । जैसे अध्यादेश भले राष्ट्रपति

द्वारा हस्ताक्षरित हो, परन्तु देशका संविधान राष्ट्रपतिका भी नियामक होता है। वैसे ही व्यक्तिकी प्रज्ञासे अनुभूत तत्त्व कुछ भी क्यों न हो उसे अन्तिम परिपूर्ण तत्त्व होनेके लिये एक ऐसे सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वभौम और शाश्वत संविधानकी कसौटीपर खरा उतरना चाहिये जो सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी, सम्पूर्ण सृष्टिका नियामक संविधान हो। इसी संविधानका नाम वेद है ❀।

निष्कर्ष यह कि वेदका प्रामाण्य दो कोटियोंका है : एक शासनात्मक और दूसरा शंसनात्मक। हम अपने वय, अवस्था, स्थिति, वर्ण, आश्रम और अधिकार तथा सामर्थ्यके अनुसार किस समय क्या और क्यों करें अथवा क्या और क्यों न करें— इस विधि-निषेधके नियामक वाक्य वेदके शासनात्मक प्रमाण हैं। परन्तु इनमें प्रामाण्य अवान्तरतः सिद्ध है, क्योंकि इन सब अनुशासनोंका जो चरम उद्देश्य है वह है उस भ्रमादि दोषोंसे मुक्त प्रज्ञाका सम्पादन, जिससे इस विश्वमें परम सत्यका साक्षात्कार किया जा सके। वेदके शंसनात्मक प्रमाण वे हैं जो जीव, जगत्, ईश्वरके एकमात्र अभिन्न चेतन तत्त्वकी अद्वितीयताका वर्णन करते हैं। ये वेदके मुख्य प्रमाण हैं। ये प्रज्ञाके विषय और आश्रयकी एकताका प्रतिपादन करते हैं और इसका अनुभव किसी भी

❀वेद किसी एक जाति, धर्म या सम्प्रदायका संविधान नहीं है, वह समूची सृष्टिका है। मांसाहारी वैष्णव तो नहीं है, वैष्णव ग्रन्थोंके विधि-निषेधसे वह बँधा नहीं है, परन्तु ईश्वरकी सृष्टिमें तो वह रहता ही है। इसलिये वेद उसका भी नियमन करता है। यही कारण है कि उसमें मनुष्यके मांसाहारके सम्बन्धमें भी वर्णन है। इसी प्रकार अन्य सभी विषयोंके बारेमें समझना चाहिये। आजके पण्डित अपने मतमें केवल वोट लेते हैं, वेदका क्या सिद्धान्त है, इसपर विचार नहीं करते।

प्रज्ञाके अनुभवका परिणाम नहीं है। आत्मा परिच्छिन्न नहीं है परिपूर्ण ब्रह्म है, यह किसी भी अन्य प्रमाणका विषय नहीं बन सकता सिवाय वेदके महावाक्योंके। क्योंकि शुद्ध अन्तःकरणमें ही महावाक्यजन्य प्रमा उत्पन्न होती है, इसलिये समूचा वेद—शासनात्मक और शंसनात्मक दोनों—प्रमाण कोटिमें गिना जाता है। यही वास्तवमें शब्द प्रमाण है। अस्तु।

भगवान् भाष्यकार कह रहे हैं कि सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक प्रमाण-प्रमेयरूप व्यवहार आत्मा और अनात्माके पूर्वोक्त इतरेतराध्यासको सामने रखकर ही प्रवृत्त होते हैं। खाना पीना, सोना बैठना, आना-जाना, वणिक-व्यापार इत्यादि ये सब लौकिक व्यवहार हैं। सन्ध्या, भजन, यज्ञ, होम, दान, प्रायश्चित्त, पूजा स्वाध्याय इत्यादि वैदिक व्यापार हैं। इन सब व्यवहारोंमें पहले आत्मा उक्त व्यवहार करनेवाला, उक्त व्यवहारके करणवाला बन बैठता है तभी वे सब व्यवहार होते हैं, अन्यथा नहीं। अन्तः-करण, इन्द्रियों आदिमें 'मैं-मेरा' अध्यारोपित किये बिना कोई भी व्यवहार सम्भव नहीं है और यही अध्यारोप अध्यास कहलाता है।

देहमें बैठा हुआ जो प्रमाता है उससे भी अपनेको अलग करना पड़ता है। श्रुतिने कहा :

एष हि श्रोता एष हि द्रष्टा एष हि स्प्रष्टा···

यह आत्मा इन-इन इन्द्रियोंसे सम्बन्ध करके तब देखने सुननेवाला होता है। लौकिक व्यवहार ऐसे ही चलता है। वैदिक व्यवहार भी ऐसे ही चलता है। कोई कहेगा कि शङ्कराचार्य भगवान् वैदिक-शिरोमणि होते हुए भी वैदिक व्यवहारको भी अध्यास-पूर्वक क्यों मानते हैं? तो श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि यह बात भी कि वैदिक व्यवहार अध्यासपूर्वक चलते हैं वेदमें ही लिखी है।

है कोई आचार्य ऐसा जो कहे कि स्वयं वह जो बोलते हैं अविद्यामें ही बोलते हैं ? अरे भाई ! कोई कहेगा भी तो चेले आचार्यको छोड़कर भाग जायेंगे ! आचार्य जो कहे सो विद्या है यह सम्प्रदाय-वाद है। व्यक्तिसे ऊपर उठकर शाश्वत सत्यका संदीपक वेद क्या कहता है और जो वह कहता है उसे युक्ति-तर्क-प्रमाणसे सिद्धकर देना, बस यही आचार्यका काम होना चाहिये।

वेदमें लिखा है कि विराट् शरीरकी उत्पत्तिके साथ-साथ वेद भी प्रगट हुए :

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत॥

(पुरुषसूक्त)

"पूर्वोक्त सर्वहवनात्मक यज्ञसे ऋचायें और साम उत्पन्न हुए। उस यज्ञसे ही गायत्री आदि छन्दोंका जन्म हुआ। उसी यज्ञसे यजुष्की भी उत्पत्ति हुई।"

इससे प्रगट होता है कि वेद पहले छिपे हुए थे। कहाँ ? वहीं जहाँ वे प्रगट होनेके बाद लुप्त हो जाते हैं, अर्थात् सुषुप्तिमें। श्रुति कहती हैं : **तत्र वेदा अवेदा भवन्ति** अर्थात् सुषुप्तिमें वेद अवेद हो जाते हैं। आप वेदमन्त्रोंको जाग्रत् और स्वप्नमें सुन सकते हैं, परन्तु सुषुप्तिमें नहीं। इसलिये तैत्तिरीय उपनिषद्में मनोमय कोषके अन्तर्गत ही वेदोंका वर्णन है।

हम कहना यह चाहते हैं कि जब हम मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ एक होकर बैठते है तब बुद्धिमें जैसे कलकी स्मृति होती है वैसे ही बुद्धिमें विद्यमान, पढ़े हुए कलके वेदका ज्ञान आता है। तादात्म्यसे ही वैदिक व्यवहार भी प्रवृत्त होता है।

इसलिए जितने लौकिक-वैदिक प्रमाण-प्रमेय व्यवहार हैं वे सब अध्यासपूर्वक ही होते हैं।

यह बात पहले कह चुके हैं कि वेदका ज्ञान दो प्रकारका होता है :

(१) **शासनात्मक ज्ञान :** यह विधि-निषेधमय अथवा प्रवर्तक-निवर्तक होता है। **अक्षैर्मा दीव्यः** (जुआ मत खेलो) **मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि** (किसी प्राणीकी भी हिंसा मत करो) इत्यादि—ये सब निषेध वाक्य हैं। और **अहरहः संध्याम् उपासीत** (प्रतिदिन संध्यावन्दन करो) इत्यादि ये विधिवाक्य हैं।

वैदिक विधि-निषेधका आधार लौकिक विधि-निषेधके आधारसे भिन्न भी होता है। लौकिक विधि-निषेधका आधार तो अन्वय-व्यतिरेक होता है। जिस कामको करनेसे दूसरे लोगोंको प्रत्यक्ष हानि-लाभ होता है उन कामोंको करनेसे हमें भी हानि-लाभ होगा। अतः हानिके कामोंको हमें नहीं करना चाहिए और लाभके कामोंको करना चाहिए—यही अन्वय व्यतिरेक है। वेदमें लौकिक आधारवाले भी विधि-निषेधमय वाक्य हैं जो लोकका अनुवादमात्र हैं। परन्तु स्वर्गफलरूप कर्म लौकिक अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध नहीं होता, क्योंकि परोक्षफलमें अन्वय-व्यतिरेक संभव ही नहीं है। अतः वहाँके विधि-निषेधका आधार केवल वेद ही है। परन्तु वह भी कर्ताके लिए ही जो उस परोक्षफलको चाहता है। वहाँ निषेध-शास्त्रके उल्लङ्घनसे पाप लगता है और विधि-शास्त्रके पालनसे पुण्य होता है और पाप निवृत्त होता है—यह बात केवल वैदिक रीतिसे ही गम्य है।

(२) **शंसनात्मक ज्ञान**—यह ज्ञान केवल वस्तुके स्वरूपका ज्ञान कराता है, ज्ञाताका अनुशासन नहीं करता माने यह ज्ञान ज्ञाताको कर्ममें प्रवृत्त-निवृत्त नहीं करता।

वेद धर्मके बारेमें शास्ता है और आत्माके ब्रह्मस्वरूपके बारेमें शंसक है।

जहाँ वेद कर्तृत्वकी स्थापना करता है वहाँ तो अध्यास स्पष्ट ही है, क्योंकि बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके बिना धर्म नहीं हो सकता और धर्मका फल चाहे लौकिक हो या वैदिक (स्वर्ग इत्यादि) बतानेवाला और करने-भोगनेवाला अध्यासपूर्वक ही बोलता है और धर्मी अध्यासपूर्वक ही करता और भोगता है।

अब रही बात मोक्षपरक शास्त्रकी। तो इस शास्त्रका अधिकारी भी अज्ञानी ही है, क्योंकि अज्ञानी ही बँधा हुआ है और वही मोक्ष चाहता है। जो अज्ञानी है वह अध्याससे मुक्त नहीं है यह भी स्पष्ट है। अतः विधिनिषेधमय शास्त्र और मोक्ष शास्त्र भी सभी अध्यासपूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार भाष्यका निम्न कथन सत्य है कि :

अध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

वेदके अतिरिक्त जितने और भी विधिप्रतिषेध मोक्षपरक शास्त्र हैं वे सभी वेदानुसार होनेसे ही प्रमाण होते हैं। इसलिये उनकी गति भी अध्यासक्षेत्रके बाहर नहीं है। यों वेद और उक्त शास्त्रोंके दृष्टिकोणमें भी बड़ा भेद है। वेद सम्पूर्ण मानव जातिके लिये है और सदैवके लिए है जबकि अन्य-अन्य शास्त्रोंके अधिकारी विशेष-विशेष होते हैं। दूसरे वेदमें जो सृष्टिकी मानव-जातिका शाश्वत संविधान है वह न केवल मनुष्यके कर्म, मन और जीवात्माके आधार पर है अपितु उसका आधार अद्वितीय सच्चिदानन्द तत्त्व है। यही कारण है कि सृष्टिमें जाति, कर्म, मनोवृत्तियोंके परिवर्तन होनेपर भी वेदका संविधान परवर्तित नहीं होता। क्यों ? ब्रह्मतत्त्व शाश्वत है।

अब कहो कि 'अच्छा यह तो ठीक है कि मोक्षपरक शास्त्र

भी अज्ञानीको ही विषय करते हैं परन्तु ये शास्त्र तो ज्ञानी महात्मा भी पढते-पढ़ाते, सुनाते-प्रवचन करते हैं। इसको संगति कैसे लगेगी ?' तो वात यह है कि ज्ञानी भी अपनी अज्ञानावस्था-में मोक्षपरक शास्त्र पढ़ता-सुनता रहा है। इसलिए अब ज्ञान हो जानेके वाद भी वही विचार-संस्कारधारा उसके अन्तःकरणमें प्रवाहित होती रहती है। वही जिज्ञासुके छेड़ देनेपर वाणी द्वारा प्रगट हो जाती है अथवा स्वयं अपने लिये वह या तो कालक्षेप है अथवा भजनरूप है अथवा वाधितानुवृत्तिसे अभ्यासरूप है।

हमारे पास वृन्दावनमें एक सज्जन आते थे। व्यवसायकी दृष्टिसे तो वे पेशकार थे, परन्तु उन्होंने विधिवत् प्रस्थान-त्रयी*का अध्ययन किया था। बड़ा दिव्य गौर वर्ण था उनका। एक दिन उन्होंने कहा: "हम तो ब्रह्म हैं, फिर सन्ध्यावन्दन कैसे करें ?" मैंने कहा: "मत करो।" कुछ दिन पीछे आये और बोले: "स्वामीजी, हमें तो जैसे भूखा प्यासा रहकर असन्तोष होता है वैसे ही सन्ध्यावन्दन न करके असन्तोष होता है। हम ब्राह्मण हैं और आठ वर्षकी उम्रसे अब ७० वर्षकी उम्र तक सन्ध्यावन्दन किया। अब सन्ध्यावदन छोड़ दिया तो कष्ट होता है। हम तो सन्ध्यावन्दनके बिना नहीं रह सकते।" मैंने कहा 'तो करना शुरू कर दो।' बोले 'कैसे करें ?' मैंने कहा 'जैसे करते रहे हो वैसे ही करो। अमुकगोत्रः अमुकशर्माऽहम्...इत्यादि।' वे बोले। "हम तो ब्रह्म हैं, हमारा तो कोई गोत्र-वोत्र नहीं है" मैंने कहा: "ठीक है, ऐसा संकल्प करो कि यद्यपि मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ तथापि व्यावहारिक दृष्टिसे देह-मन-इन्द्रियोंका अपनेमें अध्यास

---

* उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र— इन तीनोंको मिलाकर प्रस्थान-त्रयी कहा जाता है। इनके प्रामाण्यका क्रम भी यही है: प्रथम उपनिषद्, फिर गीता और फिर ब्रह्मसूत्र।

करके और अध्यारोपित दृष्टिसे अपनेको ब्राह्मण मान करके अमुक-गोत्रः अमुकशर्माऽहं ''इत्यादि संकल्प-पूर्वक सन्ध्या कर लो।"

निष्कर्ष यह है कि समूचा शास्त्र अज्ञानीके लिए है और अध्यास बिना कोई व्यवहार संभव नहीं हो सकता—चाहे वह व्यवहार लौकिक हो अथवा वैदिक और चाहे वह अध्यास स्वयंमें सत्य माना हुआ हो (अज्ञानीकी धारणाके समान) अथवा बाधित हो (ज्ञानीकी धारणाके समान)। शङ्कराचार्य भगवान्-की यह घोषणा बड़ी क्रान्तिकारी है शास्त्र अज्ञानीके लिए है और ज्ञानीके लिए नहीं है—ये दोनों बातें वेद ही बताता है। ठीक उसी प्रकार जैसे संसद्का संघटन होना और संसद्का भंग होना, दोनों संवैधानिक ही होते हैं।

(५. २)

प्रमाण-विषयक आक्षेप तथा समाधान

कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति ? उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। न चैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसति असंगस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। (भाष्य)

तो फिर अविद्यावाला प्रमाता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्रका आश्रय कैसे हो सकता है ? कहते हैं—देह, इन्द्रिय आदिमें अहं-मम अभिमान रहित आत्माका प्रमातृत्व अनुपपन्न होनेसे उसमें प्रमाणकी प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होती है। क्योंकि इन्द्रियोंका ग्रहण किये बिना प्रत्यक्षादि व्यवहार संभव नहीं होते और अधिष्ठान (शरीर) के बिना इन्द्रियोंका व्यवहार संभव नहीं होता। अनध्यस्त आत्मभाववाले शरीरसे कोई व्यापार नहीं कर सकता। और उपर्युक्त इन सब अध्यासोंके न होनेपर असंग आत्मामें प्रमातृत्व उपपन्न नहीं होता; तथा प्रमाताके बिना प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावालोंको ही आश्रय करते हैं।

आक्षेपका स्पष्टीकरण : भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्यने जब यह कहा कि समस्त प्रमाण-प्रमेयव्यवहार और विधि-निषेध-मोक्षपरक शास्त्र आत्मामें अनात्माके और अनात्मामें आत्माके अध्यासको सामने रखकर ही प्रवृत्त होते हैं, तो इससे यह बात निकली कि सम्पूर्ण प्रमाण और शास्त्र अध्यास-पीड़ित व्यक्तिको ही आश्रय करते हैं। इसलिए पूर्वपक्षका आक्षेप भगवान् प्रस्तुत करते हैं कि ऐसा कैसे संभव है ? कथं पुनः ?

वस्तुको ठीक-ठीक पहिचाननेका नाम प्रमा है। भामतीकार कहते हैं कि तत्त्वपरिच्छेदका नाम प्रमा है अर्थात् जो तत्त्वको अतत्त्वसे अलग कर लेनारूप विवेक है वही प्रमा है और वही विद्या है। उस विद्याके साधन प्रमाण हैं। फिर वे अविद्यावान्‌को कैसे आश्रय कर सकते हैं ?

तत्त्वपरिच्छेदो हि प्रमा विद्या, तत्साधनानि प्रमाणानि कथमविद्यावद्विषयाणि ? (भामती)

प्रमाण तो तब होवे जब तत्त्वकी पहचान होवे ! अविद्यावान्‌के पास प्रमाण नहीं रहते, क्योंकि प्रमाणसे जो प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान* उत्पन्न होता है, दूसरे शब्दोंमें जो विद्या उत्पन्न होती है,

---

* भामतीकार ने बताया कि यथार्थ ज्ञान क्या होता है ? एक चीज जो हमारे सामने है वह सच्ची या झूठी हो सकती है, परन्तु हमारा जानना झूठा नहीं हो सकता। ठूँठ में चोर झूठा हो सकता है, परन्तु दीखना झूठा नहीं हो सकता। ज्ञानका विषय यथार्थ या अयथार्थ हो सकता है, परन्तु ज्ञान स्वयं अयथार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानाश्रय हम स्वयं अयथार्थ नहीं हैं। स्वप्नका हाथी मिथ्या था, परन्तु उस हाथीका दिखना मिथ्या नहीं था। देखना सच्चा, हाथी झूठा। यह विषयका ज्ञानसे विवेक हुआ।

वह अविद्याकी विरोधीस्वभाववाली होती है और इसलिए अविद्याको नष्ट कर देती है। यदि प्रमाण भी अविद्यामें ही होवें तो प्रमाणसे जनित विद्या अविद्याको कैसे मिटावे ?

नाविद्यावन्तं प्रमाणानि आश्रयन्ति, तत्कार्यस्य विद्याया अविद्याविरोधित्वादिति भावः (भामती)

फिर प्रमातामें प्रमाके प्रति स्वातन्त्र्य रहता है। प्रमाताके

विषय दूर-निकट हो सकता है परन्तु ज्ञान दूर-निकटको भी जानता है, वह तो आप ही हैं, इसलिये वह दूर-निकट नहीं होता। विषय कलका, आजका और कभीका हो सकता है, परन्तु ज्ञान सर्वत्र वर्तमानमें होता है। वर्तमान समय भी ज्ञानसे ही मालूम पड़ता है। विषय घट-पट-स्त्री-पुरुष अलग-अलग हो सकते हैं, परन्तु इनका प्रकाशक ज्ञान एक ही है। अन्धकार प्रकाश अलग हो सकते हैं परन्तु इनका ज्ञान एक है। समाधि-विक्षेप, धर्म-अधर्म, झूठ-सच अलग-अलग हैं परन्तु इनका ज्ञान एक है। विषयगत धर्म विषयके प्रकाशक पर आरोपित नहीं हो सकते। सामनेवाली चीजमें जो अच्छाई-बुराई है वह देखनेवालेमें आरोपित नहीं हो सकती। अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, देह, जगत्, सब दृश्य सामने ही हैं, परन्तु आँखके होने, न होने, मन्द, तीव्र होनेका असर और दृश्यका असर आत्मामें नहीं है। आत्मा (प्रमाता) प्रमाण और प्रमेयके प्रभावसे मुक्त है।

जब ज्ञानको अन्तःकरणसे मिलाते हैं, इन्द्रियोंसे मिलाते हैं, देहसे, विषयसे, देशसे, कालसे, व्यक्तिसे मिला देते हैं तब चेतनको जड़ और जड़को चेतन समझने लगते हैं। यही अध्यास है और इसी अध्यासके कारण सारे व्यवहार सम्भव होते हैं चाहे वे लौकिक हों अथवा शास्त्रीय।

प्रस्तुत प्रसंगमें यथार्थ ज्ञानका प्रमेयगत (विषयगत) अबाधित ज्ञानसे तात्पर्य है।

अधीन प्रमाण रहते हैं न कि प्रमाणोंके अधीन प्रमाता। भामती-कारके अनुसार इतरकारकाप्रयोज्य होकरके सर्वकारकप्रयोक्ता होना—यह प्रमाताका लक्षण है। आँखसे (प्रमाणसे) प्रमाताका रूप न दिख सके परन्तु प्रमाता आँखसे सब रूप देख सके। इसी प्रकार नाक, कान आदि अन्य प्रमाणोंके विषयमें जानना चाहिए। इन्द्रियों (प्रमाणों)के प्रयोग में प्रमाताका यह स्वातन्त्र्य है।

असलमें आक्षेप करनेवालेका अभिप्राय कुछ दूसरा ही है वह कहता है कि :

यदि अविद्यावद्विषयाणि कथं प्रमाणानि च ?

'यदि ये अविद्यावान्को ही विषय करते हैं तो प्रमाण कैसे ?' और **यदि प्रमाणानि कथं अविद्यावद्विषयाणि ?** यदि प्रमाण हैं तो अविद्यावान्को कैसे विषय करते हैं ?

इसपर भी चलो प्रत्यक्षादि व्यवहारमें आपकी बात मान लेते हैं। यह तो सभीका अनुभव है कि जब हम आँखसे देखते हैं तो नेत्रवृत्तिसे तादात्म्यापन्न होकर ही देखते हैं। बिना अध्यासके 'मैं देखता हूँ' यह ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषय-ज्ञानके सम्बन्धमें समझना चाहिए। माने जब हम ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानको इन्द्रियोंके साथ मिला देते हैं तब हम 'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ' आदि व्यवहार कर पाते हैं। यहाँ इन्द्रियोंका मुझ आत्मामें और मुझ आत्माका इन्द्रियोंमें अध्यास स्पष्ट है। यदि कहो कि अध्यास न मानकर 'नेत्र देखता है, कान सुनता है इत्यादि' ऐसा व्यवहार क्यों न माना जाय तो अनुभव इसके विरुद्ध है। यदि इन्द्रियाँ ही देखतीं, सुनतीं इत्यादि तो फिर 'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ' इत्यादि अध्यारोप 'मैं' अपने ऊपर क्यों करता ? इसलिए वास्तविकता यही है कि मैं ही

इन्द्रियों पर सवार होकर तत्तद् ज्ञानको अपने ऊपर धारण करता हूँ।

इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके व्यवहारमें अध्यास मान भी लें तो भी 'सभी शास्त्र अविद्यावान्को विषय करते हैं' यह बात कैसे सम्भव है? शास्त्र तो पुरुषके हितके लिए हैं!

शास्त्राणि तु पुरुषहितानुशासनपराण्यविद्याप्रतिपक्षतया (भामती)

इनको आप कैसे कहते हैं कि ये (शास्त्र) अविद्यावान्के हृदयमें रहते हैं और अविद्यावान्के विषयमें होते?

यहाँ 'अविद्यावद्विषयाणि' पदसे आश्रय और विषय दोनोंका ग्रहण है। शास्त्रका विषय और शास्त्रका आश्रय दोनों अज्ञानी हैं, यह अभिप्राय है।

आक्षेपका समाधान

इस बातके हम ही साक्षी हैं कि जब हम अहंकारादिसे विशिष्ट होते हैं तभी प्रमातापना ग्रहण करते हैं।

अहंकार तीन प्रकारका होता है—कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता अथवा प्रमाता। आत्माके सदंशकी प्रधानतासे कर्ता होता है, चिदंशकी प्रधानतासे ज्ञाता और आनन्दांशकी प्रधानतासे भोक्ता होता है।

वास्तवमें तो न सत् परिच्छिन्न होता है और न चित् या आनन्द। सच्चिदानन्दकी अद्वितीयताके अज्ञानसे ही ये परिच्छेद भासते हैं।

क्रिया द्रव्यमें होती है: 'क्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्'। तो द्रव्यरूपताका विवर्त सदंशमें होता है इसीसे चेतनमें कर्तापन महसूस होता है। इसी प्रकार अनुकूलता—प्रतिकूलतारूप संवेदन

भी द्रव्यमें ही होता है। तत्तत्संस्काररूपताका विवर्त आनन्दांशमें होता है। इसीसे चेतनमें भोक्तापन महसूस होता है। द्रव्याश्रित सम्पूर्ण क्रिया, विक्रिया, संस्क्रिया और निष्क्रिया वेद्य हैं और इस वेद्यका विवर्त आत्माके चिदंशमें होता है। इसीसे चेतनमें प्रमातापन महसूस होता है।

आत्मामें ये सत्-चित्-आनन्द तीन हैं या एक? ये तीनों एक हैं। विवेकसे सत् और असत् दो पदार्थ मालूम पड़ेंगे, चित् और अचित् (जड़) दो पदार्थ मालूम पड़ेंगे और आनन्द और दुःख दो पदार्थ मालूम पड़ेंगे। जितना-जितना इनका विवेक पक्का होगा उतना-उतना आपको असत्से, जड़से, दुःखसे वैराग्य होगा और सत्से, चेतनसे और सुखसे प्रेम होगा। भगवान् आपको यह विवेक खूब दे! परन्तु विवेक यह भी चाहिये कि जो सत् है सो चित् है, जो चित् है सो सत् है, जो सत्चित् है सो आनन्द है और जो आनन्द है सो सत्-चित् है। जो सच्चिदानन्द है सोई 'है', जो उससे भिन्न है सो नहीं है, अथवा वह भी सच्चिदानन्दसे अभिन्न है।

ये सत्-चित्-आनन्द एक होकर किस रूपमें रहते हैं? चित्-रूपमें। सत् चित् नहीं होगा तो उसके कभी असत् होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसी प्रकार आनन्द भी यदि चित् नहीं होगा तो उसके भी कभी अभानका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः आत्मा चित् है। भान आत्माका स्वरूप है जो धारारूप नहीं है, परिवर्तनशील नहीं है, अखण्ड है और अद्वय है।

जब तक अपने अद्वय सच्चिदानन्द स्वरूपका अज्ञान रहता है तभी तक अपना आपा परिच्छिन्न मालूम पड़ता है। जब यह परिच्छिन्न मालूम पड़ता है तब सत्में द्रव्यका विवर्त मालूम पड़ता

है, चित्में जीव और ईश्वरका विवर्त मालूम पड़ता है और आनन्दमें प्रियताका विवर्त मालूम पड़ता है। यह प्रियता कभी ईश्वरमें मालूम पड़ती है तो कभी अपने जीवत्वमें, कभी जड़तामें तो कभी मिथ्या दर्शनमें। उपलब्धिके अतिरिक्त, ज्ञानके अतिरिक्त न सत्ता है और न आनन्द।

अब कर्म द्रव्यांशमें है और प्रमातृत्व चिदंशमें। द्रव्यमें कर्म ज्ञात होता है और उसीमें जो चिदंश है वह कर्मकी उपाधिसे कर्ता मालूम पड़ता है। विषयमें आनन्द मालूम पड़ता है और विषयमें ही जो चेतन है वही आनन्दकी उपाधिसे भोक्ता मालूम पड़ता है। प्रमाण प्रमेयमें चेतन बुद्धिकी उपाधिसे चेतन मालूम पड़ता है। बुद्धिकी उपाधिसे चेतन प्रमाता होता है।

विवरणकारका मत है कि बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होकर चेतन प्रमाता होता है। पंचदशी और विचारसागर मानते हैं कि बुद्धिमें आभासित होकर चेतन प्रमाता होता है। वाचस्पतिमिश्र-का मत है कि बुद्ध्यवच्छिन्न चेतन प्रमाता है। प्रक्रिया कुछ भी हो चेतन बुद्धिके माध्यमसे ही प्रमाता प्रतीत होता है। शुद्ध चेतनमें प्रमाता-प्रमेयका व्यवहार नहीं है। जब अपने स्वरूपके अज्ञानसे उपहित होकर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें तथा उनके धर्मोंमें तादात्म्य करते हैं तभी विषय-विषयी भाव, प्रमाता-प्रमेय-भाव होता है, अन्यथा नहीं।

विचार अपने सामान्य अनुभवसे प्रारम्भ होता है। आत्माका कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व अनुभवमें आता है। अतः पहिले कर्मसे पृथक् कर्ता, ज्ञेयसे पृथक् ज्ञाता और भोग्यसे पृथक् भोक्ता विचारसे जानो। तत्पश्चात् क्रियाकी उपाधिसे कर्ता, भोगकी उपाधिसे भोक्ता और प्रमाणकी उपाधिसे प्रमाता जानो। तदनन्तर उपहित की एकताको जानो। अन्तमें द्रष्टा चेतन तथा दृश्यके अधिष्ठान-

अध्यस्त-विवेकसे उस उपहितको अद्वितीयताको जानो। यह विचारका क्रम है।*

अब यह जो प्रमा—पठ्ठी है उसके लिये कोई आश्रय नहीं है। जड़ इन्द्रियोंमें प्रमा हो नहीं सकती और अखण्ड चेतनमें भी प्रमा नहीं हो सकती, क्योंकि वह भेदको क्यों जाने! भेद तो इन्द्रियोंसे ही जाना जाता है। इसलिये अखण्ड चेतन और इन्द्रियोंके मिले जुले भावसे ही आत्मामें प्रमातापनेका, कर्तापनेका, भोक्तापनेका

---

* ब्रह्मको जान लेने पर क्या आत्माका कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रमातृत्व छूट जायेगा? नहीं, परन्तु यदि इन्हें छोड़ेंगे नहीं तो ब्रह्मज्ञान भी नहीं होगा। छोड़ना विचारसे है। विवेक करके इनको छोड़ना है। कैसे? पहिले कर्म और द्रव्य तथा द्रव्य और कर्मेन्द्रियोंका सम्बन्ध छोड़ो। इसका स्वरूप है यह विचार कि: मैं द्रव्य नहीं हूँ; मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ, द्रव्याश्रित इन्द्रियोंके द्वारा जो कर्म होता है सो मैं नहीं हूँ। तदनन्तर, 'मैं विषय नहीं हूँ; विषयरूप शरीर मैं नहीं हूँ; शरीरमें रहनेवाली और भोगनेवाली इन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ।' इसके उपरान्त, 'मैं बुद्धि नहीं हूँ, वृत्ति मैं नहीं हूँ, बुद्धि और वृत्तिसे उत्पन्न प्रमा भी मैं नहीं हूँ।'

मैं यह पञ्चनद्या सरस्वतीरूप प्रमा नहीं हूँ। सरस्वतीमें पाँच नदियाँ मिलती हैं: **सरस्वती तु पञ्चधा।** ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बाहरके ज्ञानको पाँच धाराओंको भीतर भेजती हैं और ये पाँचों ज्ञानधारायें सरस्वतीरूप प्रमा उत्पन्न करती हैं। मैं यह प्रमा भी नहीं हूँ, क्योंकि यह भी जड़-चेतनके मिश्रितभावसे ही होती है।

प्रमाका निषेध करनेपर प्रमाताकी परिच्छिन्नता और प्रमेयका अन्यत्व और परिच्छिन्नत्व स्वयं ही बाधित हो जाता है। तब आत्माका कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व भी बाधित हो जाता है और आत्माकी शुद्ध ज्ञानस्वरूपता ब्रह्मरूपताका अपरोक्ष हो जाता है।।

व्यवहार होता है। असलमें जड़ानुविद्ध चैतन्यके आश्रित ही प्रमा रहती है। अतः अध्यासके बिना प्रमाकी सिद्धि नहीं हो सकती। और अध्यास होता है अज्ञानसे, इसलिये जितना भी लौकिक, पारलौकिक, पारमार्थिक ज्ञान होता है—युक्तिसे, इन्द्रियोंसे, शास्त्रोंसे वह सब जड़-चेतनके मिश्रितरूप अध्याससे ही होता है।

शास्त्रके आश्रय और विषय दोनों अज्ञानी हैं। जब शास्त्र बोलते हैं 'हे मनुष्य ! तू ऐसा कर, ऐसा मत कर !' तो क्या वह ज्ञानीको बोलते हैं या अज्ञानीको बोलते हैं ? स्पष्ट है कि अज्ञानी-को बोलते हैं। इस प्रकार शास्त्रका विषय अज्ञानी है। अब शास्त्रका विषय क्या है ? अज्ञानीके अज्ञानका निवारण, वेदान्त-वाक्योंके बोधके द्वारा। तत्त्वमसि आदि महावाक्य भी अज्ञानीके ही लिए हैं। तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें ज्ञानी और अज्ञानी दो नहीं होते। श्रीसुरेश्वराचार्यने नैष्कर्म्यसिद्धिमें कहा है कि :

न तत्त्वज्ञो मदन्योऽस्ति न चान्योऽज्ञोऽस्ति कश्चन।

'मेरे सिवाय कोई तत्त्वज्ञ नहीं है और मेरे सिवाय कोई अज्ञानी नहीं है।'

जिसको अपनेमें अविद्या दीखती है वही उसे मिटानेकी कोशिश करेगा। परन्तु जिसे अपनेमें सारी वृत्तियाँ बाधित हो चुकी हैं, जिसे अपनेमें अविद्या, जड़ता, मृत्यु, दुःख नहीं दिखाई देता, उसके लिए शास्त्रका कोई प्रयोजन नहीं है।

जो शास्त्र लिये-लिये घूमता है अथवा जो शास्त्र लेनेको घूमता है, वे दोनों अपने अज्ञानसे संत्रस्त हैं। तत्त्वज्ञका किसी पंथ, मिशन, वेष-भूषा, समाज, प्रचार अथवा सेवाकार्यसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके लिए कोई दूसरा अज्ञानी, दरिद्री अथवा त्रस्त नहीं है।

'खण्डनखण्डखाद्य'का वह संवाद आपने सुना होगा जिसमें जिज्ञासु किसी तत्त्वज्ञके पास जाकर प्रश्न करता है कि सृष्टि कैसे हुयी ? बोले 'बाबा ! हमें क्या जरूरत पड़ी है यह सब जाननेकी । कैसे भी हुयी होगी । हमारे मनमें तो सृष्टि कभी हुयी ही नहीं । हम तो मौजमें बैठे हैं । तुम्हीं बताओ कि सृष्टि कैसे हुयी । इसके उपरान्त जिज्ञासु एक-एक करके सृष्टिके सम्बन्धमें वाद प्रस्तुत करता हैं और तत्त्वज्ञ उनका सबका खण्डनकर देते हैं । अन्तमें वे कहते हैं कि देखो भाई ! न हम सृष्टि बनाते हैं न बिगाड़ते हैं । परन्तु तुम जैसे कहते हो वैसे सृष्टि नहीं बनी । हमारे अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपमें सृष्टि नामकी ब्रह्मसे पृथक् कोई वस्तु नहीं है ।

इस प्रकार शासन करनेवाले अथवा शंसन करनेवाले—दोनों प्रकारके शास्त्र अविद्यावान्को ही विषय करते हैं । लौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक सभी शास्त्र अज्ञानीके ही आश्रित हैं और अज्ञानी ही उनका विषय भी है ।

शास्त्रका वक्ता और श्रोता, दोनों जब देहेन्द्रियोंमें मैं-मेरा रूप अध्यास स्वीकारकर लेते हैं तभी बोलते, सुनते हैं । देहेन्द्रियोंमें यदि मैं-मेरापन अभिमान न हो तो प्रमातापन सिद्ध नहीं हो सकता और प्रमाताके अभावमें प्रमाणोंकी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । प्रमाण प्रमा (यथार्थ ज्ञान)के करण ।

पण्डित लोग प्रमाणका अर्थ दोहा, साखी या शब्द नहीं मानते :

साखी, सब्दी, दोहरे कहि कहनी उपखान ।
भगति निरूपहि भगति करि, निन्दहि वेद पुरान ॥

कोई बात संस्कृतमें या श्लोक-बद्ध होनेसे ही प्रमाण नहीं हो

जाती। महर्षि पतञ्जलिका तो वचन ही है : **किं भो श्लोकाः प्रमाणम् ?** अर्थात् 'क्यों जी! क्या कोई चीज श्लोकमें लिखी जानेसे ही प्रमाण हो गयी ?' चार्वाकने जब कहा कि 'त्रयो वेदस्य कर्त्तारः' तो उसने तो गाली ही दी, परन्तु क्या संस्कृतमें होनेसे ही यह वाक्य प्रमाण हो जायेगा ?

तब, प्रमाण क्या ? यथार्थ ज्ञान (प्रमा)के करणको प्रमाण कहते हैं। यह प्रमा हृदयमें होती है और यह प्रमावान् प्रमाता कहलाता है। ज्ञानका विषय प्रमेय कहलाता है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयके व्यापारका नाम ही व्यवहार है।

भाष्यकारका अभिप्राय है कि जब मन-देहेन्द्रियादिमें अहं-मम अभिमान होता है तभी मन-इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है। माने विषयके प्रति जो प्रमाणोंका (मन-इन्द्रियोंका) व्यापार है वह प्रमाताके अधीन होता है। अतः प्रमाताके अनुपपन्न होनेपर प्रमाणकी भी अनुपपत्ति है :

देहेन्द्रियादिषु अहं मम अभिमानरहितस्य
प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणवृत्त्यनुपपत्तेः।

(भाष्य)

इसके सम्बन्धमें भामतीकारका कथन सुनाता हूँ। वे कहते हैं कि :

प्रमातृत्वं हि प्रमां प्रति कर्तृत्वम्, तच्च स्वातन्त्र्यम्।

(भामती)

'मैं यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता हूँ'—ऐसा कर्तृत्व प्रमातृत्व है और इसमें स्वतन्त्रता है। स्वातन्त्र्य क्या ? कहते हैं :

स्वातन्त्र्यं च प्रमातुरितरकारकाप्रयोज्यस्य समस्तकारक-प्रयोक्तृत्वम्। (भामती)

स्वतन्त्रता यह है कि प्रमाता अपने प्रमाणोंका प्रयोज्य नहीं है प्रयोक्ता है। प्रमाता अर्थात् हम स्वयं। जब हम नाक, कान, नेत्र आदि इन्द्रियोंसे ज्ञान प्राप्त करनेको उद्यत होते हैं तब हमारा ही नाम प्रमाता होता है और हम उन नेत्रादि प्रमाणोंका प्रयोग करनेमें स्वतन्त्र है अर्थात् इनके कहनेसे हम नहीं चलते; जब हम इनको चलाना चाहते हैं तब ये चलते हैं।

तदनेन प्रमाकरणं प्रमाणं प्रयोजनीयम्।
न च स्वव्यापारमन्तरेण करणं प्रयोक्तुमर्हति। (भामती)

अब प्रश्न हुआ कि ठीक है, प्रमाता प्रमाणकी सहायतासे वस्तुओंको जानना चाहता है और जब तक प्रमाता प्रयत्न नहीं करेगा तब तक इन्द्रियाँ वस्तुकी जाँच-पड़ताल भी कैसे करेंगी; परन्तु असंग चिदात्मा अकेले यह सब काम निष्पन्न क्यों नहीं कर सकता?

पञ्चपादिका और विवरणमें इसका बहुत सुन्दर निरूपण है। उसको भामतीकार यों कहते हैं कि:

न च कूटस्थनित्यश्चिदात्माऽपरिणामी स्वतो व्यापारवान्। तस्मात् व्यापारवद्बुद्ध्यादितादात्म्याध्यासाद् व्यापारवत्तया प्रमाणमधिष्ठातुम् अर्हति इति भवत्यविद्यावत्पुरुषविषयत्वम् अविद्यावत्पुरुषाश्रयत्वं प्रमाणानाम् इति। (भामती)

आत्मा कूटस्थ है, नित्य है, अपरिणामी है अतः वह स्वयं व्यापारवान् नहीं हो सकता। दुनियामें सभी चीज बदलती हैं। शरीर भी बदलता है। जब पैदा हुआ था आठ पौंडका रहा होगा और अब ढाई मनका है। बचपनकी आकृतियाँ, आदत, मन, बुद्धि सब बदल गये। परन्तु इन सब बदलते हुए शरीरकी अवस्थाओंमें जो एक अपरिणामी रहा वह है 'अहम्'वाच्य आत्मा।

आत्मदेव बदलती हुयी वस्तुओंमें नित्य हैं, कूटस्थ हैं और स्वयं न बदलनेवाले अपरिणामी हैं! क्यों? क्योंकि आत्मा ज्ञान है। ज्ञान यदि बदल जाय तो उस परिणामका ज्ञान किसको होगा? ज्ञानका विषय बदलता है, ज्ञान नहीं। ज्ञानमें सविषय और निर्विषय नहीं होते। सविषय और निर्विषय दोनोंमें ज्ञान है, और ज्ञानमें दोनों कल्पित हैं। ज्ञान तो ज्ञान है, उसमें न ज्ञेय है और न ज्ञेयाभिमानी ज्ञाता। यह चिदात्मा एकरस ज्ञान स्वयं व्यापारवान् नहीं होता। तब यह प्रमाता कैसे बनता है? मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका (प्रमाणोंका) प्रयोक्ता कैसे बनता है? इसका उत्तर है, तादात्म्यसम्बन्धसे, अनात्माके साथ अध्याससे।

असलमें, यदि शुद्ध चिदात्माको सविषयक ज्ञान होता हो तो उसका भी ज्ञानाकार परिणाम हो जायेगा। तब ज्ञान अपरिणामी न रहकर परिणामी हो जायेगा, जो सम्भव नहीं है। अतः जब तक चिदात्मा अन्तःकरणके साथ तादात्म्य नहीं करता अर्थात् जब तक अध्यासवान् नहीं हो जाता तब तक उसको विषयका ज्ञान नहीं हो सकता। विषय ज्ञानके लिये अध्यासका होना जरूरी है। जिसको इन्द्रियोंमें मैं-मेरा अभिमान नहीं है वह प्रमाता नहीं हो सकता।

प्रश्नः—ज्ञानीको अध्यास होता है या नहीं?

उत्तरः—ज्ञानी भी जब व्यवहार करता है तब अध्यासवान् होकर ही बोलता है, देखता है और सब व्यवहार करता है। व्यवहारमें ज्ञानी और अज्ञानी दोनों अपने-अपने अन्तःकरणोंसे तादात्म्यापन्न होकर ही व्यवहार करते हैं।

प्रश्नः—फिर ज्ञानी और अज्ञानीमें फर्क क्या रहा?

उत्तरः—इस सम्बन्धमें एक बात पुरानी सुनाता हूँ। चूरू (राजस्थान) में एक बार सेठ जयदयालजी गोयन्दकासे बात

हो रही थी। वे कह रहे थे कि ज्ञानी ऐसा होता है, ज्ञानी ऐसा होता है। मैंने कहा: ज्ञानी सिर्फ ब्रह्म होता है और कुछ होता नहीं है। वे बोले: ज्ञान होने पर ज्ञानीमें कुछ विशेषता तो होनी ही चाहिये वर्ना फिर ज्ञानी और अज्ञानीमें भेद क्या रहा? इस पर मुझे हँसी आ गई। मैंने पूछा: यह जो ज्ञान और अज्ञानमें पारक्य है, परकीयता है, फरक है, वह ज्ञानकी दृष्टिसे है या अज्ञानकी दृष्टिसे? वे बोले: अज्ञानकी दृष्टिसे। ठीक ही कहा उन्होंने। असलमें भेद जितना होता है वह सब अज्ञानदृष्टिसे होता है, ज्ञानदृष्टिसे नहीं। इसपर मैंने कहा: ज्ञानीकी दृष्टिसे ज्ञानी और अज्ञानी एक हैं और अज्ञानीकी दृष्टिसे एक नहीं हैं। तथापि दोनोंको दृष्टियोंमें भेद रहता है।

असलमें ज्ञानीकी जो भेद-दृष्टि है वह व्यवहारकालमें भी अधिष्ठानज्ञानसे बाधित रहती है और अज्ञानीकी भेद-दृष्टि किसी कालमें भी मिथ्या नहीं होती क्योंकि वहाँ अधिष्ठानबोधका अभाव रहता है।

ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टियोंमें केवल बाधित और अबाधित-का ही भेद रहता है, लेकिन जीवनमें जो प्रमाण-ज्ञानकी प्रक्रिया है उसमें भेद नहीं होता। जिस ज्ञानका जो करण है और जो प्रक्रिया है वह ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंके लिये समान है। क्या ज्ञानी आँखकी जगह कानसे देखेगा? अथवा कानकी जगह त्वचासे सुनेगा? यदि ऐसा हो सकता तब तो ज्ञान एक रोग हो जाता! देखना आँखसे ही होगा, सुनना कानसे ही होगा, संकल्प-विकल्प मनसे ही होगा, भेद अन्तःकरणसे ही जाना जायेगा, निश्चय बुद्धिसे ही होगा इत्यादि चाहे कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी।

इसलिए जब ज्ञानी अन्तःकरणपर आरूढ़ होगा, चाहे वह अन्तःकरण और उसपर आरोहण दोनों मिथ्या ही हों, तभी और

केवल तभी, अर्थात् अन्तःकरणारूढ़ होकर हीं चिदात्माको संसारका ज्ञान होगा अन्यथा नहीं, इसलिए प्रमाणकी प्रवृत्तिके लिए यह आवश्यक है कि असंग चिदात्मा पहिले अन्तःकरणके साथ तादात्म्यापन्न होकर प्रमाता बने। इसीसे कहा कि शास्त्रके आश्रय और विषय दोनों अविद्यावान् हैं।

आप जब अलौकिक व्यवहार करने या देखनेकी सोचते हैं तभी ठगे जाते हैं। ये जादूगरीके खेल—आँखपर पट्टी बाँधे बाँधे रंग बताना या धनुषसे निशाना लगाना या आगपर चलना, कार रोकना, इत्यादि सब आपके अलौकिक व्यवहार देखनेकी प्रवृत्तिका फायदा उठानेवाले हैं। आपको ठगीके तरीकाका पता भी नहीं चलता और आप ठगे भी जाते हैं।

हमारे वृन्दावनमें यह सब खेल दिखानेवाला एक बार आया था। कोई तीन हजारकी भीड़के सामने उसने खेल दिखाये। उस समय वैज्ञानिक डा० शान्तिस्वरूप भटनागर भी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने उस बाजीगरको चैलेंज दिया कि तुममें कोई विशेषता हो तो दिखाओ, दूसरोंको धोखा क्यों देते हो। उन्होंने उसकी आँख और नाकके बीचमें भी फाये लगाकर पट्टी बाँधी और फिर मोटर चलानेको कहा। वह तैय्यार नहीं हुआ। बात क्या थी कि नाक ऊँची होनेसे आँख उसके पासके खुले हिस्सेसे देख लेती थी।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ज्ञानीका कोई अलौकिक व्यवहार नहीं हो जाता। ज्ञानी हो या अज्ञानी, इन्द्रियोंका प्रयोग किये विना प्रत्यक्षादि व्यवहार संभव नहीं हो सकते और शरीरके विना इन्द्रियोंका व्यवहार संभव नहीं है।

न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न चाधिष्ठानम् अन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। (भाष्य)

यहाँ गीताकी तरह 'अधिष्ठान'का अर्थ 'शरीर' है। 'अधिष्ठानं तथा कर्ता०' इत्यादि।

अनध्यस्त आत्मभाववाले शरीरसे कोई व्यापार नहीं कर सकता :

न ह्यनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। (भाष्य)

पहिले देहमें बैठोगे तब तुम व्यापार करोगे। जैसे पहिले जब कोई प्रधान मन्त्री बनेगा तब देशका शासन करेगा। देह एक पद है। इस पदपर जब हम आरूढ़ होते हैं तब हम इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरणादिको अधीन करके प्रमाता बनते हैं, व्यवहार करते हैं।

यह भी बड़े आश्चर्यकी बात है कि 'मैं देह हूँ' यह सीधा अभिमान भी किसीको नहीं होता। 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं देवता हूँ', 'मैं पशु हूँ' इत्याकारक अभिमान ही होता है। तभी तो सब 'मैं हाथ हूँ' ऐसा न कहकर 'मेरा हाथ है' ऐसा बोलते हैं। 'मैं हाथ, मैं पाँव, मैं सिर, मैं देह' ऐसा कोई कहता नहीं, कहते सब इनको 'मेरा' ही है परन्तु 'मैं मनुष्य हूँ' यह सब मनुष्य कहते हैं। इसको 'मेरा मनुष्य' कोई नहीं कहता।

'विवरण'में 'मैं मनुष्य हूँ' इसको बहुत विस्तारसे समझाया है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भी श्रीशङ्कराचार्य भगवान्के दश-श्लोकी की व्याख्यामें (सिद्धान्तबिन्दु' नामक ग्रन्थमें) इस बातको स्पष्ट किया है।

यह जो भाव होता है कि 'मैं मनुष्य हूँ' यह आत्मामें देहकी आकृतिके अध्यासके कारण होता है। कैसे ? यह जो जाति है उसका आकृतिसे ही ग्रहण होता है : **आकृतिग्रहणा जातिः** वैयाकरण लोग ऐसा मानते हैं कि आकृतिमें जो समानता होती है उस समानताको लेकर ही जातिकी कल्पना होती है। मनुष्य एक

आकृति-विशेष जाति-सामान्य है। व्यक्ति मनुष्य नहीं, मनुष्य-जातिका एक टुकड़ा है। एक व्यक्ति 'तुम' मनुष्य नहीं हो सकते। मनुष्याकृतिवाले सभी देह मनुष्य हैं। मनुष्यत्व उन सब देहोंमें अनुगत है। तुमने अपनेमें मनुष्यत्वका अध्यारोप किया है। तुम मनुष्योंके टुकड़ोंसे वनी हुयी समूहात्मक जाति नहीं हो; तुम तो शुद्ध-बुद्ध-नित्यमुक्त स्वभाव हो।

फिर भी यह भी एक ठोस सत्य है कि जब तुम देहमें 'मैं मनुष्य हूँ' यह भाव करके बैठोगे तभी तुम मनुष्योचित व्यापार कर सकते हो, अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त इन सब अध्यासोंके न रहनेपर असंग आत्मामें प्रमातृत्व उपपन्न नहीं हो सकता :

न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति असंगस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते।

(भाष्य)

असंग चिदात्मा बिना देह, इन्द्रियाँ, प्राण, अन्तःकरणादिके ठनठन-पाल है; वह व्यापार (प्रमातृत्वादि) नहीं करता।

मैंने विचारमें उपासक सम्प्रदायाचार्योंसे एक बार पूछा : 'आप ईश्वरको चेतन भी मानते हैं और सृष्टिका उपादान भी मानते हैं, परन्तु यह तो बताइये कि चेतनमें जो आकृति घटित होती है वह कैसे होती है? कर्मसे या विकृतिसे या परिणामसे?'

अब कर्म और विकृति तो ईश्वरमें उपासक लोग मानते नहीं हैं। इसलिए एकने कहा : 'वह अपने संकल्पसे बनता है।'

मैं : अच्छा, हजाररूप ईश्वर बना और हजाररूप बिगाड़ दिया। परन्तु ईश्वर तो स्वयं चेतनका चेतन ही रहा होगा। माने ईश्वर तो अविकारी अपरिणामी ही होगा न?

श्रीवल्लभाचार्यने कहा : सृष्टि ईश्वरका अविकृत परिणाम

है। ईश्वर-चेतन बदलता तो है, परन्तु उसमें विकार उत्पन्न नहीं होता।

मैं : बदलता हुआ भी चेतन एक है या नहीं? चेतन तो परिणामका साक्षी है। बदलना तो कालकी धारामें होता है और चेतन स्वयं उस बदलनेकी धाराका साक्षी होता है।

श्रीरामानुजाचार्यने कहा : चेतन एक है। ईश्वर-चेतन नहीं बदलता। विशेषण बदलते हैं, विशिष्ट ज्योंका-त्यों रहता है।

श्रीनिम्बार्काचार्यने कहा : ईश्वरकी शक्तिमें ही केवल विक्षेप होता है, उसके स्वरूपमें कोई विक्षेप नहीं होता। और वह शक्ति-विक्षेप स्वाभाविक है।

श्रीभास्कराचार्य बोले : नहीं, यह शक्ति-विक्षेप स्वाभाविक नहीं है, औपाधिक है।

प्रश्न यह है कि जब चेतन एक और अद्वितीय है तो बदलते हुए दृश्यमें वह एकरस और निर्विकार है या नहीं? अगर नहीं है तो वह चेतन ही नहीं है। जो स्वरूपभूत कूटस्थ असंग चिन्मात्र साक्षी है वह यदि बदल जाये तो उस बदलनेका साक्षी कौन होगा? चेतनमें न परिणाम होता है न विकार। वह तो केवल अनिर्वचनीयत्वेन विवर्तित होता है।❀

❀ चेतनसे सृष्टि हुई तो कैसे? न्याय-वैशेषिक मानते हैं कि ईश्वरने परमाणुओंसे सृष्टि बनायी। यह आरम्भवाद है। परन्तु सृष्टिसे पूर्व ईश्वरके अतिरिक्त देश-काल-द्रव्य कुछ भी नहीं था। और निरवयव परमाणुसे सावयव सृष्टि भी नहीं बन सकती। अतः आरम्भवाद यथार्थ चिन्तन नहीं है। उपासक लोग कहते हैं कि ईश्वर स्वयं यह सृष्टि बन गया। तो यदि परमात्मा पूरा जगत्-परिणामको प्राप्त हो गया तो ईश्वर ही नष्ट हो गया और यदि कुछ अंश जगत् बना तो अखण्ड परमात्मामें

ऐसा जो सम्पूर्ण दृश्यका विवर्ती अधिष्ठान असंग चिदात्मा है वह स्वयंमें प्रमाता नहीं हो सकता। वह शुद्ध ज्ञानात्मक बुद्धि-वृत्तिमें अभिव्यक्त होकर प्रमाता बनता है। और जब वह वृत्ति प्रमाण-जन्य होती है तब उसीमें अभिव्यक्त चेतनका नाम प्रमा हो जाता है। जब वह वृत्ति प्रियताविशिष्ट होती है तब उसमें अभिव्यक्त चेतनका नाम आनन्द या भोक्ता होता है। जब वह वृत्ति क्रियासंस्कारविशिष्ट होती है तब उसमें अभिव्यक्त चेतन कर्ता होकर भासता है। निर्वृत्तिक चेतन शुद्ध अद्वितीय ब्रह्म है।

जब असंग आत्मा अपने आपको वृत्तिसे मिलाता है तब वृत्ति वस्तुको देखती है। भेदकी प्रयोजक होती है। वृत्ति और प्रकाशका प्रयोजक होता है चैतन्य। जब चैतन्यके प्रकाशको वृत्तिमें और वृत्तिगत भेदको चैतन्यमें आरोपित कर लेते हैं तो इसका नाम हो जाता है अध्यास। इसी अध्यासके द्वारा यावज्जीवन ज्ञानी अज्ञानी सबका व्यवहार होता है।

व्यवहार जितना है वह सब अविद्यावद्‌विषय और अविद्या-

अंशांशी भाव सिद्ध नहीं होता। अंशके लिये उपाधिका निर्वचन तो करना पड़ेगा न? देशकी उपाधि, कालकी उपाधि, द्रव्यकी उपाधि! देश-काल-द्रव्य कुछ भी स्वीकार करनेपर परिणामवाद आरम्भवाद ही हो जायेगा। परमात्मा यदि जड़ द्रव्य हो तो मिट्टीसे घड़ेकी भाँति जगत्-परिणामको प्राप्त हो सकता। परन्तु चेतनसे सृष्टि स्वीकार करनेपर उसमें केवल भानात्मक सृष्टि ही प्रतीत हो सकती है जैसे मिट्टीमें कण, सूर्यमें रश्मियाँ, वायुमें तरंग, द्रष्टामें स्वप्न। सृष्टि चेतनमें स्फुरणात्मक है, द्रव्यात्मक नहीं। ऐसी अवस्थामें चेतन न सृष्टिका निमित्त कारण है, न उपादान-कारण और न अभिन्ननिमित्तोपादान कारण। सृष्टि चेतनमें विवर्त है अर्थात् चेतन ही देश-काल-द्रव्यके रूपमें भास भर रहा है। यह भास न सत्य है, न असत्य और न सत्यासत्य यह केवल अनिर्वचनीय है।

वद्आश्रय है। गुरु और चेलेका इसमें कोई भेद नहीं है। गुरु इस बातको समझता है और चेला अभी नहीं समझता। उपदेश-उपदेशकभाव केवल नासमझी मिटानेके लिये है, कुछ करनेके लिये नहीं है। कोई भी, ज्ञानी हो या अज्ञानी, जो कुछ करता है वह सब अपनी वासना और अभ्यासके कारण करता है। परन्तु व्यवहारकी प्रक्रिया दोनोंके लिये एक है। बस ज्ञानीके लिये व्यवहार और प्रक्रिया बाधित रहती है और इसलिये वह मुक्त रहता है; जबकि अज्ञानी उसमें सत्यत्व बुद्धि करके फँसा रहता है।

जहाँ-जहाँ अध्यास है वहाँ-वहाँ व्यवहार दीखता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्नमें। और जहाँ अध्यास नहीं रहता वहाँ व्यवहार भी नहीं रहता, जैसे सुषुप्तिमें। अतः व्यवहारके मूलमें अध्यास है, यह बात अन्यथानुपपत्तिसे साफ मालूम पड़ती है। अथवा यों कहो कि व्यवहार अध्यासपूर्वक ही होता है अन्यथा नहीं।

सुषुप्तिसे उठनेपर तनिक ध्यानसे अपने व्यवहारको देखिये। सर्वप्रथम कुछ स्फुरण नहीं होता, न मैं, न तू, न यह। फिर मैं स्फुरण होता है। तदुपरान्त 'अहमेव' अर्थात् वही मैं मनुष्य जो सोया था वही मैं हूँ—यह स्फुरण होता है। तदुपरान्त इन्द्रियादि करणोंमें पूर्वममता और अधिकार उत्पन्न होता है। और इसके बाद अन्य-अन्य संकल्प स्फुरण होकर वह कार्यरत हो जाता है। यह सब बहुत शीघ्रतासे होनेके कारण अनुभवमें नहीं आ पाता। परन्तु अध्यासका क्रम इसी प्रकार होता है। जाग्रत्-स्वप्नसे सुषुप्तिमें जाते समय अध्यासके लयका क्रम भी विलोम प्रक्रियासे यही होता है।

परन्तु अध्यासका लय उसकी निवृत्ति नहीं है। वह अध्यास न तो वृत्त्यन्तरसे (जैसे उपासनामें), न वृत्तिशान्तिसे (जैसे समाधि-में), न वृत्तिसन्धि या वृत्तिशावल्यसे (जैसे उपासनायोगके

मिश्रण या कर्म-उपासनाके मिश्रणमें) और न वृत्ति-विलयसे ही (जैसे सुषुप्तिमें) निवृत्त हो सकता है। अध्यास वृत्ति है और वह सवृत्तिक अवस्थामें ही विरोधी वृत्तिसे नष्ट होता है। जब अध्यसित वस्तु (भ्रान्तिजन्य पदार्थ)के आश्रय और विषयका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और वे दोनों एक अखण्ड सच्चिदानन्द ही हैं यह ज्ञान हो जाता है तब अध्यासकी निवृत्ति हो जाती है और भ्रान्तिजन्य पदार्थका मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है।

अब पूर्वोक्त प्रसंग पर तनिक पुनः विचार आरम्भ करते हैं।

यह जो असंग चिदात्मा है, सृष्टिका विवर्ती अधिष्ठान, वह प्रमाता स्पष्ट मालूम पड़ता है। मालूम पड़ता है 'मैं आँखसे देखता हूँ, मैं कानसे सुनता हूँ, त्वचासे स्पर्श करता हूँ, जीभसे स्वाद लेता हूँ, नाकसे गन्ध सूँघता हूँ, कर्मेन्द्रियोंसे कर्म करता हूँ, अन्तः-करणसे संकल्प-विकल्प, निश्चय, चिन्तन, आनन्द-भोग करता हूँ।' यह विरोधाभास कैसे ?

यह विरोधाभास अध्यासके कारण है। प्रथम हम असंग चिदात्माके अनुभवके किसी करण—इन्द्रियाँ या अन्तःकरण—के साथ एक होते हैं अथवा उसपर आरूढ़ होते हैं अर्थात् अध्यास स्वीकार करते हैं; तदुपरान्त हमको तत्तद् कार्योंके कर्ता, भोक्ता या प्रमातापनेकी अपनेमें अनुभूति होती है। जब आप अपने अखण्ड मैं को, साक्षी मैं को, परिच्छिन्न देहकी तराजू पर बिठा लेते हैं और सृष्टिको तौलते हैं तो सृष्टि दूसरे रूपकी भासती है। परन्तु यदि आप अपने मैं को अखण्डता, अपरिच्छिन्नताकी तराजू पर बिठा लें और तब सृष्टिको तौलें तो सृष्टिका रूप निराला ही होगा।

हम बच्चे थे। कक्षा १ में पढ़ते थे। घरसे १½ मील पर स्कूल था। हमारे पितामह ने कह रखा था कि छुट्टी होने पर

एक वैश्य-मित्रके घर चले जाया करना। वहाँ केवल मिठाई खाकर घर लौट आते थे। वे वैश्य अपने पुत्रको नसीहत करते थे: 'बेटा सरजू, व्यापारीका सारा फायदा इसमें है कि माल दिखानेको और, देनेको और; तथा तराजू खरीदनेकी और, देनेकी और।

आप जिस तराजू पर सृष्टिको तौलेंगे वैसी ही वह दिखेगी। आप नापना तो चाहते हैं कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और उसके अधिष्ठानको, और बैठ जाते हैं इस नन्हींसी दिलड़ीके तराजू पर! तो आप गलत ही तो नापेंगे! पहिली शर्त वेदान्तकी यह है कि जिस छोटे घरमें आप बैठे हैं उसको छोड़ें। पति, पत्नी, ब्राह्मण, गृहस्थ, संन्यासी, हिन्दू, मुसलमान, मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता— किसी भी परिच्छिन्नके साथ यदि आप अपनेको जोड़ेंगे तो परिच्छिन्नकी नजर आपके ऊपर चढ़ बैठेगी। और आप न अपने आपको और न दुनियाको ठीक-ठीक जान सकोगे।

हर चीजको नापनेका एक यन्त्र होता है। क्या आप आकाश-को गज़से नापोगे? अनाजको हीरा तौलनेके काँटे पर तौलोगे? तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके अधिष्ठानको, अनन्त, अखण्ड, अद्वय, एकरस तत्त्वको क्या आप अन्तःकरणकी तराजू पर तौलेंगे? इसके लिये पहिले नेति-नेति द्वारा अन्तःकरणके अध्यासका निषेध करना पड़ेगा। पहिले अपनी अल्पताको काटना पड़ेगा तब कहीं उस महतो महीयान्‌का ठीक बोध हो सकेगा। यह अल्पता क्या है? कण और कणावच्छिन्न देश, क्षण और क्षणा-वच्छिन्न देश और कालसे तादात्म्य, यही अल्पतायें हैं। कणसे आवृत होनेपर परिपूर्ण नहीं दिखता; क्षणसे आवृत होकर अनादि, अनन्त नहीं दिखता।

आप क्षणिक चमकवाले जुगनू नहीं हैं। आप अखण्ड अनन्त

चिदाकाश हैं जिसमें एक शरीर नहीं कोटि-कोटि शरीर चमक रहे हैं। आप जब मनुष्य-शरीर ही नहीं पशु, पक्षी, देवता सब प्राणियोंके शरीर, सब प्राणियोंके ही शरीर नहीं नारकीसे लेकर वैकुण्ठ, गोलोक आदिके निवासियोंके शरीर और गोलोकादिके ही शरीर नहीं कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ही नहीं उस महामायाको भी जिसमें वे सब कल्पित हैं, अपना 'मैं-मेरा' स्वीकार नहीं करोगे, तब उस अखण्ड अनन्त अद्वय ब्रह्मका यथार्थ बोध होगा।

ऐसे असंग चिदात्मा आपमें प्रमातृत्व कहाँसे आयेगा? सिवाय अध्यासकी स्वीकृतिके। वास्तवमें आत्मा आँखमें बैठ करके देखता भी नहीं है, कानमें बैठ करके सुनता भी नहीं है। वह व्यवहार करता हुआ भी असंग रहता है तथापि इन्द्रियादिके साथ बिना तादात्म्यके आत्मामें कोई व्यवहार सम्भव भी नहीं है।

यह व्यवहारकर्ता मिथ्या है। कितने बह गये, कितने आये-गये, परन्तु हम असंग साक्षी चिदात्मा ज्योंकेत्यों हैं:

कोटि कल्प ब्रह्मा भये, दसकोटि कन्हाई हो।
छप्पनकोटि जादो भये, मेरी एक बलाई हो॥
निराकार साकार रूप ह्वे, आयो कई एक बारा।
सपने ह्वै-ह्वै मिट गये, रह्यो सारका सारा॥

यह ब्रह्म ही सारका सार है। वस्तुतः ब्रह्म अखण्ड है और सारत्व* उसमें अध्यारोपित है।

---

* 'सारका सार' में एक विनोद भी है। 'साला' (पत्नीका भाई) ही मनुष्यको प्यारा होता है, फिर 'सालेका साला' हो तो कहना ही क्या। परन्तु 'साला'में साला सच्चा है लेकिन 'सालेका साला' में साला अध्यारोपित है, क्योंकि साला-बहनोई एक दूसरेको साला कहते हैं।

जब हम इस खोलीमें बैठते हैं, इस घोड़े पर चढ़ते हैं, इस शरीररूपी मशीनको अन्तःकरण सहित चश्मेके रूपमें लगा लेते हैं तब यह दुनिया दीखती है, आत्माका प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि दीखता है। इस देहके प्रति मैं-मेराके अभावमें कुछ दूसरा ही नजारा दिखेगा।

यह असंग आत्मा प्रमाता नहीं है। तब प्रमाता कौन है? वाचस्पति मिश्रके अनुसार अन्तःकरणकी अवच्छिन्नताके कारण आत्मा प्रमाता बना है। विवरणकारके मतसे अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित आत्मा प्रमाता है। परन्तु वेदान्तका महावाक्य यह बताया है कि अवच्छिन्न और अनवच्छिन्नमें आभास और अनाभासमें बिम्ब और प्रतिबिम्बमें कोई भेद नहीं है। वह ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति में—

न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। (भाष्य)

जब हम प्रमाणगत धर्मको और प्रमाणको अपनेमें स्वीकार करके प्रमाता बनते हैं तभी प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होती है। प्रमाताके बिना प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिये अध्यासके बिना कोई व्यवहार सम्भव नहीं है और यही कारण है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावालोंको ही आश्रय करते हैं :

तस्माद् अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

—भाष्य

जब शास्त्र कहते हैं कि अमुक कार्यमें तुम्हारा हित है या अहित है, तो वह हित-अहित ब्रह्मका नहीं देहस्थका ही होता है। लोक-परलोक ब्रह्मका नहीं देहस्थका ही बनता बिगड़ता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे आत्मज्ञान ब्रह्मको नहीं देहस्थको ही बताया जाता है। मोक्ष ब्रह्मका नहीं बद्ध अज्ञानीका ही होता है।

इसलिये सम्पूर्ण शास्त्र और प्रत्यक्षादि प्रमाण अज्ञानीको ही विषय करते हैं।

यह पहले कह ही चुके हैं कि ज्ञानी और अज्ञानीके व्यवहारकी प्रक्रियामें कोई भेद नहीं होता। बस ज्ञानीके लिये सबकुछ वाधित रहता है, नाटकवत् रहता है और अज्ञानीके लिये सब कुछ सच्चा। ज्ञानीके लिये परिच्छिन्नता मिथ्यात्वेन भासमान होकर व्यवहारका विषय बनती है और अज्ञानीके लिये परिच्छिन्नता वद्धमूल वनकर बन्धनका हेतु वनती है। ●

(५. ३)

प्रत्यक्ष व्यवहारमें विद्वान् और पशु आदिकी व्यवहारमें समानताका कथन

पश्वादिभिश्चाविशेषात् । यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति; एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः । तत्सामान्यदर्शनात् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते । — भाष्य

अर्थ :—और पशु आदिके व्यवहारसे विद्वान्‌के व्यवहारमें विशेषता नहीं है; जैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका शब्द आदि विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर पशु आदि भी उन शब्द आदिका ज्ञान प्रतिकूल होनेपर उधरसे निवृत्त होते हैं और अनुकूल होनेपर उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं । हाथमें दण्ड उठाये हुये किसी पुरुषको सन्मुख आते देखकर 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझकर पशु वहाँसे भागने लगते हैं और यदि हाथमें हरी घास हो तो उस व्यक्तिके

अभिमुख होते हैं। वैसे ही प्रायः लोक-व्यवहारमें हम देखते हैं कि खड्ग हाथमें उठाये हुए क्रूर दृष्टिसे ललकारते हुये बलशाली पुरुषको देखकर विद्वान् लोग भी वहाँसे हट जाते हैं और उसके विपरीत स्निग्ध दृष्टिवाले मधुरभाषी सौम्य पुरुषके लिये प्रवृत्त होते हैं। अतः पुरुषोंका प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार पशु आदिके समान है और यह तो प्रसिद्ध ही है कि पशु आदिका प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्वक होता है। किन्तु उनके साथ समानता देखनेसे विवेकी पुरुषोंका भी प्रत्यक्षादि व्यवहार-कालमें पशु आदिके समान ही है, ऐसा निश्चय होता है।

परिच्छिन्नके स्वरूपका ज्ञान करनेके लिये हमें अपने-आपको परिच्छिन्नके साथ मिलाना तथा जोड़ना पड़ता है। जो अखण्ड है, अद्वय है, अपरिच्छिन्न है वह कहाँ बैठकर देखे कि उसे द्वैत भासे? इसलिये प्रमातापना बिना अध्यासके सम्भव नहीं है। असंग आत्मा प्रमाता नहीं हो सकता और प्रमाता बिना प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये सारे प्रमाण अध्यासवान्के लिये ही हैं।

जितने प्रमाण हैं वे परिच्छिन्नमें बैठे हुए के लिए ही हैं और वह अविद्याको स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता। चेतन परिच्छिन्न है यह बात कैसे मालूम पड़ सकती है? चेतन तो प्रकाशक है। जो-जो चेतनका परिच्छेदक होगा वह प्रकाश्य होगा, अतः वह चेतनको परिच्छिन्न करनेमें समर्थ नहीं है। इसलिए अन्तःकरणको स्वीकार करके और अपनी प्रकाशरूपता अन्तःकरणमें स्वीकार करके यह प्रमाण-प्रमेयका सारा व्यवहार चलता है।

मनुष्यको तो अन्वय-व्यतिरेकका ज्ञान है। जैसे भोजनसे पुष्टि और तृप्ति होती है और भोजन न करनेसे बल घटता है। इसलिए

मनुष्य भोजनमें प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्यक्षादि व्यवहारमें भी मनुष्य अन्वय-व्यतिरेककी बुद्धिसे प्रवृत्त होता है। परलोकसम्बन्धी व्यवहारमें भी यदि मनुष्य अपनेको कर्मका कर्ता तथा कर्मफलका भोक्ता न माने तो वह उस व्यवहारमें प्रवृत्त नहीं होगा। जो यहाँ कर्मका कर्ता है वही परलोकमें कर्म-फलका भोक्ता है—यह ज्ञान परलोकसम्बन्धी व्यवहारके लिए आवश्यक है। असंग आत्मा न कर्ता है न भोक्ता। इसलिए शास्त्रोक्त व्यवहार भी असंगात्माके लिए नहीं है। जो साक्षी है वह कर्ता भोक्ता नहीं होता और जो कर्ता-भोक्ता है वह साक्षी नहीं हो सकता। साक्षीकी कर्ता-भोक्तारूपमें प्रतीति अध्याससे ही सिद्ध हो सकती है अन्यथा नहीं। इसलिए सम्पूर्ण प्रत्यक्षादि व्यवहार तथा शास्त्रोक्त व्यवहार अविद्यावान्को ही आश्रय करते हैं। यहाँ तक कि शान्ति, विवेक, विचार आदि सब अशान्त, अविवेकी और अविचारकोंके लिए ही शास्त्रसे विहित होते हैं।

तस्माद् अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।
(भाष्य)

विवरण-परम्परामें इसका एक दूसरा अर्थ भी निकालते हैं। कहते हैं कि—

अविद्यावद्विषयाण्यपि प्रमाणानि एव।

माना कि ये अविद्यावान्के लिए है परन्तु फिर भी ये प्रमाण ही हैं क्योंकि अविद्या तो प्रमाताके साथ रहती है प्रमाणके साथ नहीं। इस परम्परामें अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित आत्मा प्रमाता होता है जबकि भामती-परम्परामें अन्तःकरणावच्छिन्न आत्माको प्रमाता कहा गया है।

प्रश्न यह है कि जैसे घटका घटावच्छिन्न आकाशके साथ

कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही अन्तःकरण का अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए असंग आत्माका अन्तःकरणावच्छिन्न होकर प्रमाता बनना युक्तियुक्त नहीं है। यह भामती-प्रस्थानके विरुद्ध विवरण-प्रस्थानका तर्क है। इसपर भामती-प्रस्थानमें कहा कि असलमें प्रमाता शब्दसे प्रमा ही उपलक्षित होती है। प्रमा अर्थात् अन्तःकरणमें जो प्रमाणका फल है कि इदम् ईदृक्, इदम् ईदृक्—अर्थात् 'यह असुक है' 'यह ऐसा है' यही प्रमातापनका अर्थ है।

असलमें दोनों प्रक्रियाओंमें कोई ज्यादा भेद नहीं है। बुद्धिको सूक्ष्म करनेके लिये महात्मा लोग भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओंसे विचार करते हैं। जिज्ञासुको प्रक्रियाओंका अनुकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेदान्तविचारका मार्ग अनुकरणका मार्ग नहीं है, निषेधका मार्ग हैं। यह न किसी प्रवृत्तिका अनुकरण है और न विरोध। अनुकरण और विरोध—ये दोनों वृत्तियाँ मनुष्य एवं पशुमें समान हैं।

जो यह आत्माकी असंगताका उपदेश है वह भी अज्ञानीके लिये ही है। जो चीज पहिलेसे ही मौजूद रहती है वह दोष नहीं होता। जो बादमें, नयी चीज, आती है वह दोष होता है। जैसे आँख पहलेसे मौजूद है और उसमें कामलादि दोष बादमें आते हैं। दवाका काम दोषको मिटाना होता है न कि आँखको ही। इसी प्रकार यह जो प्रमाता है उसमें अहं और अविद्या पहलेसे ही मिले हुए हैं। अतः मुख्य दोष यह नहीं है कि प्रमाता अविद्यापूर्वक अथवा अहंकारपूर्वक व्यवहार करता है। मुख्य दोष यह है कि इसकी दोषरूपताको हम जानते नहीं हैं। यदि हम यह जान लें कि आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है और प्रमातामें अन्धकार और प्रकाश दोनोंका मिश्रण है, ज्ञान-अज्ञान दोनोंका मिश्रण

है और यावज्जीवन यह मिश्रण (अध्यास) अनुवृत्त रहता है, तो ये जितने आदेश, उपदेश हैं—वे सब छोटे अहंके लिये हैं ब्रह्मके लिये नहीं हैं और अहं में जो यह छोटापना है वह अविद्याके ही कारण है, तब यह समझमें आ जायेगा कि सभी शास्त्र भी अविद्यावान्के लिये ही प्रमाण होते हैं। जब तक अविद्या है तब तक उनका उपयोग है अपने लिये और अविद्यानिवृत्तिके बाद उनका उपयोग केवल जिज्ञासुके शासन अथवा शंसनके लिये होता है।

व्यासशास्त्रका सिद्धान्त यह है कि श्रुति[1], उपपत्ति[2], अन्तर्दर्शन[3] और ब्रह्मात्मैक्य बोध (साक्षात्कार)–यह साधनका, ब्रह्मानुभूतिका, आरोहणक्रम है। इसी क्रमको इन नामोंसे भी सम्बोधित किया जाता है : श्रुति, मति, स्थिति और साक्षात्कृति। अब जब ब्रह्मानुभूति हो गयी तो उस ज्ञानीका व्यवहार-क्रम ठीक इसके विपरीत-क्रमसे निष्पन्न होता है अर्थात् इस अवरोहण योगका क्रम यह होता है : साक्षात्कृति, स्थिति, मति और श्रुति। उसके सामने जब जिज्ञासु कुछ बोले तो वह श्रुतिके द्वारा अपने मतको प्रमाणित करता है। और यदि सामने तत्त्वज्ञ बोले तो अपने अनुभव (साक्षात्कृति)के द्वारा तत्त्वको प्रमाणित करता है। कारण यह है कि जिज्ञासु तो अनुभवशून्य होता है वह तो हर हालतमें वचनका ही आश्रय लेता है, चाहे वह श्रुति-वचन हो अथवा लल्लूराम या उल्लूरामका। इसलिए अनुभवारूढ़ होनेके लिए जो अद्वितीय तत्त्वके बोधक वचन हैं वे जिज्ञासुके लिए

१. श्रुतिके अनुसार श्रवण।

२. लक्ष्यानुसारी मनन : आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें युक्ति और प्रमाणका प्रयोग।

३. विपर्यय दूर करनेके लिये निदिध्यासन।

पहली कक्षाके प्रमाण हैं और तदनुकूल मति, स्थिति और साक्षात्कृति सम्बन्धी वचन दूसरी, तीसरी और चौथी कक्षाके प्रमाण हैं (आरोहण क्रममें)। इसके बाद प्रमाणकी गति नहीं होती।

शास्त्रकी गति कहाँ तक ? जहाँ तक अनुभव न हो। अनुभव भी कहाँ तक ? जहाँ तक उस तत्त्वका ज्ञान न हो जो समस्त 'भव' अर्थात् होनेके 'अनु' अर्थात् पीछे है :

भवाद् अनु अन्यस्मात् सर्वस्मात् पश्चाद् भवति विद्यते इति अनुभवः।

जो देश, काल, द्रव्य, परिच्छिन्नता और इनके अभावके पीछे रहे सो अनुभव। वह अनुभवस्वरूप अपना आत्मा है : **अनुभवस्वरूपोऽयम् आत्मा**। यह आत्मा खण्ड दृष्टिसे खण्ड दिखता है और अखण्ड दृष्टिसे अखण्ड दीखता है।

जहाँ तक प्रमाता अपनेको परिच्छिन्न अनुभव करता है वहाँ तक प्रमाणवृत्तिकी प्रवृत्ति होती है। जहाँ अज्ञान है वहाँ प्रमाणमें अज्ञात-ज्ञापकत्वका होना जरूरी है। वेदान्तमें प्रमाणकी परिभाषा ही यही है कि प्रमाण वह है जो ऐसी वस्तुका ज्ञान कराये जो किसी अन्य जरियेसे न जानी जा सके तथा जिसका ज्ञान किसी अन्य जरियेसे प्राप्त ज्ञान द्वारा झूठा सिद्ध न हो सके। साथ ही वह प्रमाणजन्य ज्ञान स्मृतिज्ञानसे जुड़ा हुआ नहीं होना चाहिये। प्रमाणान्तरसे अनधिगत तथा प्रमाणान्तरसे अबाधित और स्मृतिव्यावृत्तरूप ज्ञानके करणका नाम प्रमाण है। उदाहरणके लिये नेत्र रूपमें प्रमाण है, क्योंकि नेत्र द्वारा देखा गया रूप अन्य किसी इन्द्रिय-ज्ञानसे न जाना जा सकता है और न बाधित हो सकता है। अवश्य ही नेत्र स्त्रीशरीरके दर्शनमें प्रमाण है, परन्तु पत्नी, माता, बहिनके विषयमें प्रमाण नहीं है,

क्योंकि वे सब स्मृतिसे जुड़े हुये हैं। सम्बन्ध स्मृतिरूप है, अतः वह प्रमाण नहीं है।

पहिले हम एक महात्माके पास गये। बोले 'क्या चाहते हो?'। हमने कहा, 'हम तत्त्वज्ञान चाहते हैं।' बोले, 'तत्त्वज्ञान ही क्यों चाहते हो?' हमने कहा, 'मनुष्यजन्म सफल करनेके लिये, क्योंकि पशु, पक्षी आदि योनियोंमें ज्ञान नहीं होता, मनुष्य-योनि में ही होता है।' वे बोले, 'धन्य है तुम्हारी मनुष्ययोनि! परन्तु यह बताओ कि पशुयोनिमें ज्ञान नहीं होता, इसमें तुम्हारे पास क्या युक्ति है?' मैंने कहा, 'पशुओंके पास शास्त्र नहीं है।' उन्होंने कहा, 'ठीक है, परन्तु उनके पास बोली तो है। एक दूसरे की बात वे अपनी बोलीमें समझते समझाते भी हैं। अब यदि कोई पूर्व पूर्वके पशु ज्ञानी रहे हों तो उनकी बोलीमें तत्त्व-ज्ञानकी परम्परा क्यों नहीं चल सकती? नन्दी तत्त्वज्ञानी थे। यदि उन्होंने किसी बैलको वह तत्त्वज्ञान दिया हो तो क्या आश्चर्य है?' मैंने कहा, 'महाराज, उनमें बुद्धि नहीं होती।' वे—'कैसे मालूम?' मैंने कहा, 'उन्हें कपड़ा बनाना नहीं आता।' वे बोले, 'अरे, मनुष्यकी इस बातपर तो पशु हँसते हैं। एक बार बन्दरोंकी एक सभा हुयी। उसमें यह पास हुआ कि 'मनुष्य डरपोक है और अज्ञानी है। ईश्वरने उसे जैसा पैदा किया वह वैसा नहीं रहता। इसके विपरीत हम लोग वैसे ही रहते हैं जैसे हमें ईश्वरने पैदा किया था। हम न कपड़ा पहिनते हैं और न मकान बनाते हैं। तत्त्वज्ञानी मनुष्य जिस वृत्तिसे रहते हैं उससे हम पहिले ही रहते हैं। हम ज्ञानी हैं मनुष्य नहीं।'

उन महात्माका अभिप्राय समझना चाहिये। हम विचार करनेपर भी अपने ही संस्कारोंसे आक्रान्त हो जाते हैं। हममें

मनुष्यपनेका अहंकार है, इसलिये हम मनुष्य जातिको ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। हम अपने विचार, अपनी रहनी, अपनी मर्यादा, धर्म और भाषाको दूसरोंसे अच्छा समझते हैं, इसलिये दूसरोंसे द्वेष और घृणा भी करने लगते हैं। परन्तु सत्यका साक्षात्कार संस्कारावच्छिन्न, संस्काराक्रान्त चित्तसे नहीं हो सकता। और जब तक परस्पर विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मतत्त्वका अनुभव नहीं होता तब तक पक्षपात वुद्धिसे मिट भी नहीं सकता। सत्यता यह है कि संसार अनिर्वचनीय है। इसलिये इसमें कहीं आस्तिकता नास्तिकता हो जाती है और कहीं नास्तिकता आस्तिकता; कहीं धर्म अधर्म हो जाता है और कहीं अधर्म धर्म हो जाता है; कहीं कभी दैवी शक्तियाँ उभरती हैं तो कहीं कभी आसुरी। अनिर्वचनीय प्रपंचमें आप केवल सत्ता या असत्ताका आरोप कैसे कर सकते हैं? अनुभव दोनोंका होता है—अस्तिवृत्तिका भी और नास्तिवृत्तिका भी, भावरूपा वृत्तिका भी और अभावरूपा वृत्तिका भी। परन्तु अनुभवात्मा स्वयंप्रकाश अपना आपा है।

वंगालमें वड़े बड़े विद्वान् कहते हैं कि तत्त्वज्ञानके वाद शक्तिकी उपासना करनी चाहिये। महाराष्ट्रमें तत्त्वज्ञानके अनन्तर भक्तिकी अवश्यकरणीयताका वर्णन किया जाता है। तिलक तत्त्वज्ञको कर्म आवश्यक वताते हैं। हरद्वारके सन्त तत्त्वज्ञको विरक्ति आवश्यक मानते हैं और पंजावकी एक पार्टी तत्त्वज्ञके अमर्यादित व्यवहारका भी समर्थन करती है। परन्तु ये सव आग्रह हैं, अन्तःकरणके अभ्यासके फल हैं। उनका तत्त्वज्ञानसे कोई सम्वन्ध नहीं है।

भगवान् श्री शङ्कराचार्य जी कहते हैं कि विद्वान्के व्यवहारमें पशु आदिके व्यवहारसे कोई विशेषता नहीं है : **पश्वादिभिश्चाविशेषात्**। कहो, नहीं विशेषता है। उनके चार पाँव हैं मनुष्यके

दो। तो लो वे तेज दौड़ते हैं। कहो, उनके हाथ नहीं हैं हमारे हाथ हैं। तो आपको मशीन भी चलानी पड़ती है।

उल्टे समानता बहुत है। पशुने सामने किसीके हाथमें हरी घास देखी। बोला, कल खायी थी। इससे बल और तृप्ति मिली। आज भी खायेंगे तो बल और तृप्ति मिलेगी। नहीं खायेंगे तो कमजोर हो जायेंगे। इसलिये वह हरी घासके प्रति प्रवृत्त हो जाता है। इसके विपरीत किसीके हाथमें डंडा देखा। कलके डंडेवालेकी याद हुयी, डंडेसे उत्पन्न शारीरिक पीड़ाकी स्मृति हुयी। आज भी डंडेकी मारसे पीड़ा होगी। इस प्रतिकूलताके भयसे वह भाग उठा। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेककी प्रक्रियासे वह अनुकूल परि-स्थितियोंमें प्रवृत्त हो जाता है और प्रतिकूलसे निवृत्त। एक मनुष्य ठीक १२ बजे दोपहरको कुत्तोको रोटी फेंकता था। धीरे-धीरे उसे आदत पड़ गयी। यद्यपि कुत्तोके पास घड़ी नहीं थी परन्तु वह नित्य बारह बजनेसे १ मिनट पहिले ही वहाँ आखड़ा होता। रोटी कुत्ता अपने मुंहमें ही सीधा लेता था। एक दिन उस मनुष्यके पास रोटी नहीं थी। परन्तु उसने यों ही रोटी फैंकनेके स्टायलसे कुत्तोकी तरफ हाथ किया। कुत्तोने उसका हाथ अपने मुंहमें गपक लिया।

यह हुआ अनुकूल विज्ञानमें पशुकी प्रवृत्ति और प्रतिकूलमें निवृत्ति। मनुष्यकी भी तो ठीक यही दशा है। जब किसीको तलवार लिये, लाल आँख दिखाते हुए आता देखते हैं तो विद्वान् लोग भी वहाँसे हट जाते हैं और सौम्य प्रकृतिवालेके प्रति प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि पशु आदिके प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्ण होते हैं, इसमें कोई दो राय नहीं हैं, इसीलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्षादि व्यवहारमें पशु और विद्वान्का व्यवहार समान ही है।

प्रत्यक्षव्यवहार तो अन्वय-व्यतिरेकसे समान हो गया। परन्तु

शास्त्रीय व्यवहार ? क्या पशु भी अग्निहोत्रादि कर्म करता है ? स्पष्ट है नहीं करता। परन्तु शास्त्रीय व्यवहार भी अज्ञानीके लिए ही है। कैसे ?

प्रथम तो इसमें अन्धानुकरण है। सब लोग करते हैं, इसीलिए अधिकतर लोग करते हैं।

बचपनमें गाँवमें देखा। सोकर सुबह उठा तो देखा कढ़ाई चढ़ रही है। मालपुआ बन रहे हैं। पूछा क्या बात है ? बताया कि 'गाधीमाई'के लिए है। कौन गाधी माई ? तो बताया समुद्रके पश्चिमी तट पर एक गाधीमाई (गाँधीजी) का अवतार हुआ है जो उसको मालपुआ नहीं चढ़ावेगा उसके घरमें कोई न कोई विपत्तिकी आँधी आवेगी। फिर पूछा कि यह कैसे मालूम ? तो बोले 'गाँवमें सब कह रहे हैं। इसका नाम अन्धानुकरण है।

दूसरे शास्त्रोंमें भी परलोक व्यवहारका अधिकारी बताया है। अधिकारी अपनेको शरीरसे भिन्न संसारी परिच्छिन्न, कर्ता, भोक्ता जीव माने बिना तथा अपनेमें वर्णाश्रम आदिका अध्यास किये बिना परलोकसम्बन्धी शास्त्रीय व्यवहार नहीं कर सकता। इसमें यदि अधिकारी अपनी आत्माको ब्रह्म जान ले तो उल्टे वह उक्त व्यवहारका अधिकारी ही नहीं रहता। यह बात भी शास्त्र ही बताता है। अतः शास्त्रीय व्यवहार भी अज्ञानीके लिए ही है। इस सम्बन्धमें अगला प्रवचन है।

कर्मकाण्डमें, योगमें, महायोगमें, समर्पणयोगमें, राजयोगमें अधिरूढ़ योगमें—किसीमें भी असंसारी अपरिच्छिन्न आत्माकी अनधिकारिता है। सब दुनियाँके चक्करके अन्तर्गत हैं। आत्म-ज्ञान दूसरी ही चीज है। जो उसे नहीं जानते वे इन शास्त्रीय व्यवहारोंमें लग जाते हैं।

(५.४)

शास्त्रीय व्यवहार भी अविद्यावान्‌के लिए ही है

शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसम्बन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम्, अशनायाद्यतीतम्, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम्, असंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा हि 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासम् आश्रित्य प्रवर्तन्ते। (भाष्य)

अर्थ : शास्त्रीय व्यवहारमें तो यद्यपि देहसे भिन्न आत्माका स्वर्गादि लोकोंके साथ सम्बन्ध जाने बिना विवेकपूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष अधिकारी नहीं होता, तथापि उपनिषद्वेद्य, क्षुधा आदिसे अतीत, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेदसे शून्य, असंसारी आत्मतत्त्वकी उस शास्त्रीय व्यवहारके अधिकारमें अपेक्षा भी नहीं है, उल्टे वह अनुपयोगी है एवं उस आत्मज्ञानका कर्माधिकारसे विरोध है। इस प्रकारके आत्मज्ञानसे पूर्व प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् पुरुषके आश्रयत्वका उल्लंघन नहीं करता। जैसे कि 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि शास्त्र आत्मामें वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि विशेष अध्यासका आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होते हैं।

मनुष्य, पशु, पक्षी सब अपने-अपने प्रत्यक्ष व्यवहारमें हित-अनहित देखकर प्रवृत्त-निवृत्त होते हैं। पशु-पक्षो भी विवेकी होते

हैं और मनुष्य भी। परन्तु जहाँ तक अध्यासका प्रश्न है वह पशु-पक्षीमें जैसा होता है वैसा ही मनुष्यमें भी। जो अनन्त, अखण्ड, अद्वय, सच्चिदानन्दघन परमात्मा है वही एक नन्हेसे देह-इन्द्रियोंके संघातमें मैं-मेरा करके व्यवहार कर रहा है। व्यवहार-कालमें बड़े-बड़े विद्वान् भी पशु-पक्षियोंके समान ही व्यवहार करते हैं।

प्रश्न यह है कि ठीक है अज्ञानी तो अपने देहको मैं-मेरा मानकर व्यवहार कर सकता है, परन्तु ज्ञानी तो ऐसा नहीं करता अथवा उसे ऐसा नहीं करना चाहिये। इसपर हम पूछते हैं कि आप ज्ञानी किसको बोलते हो? उस शास्त्रज्ञ परोक्षज्ञानीको, जो शास्त्रकी एक एक पंक्तिको स्वयं लगा सकता है अथवा दूसरेको पढ़ा सकता है, (ऐसे ज्ञानी काशीमें बहुत हैं), तथा जो 'ब्रह्म ऐसा है, ब्रह्म ऐसा है' बखान करते रहते हैं परन्तु जो स्वयं ब्रह्मात्मैक्य बोधसे शून्य हैं; अथवा उस अपरोक्ष ज्ञानीको जिसने अपनेको अद्वय ब्रह्मतत्त्व जान लिया है और जिसकी अविद्या निवृत्त हो गयी है?

तो परोक्षज्ञानी तो अज्ञानी ही है। इसलिये उसका व्यवहार तो पशुके समान अध्यासपूर्वक ही होता है, इसमें तो कुछ कहना ही क्या है। परन्तु अपरोक्षज्ञानी भी जब व्यवहार करेगा तो देहेन्द्रियोंके संघातमें मैं-मेरा किये बिना वह भी व्यवहारमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। अपरोक्षज्ञानीके शरीरमें बैठकर अध्यास ही व्यवहार करता है। ज्ञानी भी जब अपने गुरुको नमस्कार करता है तो ब्रह्म ब्रह्मको नमस्कार नहीं करता, अध्यास अध्यासको नमस्कार करता है। यदि अध्यास न हो तो ज्ञानकी परम्पराका तो उच्छेद ही हो जाय।

फिर ज्ञानी-अज्ञानीमें अन्तर क्या? ज्ञानी अपने ब्रह्मस्वरूपको

जानकर द्वैतको बाधित कर चुका है। इसलिए देह-इन्द्रिय, इनका संघात और इसमें अध्यासित अहं-मम रूप अध्यास—वह सबका सब ज्ञानीकी दृष्टिमें बाधित रहता है अर्थात् मिथ्यात्वेन निश्चित है अर्थात् अपने अखण्ड स्वरूपमें यह संघात और अहं-मम अध्यास मिथ्या प्रतीत हो रहे हैं—यह निश्चय रहता है। क्या स्वप्नके आपके अहं-मम औरउनके द्वारा किया गया व्यवहार जाग्रत्में बना रहता है ? क्या स्वप्नमें चोरी करके आप स्वयंको जाग्रत्में पुलिसके हवाले करते हैं ?

एक महात्मा थे। शिमलामें वेदान्तकी कथा करते थे। उनके पड़ौसमें ही एक 'छोकरी' भी (उन्होंके शब्दों में) कथा करतीं थी। सुन्दर थी, युवा थी, गाती अच्छा थी। अब उसकी कथामें बहुत भीड़ जाये और महात्मा कहते थे कि मेरी कथामें मुश्किलसे १०-५ आदमी आवें। बात क्या थी कि वह अपनी कथामें अपने सात्त्विक सपनोंका बड़ा मनोरंजक वर्णन करती थी। लोग समझते थे कि 'धन्य है, इस बालाको; इसे अपनेमें शिव, शक्ति, नारायण दीखते हैं।' अब लोगोंका तो मन है, क्या कहा जाय, किसीके सपनेपर ही रीझ जायँ। उन्हें विवेक-वैराग्यसे क्या मतलब। एक दिन, वे महात्मा सुनाते थे, हमने उस देवीको अपनी कथामें विशेष निमन्त्रण देकर बुलाया। वे अपने भक्तोंकी भीड़के साथ आयीं। हमारे यहाँ भी उन्होंने प्रवचन किया और वही सब कुछ सुनाया। लोग मन्त्रमुग्ध होकर सुनते रहे। प्रवचन समाप्ति पर जब वह उठने लगीं तो हमने कहा : थोड़ा हमारा प्रवचन भी सुनते जायें। सब लोग रुक गये। हमने सुनाया कि "रात हमें भी एक सपना आया। सपनेमें हमें दो डाकू मिले। उन्होंने हमें खूब मारा, पीटा और गुफामें खदेड़कर भाग गये। अब वे डाकू देखो सामनेवाले दो आदमी हैं। हम चाहते हैं कि पुलिस इन्हें पकड़

ले।" इस पर लोग चिल्लाये : आपने इनको सपनेमें देखा था। जाग्रत्में कैसे पकड़वायेंगे ?

ज्ञानीका व्यवहार भी स्वप्नवत् होता है। व्यवहार सत्ताका ज्ञानीका अहं-मम परमार्थसत्ताके नित्य बोधसे बाधित रहता है जैसे स्वप्नसत्ताके अहं-मम जाग्रत्में बाधित रहते हैं। यहाँ यह ध्यान देनेके योग्य बात है कि स्वप्नकाल और जाग्रत्काल अलग-अलग हैं। अतः स्वप्नसत्ताके अहं-मम स्वप्नकालमें बाधित नहीं होते, जाग्रत्कालमें होते हैं। परन्तु ब्रह्मकाल और व्यवहार-काल ये दो चीज नहीं हैं। ब्रह्ममें व्यवहारकाल आरोपित है। इसलिए ऐसा नहीं है कि ब्रह्मज्ञानके कालमें व्यवहार बाधित रहेगा और व्यवहारकालमें सच्चा रहेगा। व्यवहार अज्ञानकालमें सच्चा होता है और तत्त्वज्ञान होनेके अनन्तर सर्वकालके लिए मिथ्या हो जाता है। अपरोक्षज्ञानीके लिए व्यवहार बाधित रहता है यह बात भगवान् शङ्करने समन्वयाधिकरणमें विस्तारसे कही है।

ज्ञान दो प्रकारका है : एक ज्ञानजन्य ज्ञान अथवा ऐन्द्रियक ज्ञान अथवा पौरुषेय ज्ञान अथवा विषयजन्य ज्ञान और दूसरा ज्ञानाजन्य ज्ञान अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान अथवा अपौरुषेय ज्ञान। बाहरसे इन्द्रियोंके माध्यमसे जो ज्ञानसंस्कार हम अपने अन्दर ले जाते हैं वह पौरुषेय ज्ञान है। वह पुरुषप्रयत्न (इन्द्रिय और-विषयके संयोग) से साध्य है। परन्तु एक ज्ञान वह है जो सम्पूर्ण विशेषका—अशेष विशेषका निषेध कर देने पर ज्ञानमात्र शेष रहता है और जो घट, पट, मठ आदिकी उपाधियोंसे तत्तद् आकारको प्राप्त होता हुआ भी अखण्ड रहता है; वह अपौरुषेय ज्ञान है। वह पुरुष-प्रयत्न जन्य नहीं है। अर्थात् वह पुरुषकी वृत्ति और विषयके सम्पर्कसे उत्पन्न ज्ञान नहीं है। अपौरुषेय होनेसे वह भ्रम, प्रमाद,

विप्रलिप्सा, करणापाटव दोषोंसे मुक्त परिपूर्ण और असंदिग्ध ज्ञान है। अपरोक्षज्ञानी अपौरुषेय ज्ञानका साक्षात् करता है और परोक्ष ज्ञानी केवल पौरुषेय ज्ञानका।

ज्ञानके पश्चात् ज्ञानीका व्यवहार कैसा? आप इस घड़ेको पहिचान लें कि यह कलश है। बादमें चाहे आप इसमें गंगाजल भरें अथवा शराब, पनालेका पानी भरें या फोड़ दें इसे। इसका घटज्ञानसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार अपने आत्माकी ब्रह्मरूपताको जान लिया और उसमें देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणको मिथ्या अनुभव कर लिया। अब चाहे उस अन्तःकरणरूपी घटमें आप कुछ न भरें (योग की समाधि लगायें), गंगाजल भरें (भगवान्‌की भक्तिसे भरें) शराब भरें, (संसार भरें), या पनालेका पानी (सांसारिक रागद्वेष भरें) अथवा उसको फोड़ दें (शरीरका ही त्याग कर दें)। इनका ज्ञानसे कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रयोजन वासनाके अनुसार होता है। आपका 'मैं' न कर्ता-भोक्ता—संसारी-परिच्छिन्न; न सुखी दुःखी, न आने जानेवाला है। इतनी पहचान—ज्ञान है कि आप ज्ञानस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म* हैं। अब आप चाहे समाधि लगाओ या संसार चलाओ। इसमें आपका स्वान्तत्र्य है। परन्तु व्यवहारको प्रक्रिया ज्ञानी अज्ञानी

---

*ब्रह्म सत् चित् आनन्द और अद्वितीय है। महात्माओंने इस अद्वितीयत्वका अलग-अलग भी वर्णन किया है। जिज्ञासुओंको इस विषयमें निम्न ग्रन्थोंका स्वाध्याय वाञ्छनीय है:

सत्ताकी अद्वितीयता सिद्ध करनेके लिए 'अद्वैतसिद्धि'। चेतनकी अद्वितीयताके लिए 'चित्सुखी'। आनन्दकी अद्वितीयताके लिए 'ब्रह्मसिद्धि'। इनके अतिरिक्त साधनके विवेकके लिए 'नैष्कर्म्यसिद्धि' और ब्रह्मसूत्रके तात्पर्य के लिए 'संक्षेपशारीरक' उपादेय हैं।

सबके लिए एक है। तत्-पदार्थ (ईश्वर)के लोकातीत होनेका भी ज्ञान भी हो जाता है। योगसे आत्माका अकर्तृत्व और साक्षी स्वरूपका बोध होता है जो त्वं-पद वाच्यार्थ है। वेदान्त तत् और त्वं पदार्थोंकी एकताका बोधन करता है।

तो शास्त्रीय व्यवहारमें प्रत्यक्ष व्यवहारसे विलक्षणता यह है कि इसमें अधिकारीकी अपेक्षा है। आजकल लोग 'अधिकार'के नामसे चिढ़ते हैं। पण्डितजी यदि गायत्री जपते हैं तो हम क्या उनसे कम हैं, हम महागायत्री जपेंगे। संन्यासी यदि प्रणवका जप करते हैं तो हम क्या उनसे कम हैं, हम महाप्रणव जपेंगे। जरूर जपो भाई, परन्तु शास्त्रीय व्यवहार सबके लिये एक सा नहीं होता। उसमें अधिकारकी अपेक्षा है ही। उसके अभावमें उस कर्मका शास्त्रीय फल उत्पन्न नहीं होता।

संसारमें सारी क्रियायें ठीक हैं, परन्तु उनके अधिकारीके लिये ही वे विहित हैं। गुण धर्ममें या द्रव्यमें नहीं होता उसके प्रयोक्तामें होता है। **प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः।**

अधिकार अर्थात् **फलस्वामितायोग्यत्वम्।** माने एक अधिकारके अनुसार किये गये कर्मके फलको प्रयोक्ता धारण करनेमें समर्थ है या नहीं—इसी विचारका नाम अधिकार-मीमांसा है।

प्रश्न—शास्त्रीय व्यवहार अध्यासपूर्वक है या नहीं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि शास्त्रमें विधान है।

बोले : नहीं, शास्त्रका विधान भी अध्यासको स्वीकार करके ही है। कैसे ? देखो जब शास्त्र कहता है :

अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत।

तो इसमें आत्मामें आयु (आठ वर्ष) और वर्ण (ब्राह्मण)का

अध्यास है न ? इसी प्रकार **ब्राह्मणो यजेत** में वर्णका आत्मामें अध्यास है। **न ह वै स्नात्वा भिक्षेत**में गृहस्थको भिक्षाका निषेध है। यहाँ आत्मामें आश्रमका अध्यास है। **जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत, जीवन् जुहुयात्** में आत्मामें अवस्थाका अध्यास है।

इस प्रकार सभी शास्त्रीय व्यवहारोंमें आत्माका वय, अवस्था, वर्ण, आश्रम आदिका अध्यास स्वीकार करके ही विधि और निषेधका विधान किया गया है। शास्त्रीय अध्यास अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन है। नैसर्गिक अध्यास मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सबमें एक-सा होता है। प्रत्यक्षव्यवहार उसी नैसर्गिक अध्याससे चालित होता है। उसमें जो व्यवहार आत्मशुद्धिमें बाधक है उसका निराकरण करनेके लिये शास्त्रीय अध्यास 'स्थानापन्न अध्यास'के रूपमें स्वीकार किया गया है।

इसलिये शास्त्रीय प्रमाण भी, प्रत्यक्षादि प्रमाणकी तरह, अविद्यावान्को ही आश्रय करते हैं। इस प्रतिज्ञा वाक्यका कि **अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च** कोई विरोध नहीं होता।

अच्छा, अब वेदान्तवेद्य आत्माका शास्त्रीय व्यवहारसे क्या सम्बन्ध है ? भगवान् कहते हैं कि वेदान्तवेद्य आत्मा 'अशनायाद्यतीतम्' है। अर्थात् आत्माको भूख प्यास नहीं लगती।

जैसे मोटर, कार, हवाई जहाज, इंजिन आदि जो मशीनें हैं वे चलती हैं, कार्य करती हैं, तो उन्हें ईंधनकी भी जरूरत होती है। वैसे ही शरीरमें जो यह प्राण चलता है तो उसे भी ईंधनकी जरूरत होती है। इस जरूरतका नाम ही भूख-प्यास है और अन्न-जल-रूप ईन्धन इसी प्राणका भोजन है। आत्मा न खाती है, न पीती है और इसलिये उसे न भूख है न प्यास।

अब प्रश्न हुआ कि ठीक है, प्रत्यक्षव्यवहार तो अज्ञानी और

ज्ञानी सबके लिए समान है और इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाणका आश्रय अविद्यावान् है यह कथन ठीक है। परन्तु शास्त्रीय व्यवहारमें क्या ? जब हाथमें कुशमुष्टि लेते हैं और 'अपवित्रः पवित्रो वा' करके बैठते हैं और यज्ञवेदीके सम्मुख बैठ करके अग्निका प्रज्वलन करते हैं और 'अग्निमीले पुरोहितम्' मन्त्र बोलते हैं इत्यादि— ये सब शास्त्रीय व्यवहार हैं। क्या इनमें जो हमारी प्रवृत्ति होती है उसकी भी हेतु हमारी अहंता-ममता है ?

भगवान् भाष्यकार कहते है : **शास्त्रीये तु व्यवहारे।**

तु* शब्दपर ध्यान दें। यह शास्त्रीय व्यवहारकी प्रत्यक्ष व्यवहारसे विलक्षणता दिखानेके लिए है। विलक्षणता क्या है ? वह यह है कि प्रत्यक्ष व्यवहारमें व्यवहारका प्रेरक हित-अनहित है अथवा अन्वय-व्यतिरेक है, परन्तु शास्त्रीय व्यवहारमें यह मुख्य बुद्धि नहीं है। क्योंकि उसमें अधिकारकी प्रधानता है।

प्रथम तो अधिकारीको बुद्धिमान् होना चाहिये जो उक्त व्यवहारकी शास्त्रीय विधिको ठीक-ठीक समझ सके। शास्त्रीय व्यवहारमें विधि ही सब कुछ है अन्यथा फलमें प्रत्यवाय होगा।

दूसरे, अधिकारीका कोई प्रयोजन होना चाहिये। निष्प्रयोजन शास्त्रीय व्यवहार नहीं होता।

---

* 'तु' शब्द पर मीमांसामें वर्णन है। एक दिन कुमारिल भट्ट पढ़ा रहे थे। पंक्ति आयी : तत्र तु नोक्तं अत्रापि नोक्तम्। पंक्ति लगी नहीं। वहाँ भी 'न' कहा गया और यहाँ भी 'न' कहा गया। कुमारिल सोचने लगे कि क्या नहीं कहा गया। वे चले गये। उनके शिष्य थे प्रभाकर मिश्र। गुरुजीके चले जाने पर उन्होंने गुरुजीकी पुस्तक उठाई और उस पर लिख दिया : तत्र तुना उक्तं अत्र अपिना उक्तम् वहाँ जो 'तु' द्वारा कहा गया वही यहाँ 'अपि' द्वारा कहा गया है। बात दोनों जगह एक कह [illegible] गयी है। गुरुजी लौटकर आये, देखा तो बड़े प्रसन्न हुये।

तीसरे, अधिकारीको यह आस्था होनी चाहिये कि मैं शरीरसे भिन्न जीव हूँ जिसे देहपातके अनन्तर यहाँ किये हुए कर्मोंका फल भोगना पड़े। यहाँका कर्ता ही वहाँका भोक्ता होता है।

शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रभोगः स्यात्। शास्त्रफल प्रयोक्ताको ही लगता है। देह, इन्द्रियाँ तो यहीं रह जाती हैं और फलभोगके लिए देहातिरिक्त कर्ता वहाँ जाकर भोक्ता होगा।

यह चन्देसे जो यज्ञ होता है उस यज्ञका फल यज्ञके बाद ढूंढ़ता है कि किसके पास जायँ। वह फल ही अन्धा हो जाता है। एक यजमान कर्ता होना चाहिये और फल कर्ताको मिलता है। यदि वह कर्ता उस फलको लोक-कल्याणार्थ ईश्वरको अर्पित कर देता है तो ईश्वर उससे लोक-कल्याण करता है। धर्मके लिये चंदा नहीं करना चाहिये। जीवनयापनके लिये भी चंदा नहीं करना चाहिये। शास्त्रमें इसका निषेध है। हाँ, निष्काम भावसे भगवानका कोई उत्सव करना हो तो संघीभूत होकर (इकट्ठे-होकर), मिल जुलकर, कर लेना चाहिये।

'स्वर्गकामो यजेत' वेदवाक्यमें यज्ञका अधिकारी 'स्वर्गकी इच्छावाला' बताया गया है।

यज्ञके परलोक-फलके अलावा कई और लाभ भी हैं। जैसे: (१) यज्ञकर्तामें नियम-पालनका सामर्थ्य आ जाता है। (२) आत्म-बलकी वृद्धि होती है। (३) तपस्याकी शिष्टानुशिष्ट परम्पराका पालन होता है। (४) लौकिक रागद्वेष, निन्दास्तुति से बचते हैं। (५) वेदका अर्थ करनेकी प्रक्रिया आती है। (६) देहसे अतिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें आस्था उत्पन्न होती है। अब यदि याज्ञिक उपासक भी हो तो उसे आत्माको जिंदा रखनेके

लिये खाने पीनेकी जरूरत नहीं है बल्कि प्राणोंको जिंदा रखनेके लिये भोजनकी आवश्यकता है।

जहाँ कर्म है वहाँ हाथ, पाँव, शरीर आदिका हिलना-चलना रूप क्रिया अपेक्षित है और इसलिए भोजनादिकी आवश्यकता है। परन्तु जो आत्माको अकर्त्ता-अभोक्ता-अपरिच्छिन्न-असंसारी जानता है उसके लिए न कर्माधिकारकी आवश्यकता है और न भोजनादिकी। वहाँ तो कर्मसंगसे विमुक्ति ही अपेक्षित है। जो आत्माको भूख-प्याससे अतीत जानता है उसे कर्माधिकार सम्पन्न करनेकी आवश्यकता हीका अनुभव नहीं होगा क्योंकि आत्मा जब नित्य-तृप्त है तब उसमें कर्मफलसे नवीन तृप्ति कहाँसे उत्पन्न होगी? आत्मा भूख प्याससे अतीत है—इस आत्मज्ञानकी कर्माधिकारमें कोई आवश्यकता या उपयोगिता भी नहीं है। उल्टे विरोध है। '**अनुपयोगाद् अधिकारविरोधात् च।**'

अशनायाद्यतीतम् अर्थात् आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता। फिर वह यहाँ यज्ञ करे तो लोकान्तरमें भोग कौन करेगा? इसलिए आत्मा कर्मका अधिकारी नहीं है।

वेदान्तवेद्य आत्माका दूसरा लक्षण बताते हैं: **अपेतब्रह्म-क्षत्रादिभेदम्**। आत्मामें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिका भेद नहीं है। फिर प्रजापतिसव करनेमें ब्राह्मण अधिकारी कहाँसे आयेगा और राजसूययज्ञ करनेमें क्षत्रिय-अधिकारी कहाँसे आयेगा? आत्माके अब्राह्मणत्व, अक्षत्रियत्व धर्म जाननेके लिए न ब्रह्मणाभिमानकी जरूरत है और न क्षत्रियाभिमानकी। उल्टे आत्मा 'अपेतब्रह्म-क्षत्रादिभेदम्, होनेसे कर्मका अनधिकारी है।

अब जो साम्प्रदायिक लोग हैं वे तो इस बातसे चिढ़ ही जायेंगे। परन्तु सच्ची बातको समझना चाहिए।

श्रीहरिबाबाके बाँधपर एक वैष्णव सन्त आये। अब वहाँ

तो खूब कीर्तन होता था, लोग रोते थे दहाड़ मार मारकर, पछाड़ें खाते थे। उसमें संन्यासी भी थे। वैष्णव सन्तने संन्यासियों-से कहा कि तुम्हारा तीन जन्मोंमें उद्धार हो जायेगा। लोगोंने कहा : क्यों ! हम तो खूब भजन-कीर्तन करते हैं ? वे बोले : ठीक है। इस जन्ममें तो तुम संन्यासी होकर भ्रष्ट हो गये। अब अगले जन्ममें इस भजनके प्रतापसे वैष्णव बनोगे। तब उससे अगले जन्ममें हमारे सम्प्रदायमें आओगे। तब तुम्हारा उद्धार होगा।'

कोई कहेंगे : इस जन्ममें धर्म करोगे तो दूसरे जन्ममें ब्राह्मण बनोगे और तीसरे जन्ममें संन्यासी। उसमें भी जब हमारे सम्प्रदायके संन्यासी बनोगे तब तुम्हारा उद्धार होगा। उससे पहले अहं ब्रह्मास्मिसे ज्ञान होनेवाला नहीं है। हे भगवान् ! यह क्या अज्ञान है !

प्रजापतिसवके लिए ब्राह्मण चाहिए, राजसूययज्ञके लिए क्षत्रिय चाहिए, परन्तु ब्रह्मज्ञानके लिए यह सब नहीं चाहिए। उसमें जैसा ब्रह्मणत्व चाहिए सो सुनो ! **लोकेषणायाश्च पुत्रेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति। पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत बाल्यं निर्विद्य मौनेन तिष्ठासेत मौनं चामौनं निर्विद्य अथ ब्राह्मणो भवति** ऐसा ब्राह्मणत्व चाहिए। वहाँ तो कहा : **नाहं विप्रो भिक्षुर्न चाहं**··**निजबोधरूपः**।

भगवान् शङ्कराचार्यकी सेवामें एक महात्मा रहते थे। पढ़े लिखे कुछ थे नहीं। भगवान्के दूसरे-दूसरे शिष्य उद्भट विद्वान् थे। ये थे बस भगवान्की लंगोटी धोते थे और भगवान्के साथ दण्ड लेकर चलते थे। और शिष्य उनकी हँसी भी करते थे। एक दिन भगवान्ने रास्ते चलते सबके सामने उन महात्मासे पूछा : **कस्त्वं शिशो ?** (हे बालक, तुम कौन हो ?) वे बोले 'महाराज ! हमसे पूछते हैं, हम तो न देह हैं न देही, न गृहस्थ, न संन्यासी,

हम तो निजबोधरूपः हैं। अन्य सब शिष्य उनकी इस निष्ठापर चकित हो गये।

ब्रह्म-ज्ञानसे तो उल्टा ब्राह्मणादि अभिमान टूटता है। इसलिये ब्रह्मज्ञानीका शास्त्रीय-व्यवहारमें अधिकार नहीं है।

तीसरा लक्षण आत्माका करते हैं असंसारि। संसार अर्थात् सरकनेवाला। संसारित्व अर्थात् सरकनेका स्वभाव। उस स्वभावका अभाव हुआ असंसारित्व। अभिप्राय यह है कि आत्मामें आना-जाना, गमना-गमन रूप क्रिया नहीं है। तब लोकान्तरमें कौन जायेगा? यज्ञके लिये न तो आत्माके असंसारित्वके ज्ञानकी आवश्यकता है और न आत्माके असंसारित्वको जाननेवाला लोकान्तरमें फल भोगनेके लिये वर्तमानमें कर्ममें प्रवृत्त होगा।

एक महात्मा कहते थे कि संसार वह है जो हमेशा सरक जाय, कभी पकड़में न आ सके और आत्मा वह है जो किसी भी हालतमें छोड़ा न जा सके।

इस प्रकार वेदान्तवेद्यम् कहकर आत्माके सभी औपनिषद लक्षणोंका समावेश कर लिया गया है। यज्ञमें इस वेदान्तवेद्य आत्माके ज्ञानकी उपयोगिता बिलकुल नहीं है, उल्टे आत्मज्ञानका कर्माधिकारसे विरोध है। अनुपयोगाद् अधिकारविरोधात् च।

इसका अर्थ हुआ कि जिसे तत्त्वज्ञान नहीं है वह कर्मका अधिकारी है। दूसरे शब्दोंमें परलोक-धर्म सब अविद्यावान्‌को ही आश्रय करते हैं। यहाँ तक कि जो ब्रह्मज्ञानके मार्गमें भी चलते हैं वे भी अध्यासपूर्वक ही चलते हैं।

कहो कि फिर तो शास्त्र व्यर्थ सिद्ध हुए!

नहीं। व्यर्थ सिद्ध नहीं हुए। आत्म-ज्ञानसे पूर्व सबका उपयोग है। रोग हो और दवाई न खाये तो वह मूर्ख ही कहलायेगा।

ऐसे ही जब तक आत्मा जैसा है, उपनिषदोंमें उसका जैसा वर्णन है, ठीक वैसा ही ज्ञात न हो जाय, अर्थात् आत्मविषयक अविद्या निवृत्त न हो जाय, तब तक शास्त्रीय व्यवहारकी आवश्यकता है।

एक हमारे पढ़े लिखे वेदान्ती मित्र हैं। वेदान्तके ऊँचे-ऊँचे ग्रन्थ पढ़ाते भी हैं। उन्हें कोई रोग हुआ। डाक्टरने ८ दिनके लिये १६ गोलियाँ दीं—२ गोली रोजके हिसाबसे। अब वे ठहरे विरक्त टाइपके व्यक्ति। गोली कहाँ रखें? सोचा खानी ही तो हैं। एक साथ खा गये। परिणाम यह हुआ कि शरीरमें भारी गर्मी बढ़ गयी। लेनेके देने पड़ गये।

इसके विपरीत एक सज्जन दवा लाये। डाक्टरने कहा कि ८ दिन बाद दवा छोड़ देना। उन्होंने सोचा जब छोड़नी ही है तो खाना ही क्यों? दवा ही नहीं खायी। तो वे ठीक थोड़े ही हो गये। वेदान्तियोंमें भी ऐसे लोग है जो कहते हैं जब ब्रह्म-ज्ञानके पश्चात् शास्त्रीय व्यवहार छोड़ना ही है तो पहिले ही क्यों न छोड़ दें। ऐसा ठीक नहीं है।

बंगालमें एक कथा कही जाती है। किसी आदमीके चार बेटे थे। एक सेवा कार्यमें लगा, एक व्यापारमें लगा; एक वेदाध्ययनमें और एक सेनामें रहा। अब चारोंके मत न मिले। सब अपने-अपने कार्यको श्रेष्ठ बतायें। एक दिन चारों बैठे सलाहके लिये कि ऐसा काम करना चाहिये जो चारोंके मतसे चारोंके लिए जरूरी हो। आखिरमें यह तै हुआ कि पिताके मरनेके पश्चात् चारोंको पिताको कन्धा देना पड़ेगा श्मशान ले जानेके लिये। यही काम निर्विरोध था। फिर क्या था। काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब। जा पहुँचे पिताके पास और अपना मन्तव्य प्रगट किया। पिताने उनकी बात सुनकर सिर पीट लिया। बहुतेरा मना किया। परन्तु पुत्र न माने। उठा ली अर्थी पिताकी और कहने लगे राम-नाम-

सत्य हैं। पिताने सोचा 'ये मूर्ख हैं फिर पछतायेंगे। इसलिये जोर लगाकर उठ बैठा अर्थीसे और मारा एक चपत जोरसे बेटोंके।

यह जो शास्त्र है यही पिता है। मूर्ख अज्ञानी प्रजा इसके पुत्र हैं। अद्वैत ज्ञान हुआ नहीं और लगे शास्त्रकी अर्थी जलाने। इसीलिए आचार्यने **प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रम्** लिखा। आत्म-ज्ञानसे पूर्व जो प्रवर्तमान शास्त्र हैं वे अविद्यावान्के लिये नहीं हैं, न तो यह कहा जा सकता है और विद्यावान्के लिये हैं यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः **अविद्या-वद्विषयत्वं नातिवर्तते** (अविद्यावान्के आश्रयका उल्लङ्घन नहीं करता) ऐसा नकारात्मक वाक्य लिखना पड़ा।

ब्रह्म-ज्ञानसे पूर्व शास्त्र ही एक-मात्र सहारा है। शास्त्रके वाक्योंका अर्थ समझना बड़ा कठिन है। एक जगह कहता है— **मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि** (किसी भी प्राणीकी हिंसा मत करो)। यह वाक्य सर्वात्मभावमें स्थित प्राणीके लिये हैं। दूसरी जगह कहता है **श्येनेन यजेत**। (श्येनयाग करे—शत्रुके नाशके लिये)। स्पष्ट है कि यह क्रोधी और द्वेषीके लिये वाक्य है। परन्तु इसका फल देखो क्या होगा? श्येनयाग करेगा तो पहिले सारी सामग्री जुटावेगा, १८ ब्राह्मणोंको, जो विधि जानते हों, ढूंढेगा। समय भी छः मास लग जायेगा। अब ९९ प्रतिशत क्रोध और द्वेष छः मास जीवित नहीं रहेगा। और हो सकता है छः मासमें वह व्यक्ति ही न रहे! माने अन्ततोगत्वा द्वेष निवर्तनमें ही श्येनयागका तात्पर्य है। वर्तमानमें उसके क्रोध और द्वेषका नियामक है।

एक आदमी श्री उड़िया बाबाजी महाराजके पास आया और बोला: हम अमुक व्यक्तिको मार डालेंगे। उसने हमारा अनिष्ट किया है।

बाबा : तू तो बावरा है रे! वह तो छः मासमें अपने आप ही मर जायेगा। क्या तू उसकी हत्या करेगा? तू भी मारा जायेगा।

वह आदमी : तब हम उसे नहीं मारेंगे।

अब वह आदमी कोई छः मासमें मरा थोड़े ही। मगर बाबाकी युक्ति उसके क्रोधावेशको शान्त करनेकी थी।

शास्त्रमें जो आचारप्रकरण हैं, वे चरित्रशुद्धिमें उपयोगी हैं। समाधि तथा अन्य साधन-प्रकरण अन्तःकरण-शुद्धिमें उपयोगी हैं। आत्मसम्बन्धी जो विवेचन है वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन में उपयोगी है अर्थात् अविद्यानिवृत्तिमें उपयोगी है। शास्त्र विषयसे इन्द्रियोंमें लाता है, इन्द्रियोंसे अन्तःकरणमें, अन्तःकरणसे कर्ता भोक्ता जीवमें, जीवसे साक्षी द्रष्टामें और फिर इशारेसे ब्रह्मात्मैक्यमें।

खंजन मंजु तिरीछे नयनन।
निजपति कहेहु तिन्हहि सिय सैनन॥

जबतक अध्यासपूर्वक प्रमाता नहीं बनोगे तबतक प्रमाणका विचार नहीं होगा और जबतक प्रमाणका विचार नहीं होगा तब-तक प्रमेयका विचार नहीं होगा और अविद्यानिवृत्ति नहीं होगी। इसलिये शास्त्र अविद्यावान्‌को आश्रय करनेपर व्यर्थ नहीं होते।

अपौरुषेय ज्ञानके साक्षात्कारमें शास्त्र किस प्रकार प्रमाण है इसपर भी एक दृष्टि डालनी उपयुक्त है।

इन्द्रियों या मशीनोंकी सहायतासे जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अनन्त नहीं हो सकता। यह तो सहज सिद्धान्त है। इन्द्रियोंमें अन्तःकरणकी वृत्ति भी शामिल है। अन्तःकरण क्या है? वास्तवमें तो ज्ञान ही अन्तःकरण है परन्तु वह तत्तद्

इन्द्रियोंकी अनुभूतिके संस्कारोंसे युक्त है। इसलिए संस्कारयुक्त ज्ञानका नाम ही अन्तःकरण है। या यों कहो कि सविषयक ज्ञान-का नाम चित्त (अन्तःकरण) है। और विषयका बाध कर देनेपर चित्तकी चित्तता भी कल्पित हो जाती है तथा अखण्ड भानस्वरूप अपना आत्मा ही शेष रहता है।

सविषयक आत्माका नाम चित्त है और बाधित विषयके भावाभाववत् ज्ञानका नाम आत्मा है जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म है। बाधित विषय कभी भासते हैं, कभी नहीं भासते हैं। परन्तु ये दोनों जिससे भासते हैं उस ज्ञानका नाम आत्मा है।

अब जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं वे इन्द्रियगम्य नहीं हो सकते। जैसे देश, काल, प्रकृति, अविद्या इत्यादि। तब इनका साक्षात्कार कैसे होता है? तत्तद्भावाकाराकारित बुद्धिका ही साक्षात् होता है, अन्यथा नहीं। अतः ये सब पदार्थ साक्षीभास्य हैं। इनमें व्यष्टि-समष्टिका भेद अविद्याकृत है। इन अखण्ड पदार्थोंका खण्ड-वत् बोध होता है। अपने अखण्ड स्वरूपमें ये आत्मासे भिन्न उपलब्ध नहीं होते। इसलिये इन-इनकी कल्पना से तदाकार बुद्धि ही इनके विषयमें प्रमाण है। उस बुद्धिमें जो कल्पनाका प्रकाशक है (द्रष्टा, साक्षी) वह उसके कल्प्यका अधिष्ठान भी होता है। कल्पनाके प्रकाशक और अधिष्ठानकी एकतासे निष्पन्न आत्मा ब्रह्म है और कल्पना, अपने परिच्छिन्न आश्रय और विषय सहित बाधित है।

मैंने एक महात्मासे पूछा : महाराज, ब्रह्मज्ञान क्या? वे बोले : घटज्ञान क्या है?

मैंने उत्तर दिया कि घटाकार वृत्ति ही घटज्ञान है। तब उन्होंने कहा : ठीक इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति ही ब्रह्मज्ञान है।

तुम तो ब्रह्माकार वृत्तिसे पहिले और पीछे ब्रह्म ही हो, परन्तु इसको जाननेके लिए ब्रह्माकार वृत्ति अपेक्षित है।

ब्रह्माकार वृत्ति अथवा ब्रह्मप्रमा। जीवत्व-भ्रमकी निवृत्ति ब्रह्म प्रमासे ही होती है। दुःखका नाश ब्रह्माकार वृत्तिसे ही होता है।

इस ब्रह्म-प्रमाका करण अथवा प्रमाण क्या है ?

गन्ध-प्रमा, रूप-प्रमा इत्यादि जो परिच्छिन्न वस्तुओंकी प्रमायें हैं वे अनन्त ब्रह्मकी प्रमा नहीं हो सकतीं। परिच्छिन्नताका जो बीजयुक्त अभाव है वह अभाव भी ब्रह्म-प्रमा नहीं, क्योंकि वह भाव-प्रतियोगी है। देश, काल और द्रव्य पृथक् हैं और इसलिये भावा-भावाकाराकार भी ब्रह्म-प्रमा नहीं है। तब इसका असाधारण-करण क्या है ? क्या 'सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ? नहीं, क्योंकि यद्यपि इसमें ब्रह्मके अनन्तत्वकी कल्पना तो होती है तथापि इससे परिच्छिन्न 'मैं' का बाध नहीं होता। फिर क्या 'अहं द्रष्टा' ? यह भी नहीं, क्योंकि यद्यपि इसमें मैंके चेतनत्वका बोध तो होता है, परन्तु अपनी पूर्णताका बोध नहीं होता। प्रतिशरीर द्रष्टा भिन्न है यही ज्ञान दृढ़ होता है।

असलमें तत्त्वमीमांसाकी प्रक्रिया यह है कि अन्तःकरणकी उपाधिसे जो उपहित चेतन द्रष्टा है और कल्पित (विचारित) पूर्णताकी दृष्टिसे (उपाधिसे) जो उपहित अधिष्ठान चेतन है वह एक है। दूसरे शब्दोंमें जो कल्पनाका साक्षी है वही कल्पनाका अधिष्ठान है। इसी एक चेतनका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म होनेसे इसमें न द्वैत-जाल है, न आकार, न वृत्ति और न इनके निमित्त। सबके सब बाधित हैं। इस एकत्व ज्ञानके बोधक जो तत्त्वमस्यादि महा-वाक्य हैं वे ही इस ब्रह्म-प्रमाके असाधारण करण हैं। वही जीवत्व-भ्रमको निवृत्त करती है।

तत्त्वमीमांसा अर्थात् प्रत्यक् चैतन्य आत्माकी परिपूर्णताका बोध। वही ईश्वर, जीव और उन दोनोंकी कल्पनाओंका अधिष्ठान है। **सच्च त्यच्च।**

परन्तु यह जो ब्रह्माकार वृत्ति है वह विषयाकार वृत्तिसे विलक्षण है। विषयाकार वृत्तिमें वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति दोनों होती हैं। माने घटाकार वृत्तिमें दो सामर्थ्य होती हैं: (१) घटका प्रकाश अथवा घटके अज्ञानकी निवृत्ति; जैसे 'यह घट है' यह ज्ञान। यही वृत्तिव्याप्ति है और (२) घटज्ञानके अभिमानकी उत्पत्ति जैसे 'मैं घटको जानता हूँ'। यह फलव्याप्ति है। परन्तु ब्रह्माकार वृत्तिमें वृत्ति-व्याप्ति तो होती है फलव्याप्ति नहीं होती। 'मैं ब्रह्मको नहीं जानता, यह अज्ञान तो निवृत्त हो जाता है, परन्तु मैं ब्रह्मको जान गया' यह अभिमान उदय नहीं होता। 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' इस अभिमानके उदय हुये बिना अज्ञानको मिटा देना, यह महावाक्यजन्यवृत्तिका कौशल है।

इसीलिये ब्रह्माकार वृत्ति ऐन ज्ञानके क्षणमें उदय होकर अज्ञानवृत्तिका नाश करके अपने अधिष्ठानमें ही लय हो जाती है। ब्रह्माकार वृत्तिकी आवृत्ति अनावश्यक है और आवृत्तिकी इच्छा अविद्यामूलक है। सिद्धान्त तो यही है कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके श्रवणमात्रसे ही ज्ञान हो जाता है। आवृत्ति मन्द जिज्ञासुके लिये है। उसमें भी उसको तत्त्वमसि वाक्यार्थसे प्रच्युत करके आवृत्तिमें प्रवृत्त नहीं करना चाहिये, क्योंकि वर-नाशके लिये कन्याका विवाह नहीं करते, यह श्रीशङ्कराचार्य भगवान्‌का वचन है:

तत्रापि न तत्त्वमसि वाक्यार्थात् प्रच्याव्यावृत्तौ प्रवर्तयेत्। नहि वरघाताय कन्याम् उद्वाहयन्ति। (ब्रह्मसूत्रभाष्य ४।१।२)

यदि तुम वृत्तिकी आवृत्ति करने लगोगे तो ब्रह्मको वृत्तिका

विषय बनाओगे, स्वयं उस वृत्तिके कर्ता बनोगे और वृत्त्यारूढ़को ही मानोगे ब्रह्म! 'अहं ब्रह्मास्मि' कोई जपका मन्त्र नहीं है। वह तो जैसे एक बार रोशनीमें घटको पहिचान लिया जाता है वैसे ही बस एक बार आत्माको पहिचान लिया जाता है। फिर आत्मा तो स्वयं है ही ब्रह्म। आत्माका ब्रह्मत्व महावाक्यजन्य प्रमा है और ज्ञान अपने स्वरूपमें किसी प्रमाणका फल नहीं है। वह अपौरुषेय है।

कोई सज्जन महात्माके पास गये। बोले: महाराज, मैं दुःखी हूँ।

महात्मा : नहीं रे, तू तो ज्ञानस्वरूप है।

वे : नहीं महाराज, मैं तो अज्ञानी हूँ!

महात्मा : क्यों रे, यदि तू अज्ञानी होता तो 'मैं अज्ञानी हूं' यह कैसे जानता? जो जिसको जानता है वह उससे अलग होता है।

इस प्रकार जो ज्ञान, ज्ञान और अज्ञान दोनोंको जानता है वही अपौरुषेय ज्ञान है।

ब्रह्मज्ञानमें कोई ज्ञानी नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानमें तो अभिमान है वे स्वयं नहीं जानते कि ज्ञान क्या होता है और अज्ञान क्या होता है। अभिमान दृश्य है और ज्ञान प्रकाश!

साधक सावधान! आचार प्रमाण नहीं होता और प्रमाण आचार नहीं होता। आचारका फल दूसरा है प्रमाणका फल दूसरा है। आचारका सम्बन्ध रहनीसे है और प्रमाणका फल ज्ञान से। आचारको निष्ठावान्- बनाओ और प्रमाणका विचार करो। आचारमात्रसे ज्ञान नहीं मिलेगा!

लोग प्रायः इन्द्रियगम्य वस्तुओंकी ही जिज्ञासा करते हैं। इन्द्रियातीत अनन्त वस्तुके सम्बन्धमें यदि प्रश्न तुम्हारे चित्तमें उठता है तो समझना ईश्वर तुम्हारे हृदयमें उतरना चाहता है। वह तुम्हें आत्मीयत्वेन स्वीकार करना चाहता है। अवधूतगीतामें प्रारम्भमें ही कहा है :

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।

ईश्वरके अनुग्रहसे ही पुरुषमें अद्वैतकी वासना होती है। इसलिए उस जिज्ञासाको दबाओ मत! उन महापुरुषोंको खोज करो जिनसे इस जिज्ञासाका समाधान हो जायेगा।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(५. ५)

प्रमाण-भाष्यका उपसंहार : १

अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति; तथा देहधर्मान्—स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्—मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरण-धर्मान्—कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्। एवमहंप्रत्य-यिनम् अशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्य-गात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति।

(भाष्य)

अर्थ :—अतद्में तद्बुद्धि ही अध्यास है, ऐसा हम पहिले कह चुके हैं। जैसे कोई पुत्र, स्त्री आदिके पूर्ण या अपूर्ण होनेपर 'मैं ही पूर्ण हूँ, अथवा मैं ही अपूर्ण हूँ' इस प्रकार बाह्य पदार्थोंके धर्मका अपनेमें अध्यास करता है तथा 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं जाता हूँ, मैं लाँघता हूँ,' इस प्रकार देहके धर्मोंका अध्यास करता है और 'मैं मूक हूँ' मैं काम हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं बहिरा हूँ' इस प्रकार इन्द्रियोंके धर्मोंका अध्यास करता है। इसी प्रकार, काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरणके धर्मोंका अपनेमें अध्यास करता है। इसी प्रकार अहंप्रत्ययवाले अन्तःकरणका अन्तःकरणको सम्पूर्ण वृत्तियोंके साक्षीभूत प्रत्य-

गात्मामें अध्यास करके और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्य-गात्माका अन्तःकरणादिमें अध्यास करता है।

अध्यासको स्वीकार किये विना जगत्की कोई भी त्रिपुटी व्यवहारमें सिद्ध नहीं हो सकती। ब्रह्मके निरूपणमें भी जिज्ञासुपने की स्थापना करके और बोध्यरूपसे परमात्माकी स्थापना करके ही वेदान्तशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है। यदि अज्ञानी ही न हो और उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा ही न हो तो शास्त्र फिर किस काममें आवेंगे? इसका अर्थ है कि जबतक रोग है तबतक दवा है। रोग मिटनेपर दवाकी जरूरत नहीं है।

शास्त्रकी कौनसी बात सबसे अच्छी? यह प्रश्न ठीक नहीं है। जैसा रोग होगा वैसी ही उसकी औषधि शास्त्रसे प्राप्त होगी। क्या औषधालयकी सारी दवाइयाँ सारी बीमारियोंपर चलती हैं? फिर औषधालयमें सबसे अच्छी कौनसी दवाई, यह प्रश्न निरर्थक है।

दुःख ही मनुष्यका रोग है। अब दुःख किस जातिका है? उसी जातिकी औषधि चाहिए। यदि दुःख वासनाका है तो वासनानिवर्तक उपासना-प्रधान औषध है। यदि दुःख वृत्तिकी चलञ्चताका है तो समाधि उसकी औषधि है। यदि सत्यके अज्ञान-का दुःख है तो तत्त्वज्ञान उसकी औषधि है। फिर भी, रोगीके लिए ही औषधि है स्वस्थके लिये नहीं।

भागवतमें कहा है कि : **शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्तकम्।** शास्त्र पिताके सदृश है। वह बच्चोंको आगमें हाथ डालनेसे रोकता है। जो उसके आदेशको मानता है और उसके निवर्तकत्वके अभिप्रायको समझता है वह विपत्तिसे बच जाता है, इसके विपरीत जो नहीं मानता-जानता वह दुःख उठाता है।

शास्त्रादेशकी विधिको तर्कसंगत बनानेका आग्रह अनावश्यक है; उसके निवर्तकत्वको देखना चाहिए। वेदका तात्पर्य कहीं भी सटानेमें नहीं है; जहाँ तुम फँसे हो वहाँसे हटानेमें हैं। उदाहरणार्थ यदि आप भोगासक्त हैं तो शास्त्र भोक्तासक्तिकी निन्दा करता है। यदि आप पापासक्त हैं तो शास्त्र पापकी निन्दा करता है। निन्दामें भी शास्त्रका तात्पर्य उस विषयके सर्वथा परित्यागमें नहीं होता।

एक आदमी जुहू जा रहा था। हमने कहा : समुद्रमें बहुत भीतर घुसकर स्नान मत करना। उसने कहा : आप अभीसे मीन-मेष करते हैं तो हम जुहू ही नहीं जायेंगे। अब उसने हमारे *निवर्तकत्वके अभिप्रायको समझा ही नहीं। कर्म ही त्याग दिया।*

प्रपञ्चमें कहीं भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए—न स्थावर सोना-चाँदी-नोटमें और न जंगम स्त्री-पुरुष-पशु-पक्षियोंमें। आसक्ति ही बन्धन है। किसी खास कर्ममें हो, स्थिति-अवस्थामें हो, जड़-चेतन पदार्थमें हो—सभी आसक्तियाँ अहमाश्रित होनेसे बन्धन हैं। समाधि भी अहमाश्रित है। वह भी पूर्णको नहीं लखा सकती। शास्त्रका अभिप्राय समाधिमें नहीं, विक्षेपसे मुक्तिमें है; इष्टोपासनामें नहीं भोगवासनासे छुट्टीमें है, सच्चरित्रतामें नहीं, दुश्चरित्रतासे मुक्तिमें है।

अज्ञानीके लिए होनेपर भी प्रमाण प्रमाण ही होते हैं। रूप नेत्रसे ही दिखेगा, शब्द कानसे सुना जायेगा, ध्यान मनसे ही होगा, विवेक बुद्धिसे ही होगा, स्थिति वृत्तियोंकी शान्तावस्थामें ही होगी!

कहो कि हम तो अध्यास पार कर चुके तो 'चिरं जीव्यताम्' (बेटा, चिरंजीव रहो)। फिर तो आपको विचारकी भी जरूरत नहीं है। विचारके भी गुलाम मत बनो! तत्त्वज्ञान और केवल तत्त्वज्ञान ही मनुष्यको स्वातन्त्र्य प्रदान करता है; अन्यथा धर्म,

उपासना, योग सब गुलाम बनाते हैं। कैसे? जीवन भर धर्म करते रहो, जीवन भर उपासना करते रहो, जीवनभर योग करते रहो—यह गुलामी ही तो है। जो हमेशाके लिये रखनेको हो वह तो गुलाम बनाना चाहता है। उसे छोड़ दो।

मनुस्मृतिमें कहा गया :

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः॥

'पराधीनता ही दुःख है और स्वान्त्य ही सुख है। संक्षेपमें दुःख और सुखका यही लक्षण जानना चाहिये'।

स्वातन्त्र्यं सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्यं परमं पदम्।

आपको कोई क्रिया या भावना मुक्त नहीं कर सकती, क्योंकि वह आपके द्वाराकी हुयी होगी और आप उसी क्रिया या भावनासे बँध जायेंगे। आप कर्तृत्वपूर्वक जो करेंगे उसीसे बँध जायेंगे। कर्तृत्वपूर्वक की गयी समाधि भी आपके कर्तृत्वको पुष्ट करेगी आपको निवृत्त नहीं करेगी।

कहो कि इसी न्यायसे विवेक भी हमको बाँध लेगा। बोले : नहीं। विवेक ही एक ऐसी वस्तु है जो अज्ञानको मिटाकर खुद भी मिट जाता है और हमें सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त कर देता है। इसलिये जिज्ञासाकी अपेक्षा है। यह बात जिज्ञासासूत्रके भाष्यार्थमें भामतीकारने वड़े विस्तारसे बताई है।

जितने धर्म हैं वे ब्राह्मणत्व आदिके अध्याससे होते हैं और जितनी उपासनायें हैं वे दासत्व आदिके अभिमानसे होती हैं :

अस अभिमान जाय जन मोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

सेवकत्वके अध्याससे उपासना होगी, कर्तृत्वके अध्याससे धर्म होगा और परिच्छिन्न साक्षीके अध्याससे द्रष्टा होकर बैठेंगे। परन्तु जब अपने अखण्ड अद्वय स्वरूपको जान जायेंगे तो परिच्छिन्नता

और उसका अभाव दोनों तुरन्त बाधित हो जायेंगे। यह अखण्ड तत्त्वका साक्षात्कार है।

मोकलपुरके बाबा कहते थे: "गुरू ! कुछ बनाया नहीं तब तो इतना भास रहा है। अब अगर कुछ करोगे तो यह घटेगा नहीं बढ़ेगा ही।"

यह शास्त्रका सार है, सिद्ध सन्तकी वाणी है। उपनिषद्ने कहा: **नास्त्यकृतः कृतेन** अर्थात् कर्मसे अकर्मरूप मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। कर्ममें तो अधिकारी, क्रिया, प्रयोजन और सम्बन्ध रहता है। उससे अद्वैत ब्रह्म कहाँ मिलेगा। यह तो ब्रह्मविद्यासे ही प्राप्त होगा। और यह ब्रह्मविद्या ज्योंकी-त्यों विद्या है। यह कुछ करके पानेकी विद्या नहीं है, कुछ भोगके सुखी होनेकी विद्या नहीं है। कुछ सोचके ध्यान—धारणा करके शकल-सूरत बनानेकी विद्या नहीं है। यह तो जैसा है वैसा ही जान लेनेकी विद्या है। अस्तु।

भगवान् शंकराचार्यका कहना यह है कि व्यवहार चाहे शास्त्रीय हो या लौकिक सब अध्यासको स्वीकार करके ही निष्पन्न होता है। माने हम हैं तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव चेतन, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदशून्य, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अखण्ड अपरिच्छिन्न ब्रह्म। परन्तु जब अविद्यावश हम अपनेको एक व्यक्ति मान लेते हैं तब हमारे सामने कर्तव्यकी उपस्थिति होती है।

अब इस प्रसंगको उपसंहारकी ओर ले जानेके लिये अध्यासकी परिभाषाका पुनः स्मरण कराते हैं। परन्तु दूसरे शब्दोंमें: **अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः।** अध्यासकी यह सबसे छोटी और सर्वाधिक व्यावहारिक परिभाषा आचार्य श्रीने की।

जो वस्तु जो है उसे वह न जानकर उसे वह जानना जो वह

नहीं है, यह अध्यास है। रामको श्याम जानना, मोहनको सोहन जानना, स्त्रीको पुरुष या पुरुषको स्त्री जानना, पीतलको सोना जानना, शुक्तिको रजत जानना, रज्जुको सर्प जानना, अखण्डको खण्ड जानना या खण्डको अखण्ड जानना, अव्यक्तको व्यक्त जानना या व्यक्तको अव्यक्त जानना—ये सब अध्यास हैं। अध्यास माने भूल, अध्यास माने विपर्यय, अध्यास माने मिथ्या ज्ञान या अज्ञान या भ्रान्ति—किसी भी अर्थमें समझ लो। इसकी व्याख्या तो हो ही चुकी है।

अब इस 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः'के उदाहरण देते हैं। **यथा पुत्र-भार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वा, इति बाह्यधर्मानात्मनि अध्यस्यति।** किसीका बेटा बीमार पड़ा या बड़ा अफसर हो गया तो वह मानता है 'हाय, हाय, मैं ही बीमार हूँ' अथवा 'अहो! मैं कितना ऊँचा हो गया।' इसी प्रकार किसीकी पत्नीके बीमार होनेपर अथवा अत्यन्त सुन्दर होनेपर कोई अपनेको बीमार अथवा सुन्दर माने। ये और इस जैसे सभी उदाहरणोंमें शरीरसे बाहरके धर्मोंका आत्मामें अध्यास है। लोग जातिके, बिरादरीके, सम्प्रदायके, राष्ट्रके सुखदुःखोंका अपनेमें अध्यास करके सुखी या दुःखी होते ही हैं। एक राजा अपनी सेनाके हार जानेसे अपनेको पराजित अनुभव करता है। जिस गाँवको राजा केवल नक्शेमें ही जानता है जो राजधानीसे ५००० मील दूर है उसके शत्रु द्वारा छीन लिये जानेकी खबर पाकर, वह भी पाँच दिन बाद राजा रोता है कि 'हाय हाय मैं मर गया।' यह सब क्या है? अहं ममका अध्यास ही तो।

आपै लीपै आपै पोते, आपै काढ़ै होई।
औंधी पड़के बेटा माँगे, अकल राँडकी खोई॥

अपने आप ही झूठी चीजको सच्ची मानते हैं, अपने आप ही

सम्बन्धकी कल्पना करते हैं, और फिर अपने आप ही सुखी-दुःखी होते हैं।

अब दूसरा उदाहरण देते हैं। देह भी तो एक बाह्य पदार्थ ही है। जैसे बाह्य पदार्थों स्त्री-पुत्रादिके धर्मोंका आत्मामें अध्यास होता है वैसे ही देहके धर्मोंका भी आत्मामें अध्यास होता है। इसका प्रमाण है कि हम कहते हैं कि 'मैं स्थूल हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं गौरवर्ण हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं जाता हूँ, मैं लाँघता हूँ' इत्यादि। स्थूलता, कृशता, वर्ण, गति—ये सब शरीरके धर्म हैं जिनका अध्यास आत्मामें होता है।

एक बार अखबारमें हमने पढ़ा था कि आठ मनके सज्जन-की चार मनकी स्त्रीके साथ शादी हुयी। ये पहलवान जो होते हैं उन्हें भी अपने-अपने वजनका अभिमान होता है। लोगोंको गोरी चमड़ीका अभिमान होता है। परन्तु हमने गोरी चमड़ीको काली और काली चमड़ीको गोरी होते देखा है। हमने पुरुषको स्त्री और स्त्रीको पुरुष होते देखा है। फिर देहके इन धर्मोंमें अहं-मम अध्यास सब झूठा है।

इसी प्रकार आत्मासे इन्द्रियाँ भी बाह्य हैं। उनके धर्म जैसे गूंगापन, कानापन, नपुंसकता, बहिरापन, अन्धापन इनका आत्मामें अध्यास करते हैं। उसका प्रमाण हमारे ये अभिमान हैं कि 'मैं गूँगा हूँ, मैं काना हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं बहिरा हूँ, मैं अंधा हूँ' इत्यादि।

अन्तःकरण भी आत्मासे बाह्य है। उसके धर्मोंको जैसे काम, संकल्प, संशय (विचिकित्सा) और निश्चय (अध्यवसाय) आदिका आत्मामें अध्यास करके हम कहते हैं कि 'मैं कामना-वान् हूँ, मैं संकल्पवान् हूँ, मैं संशयी हूँ, मैं दृढ़निश्चयी हूँ'।

अब विवेक करो कि स्त्री-पुत्रादि तो स्पष्टरूपसे अपनेसे अन्य भासते हैं। विचारसे शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण भी अन्य भासते हैं। इनके भावावस्थामें (जाग्रत् या स्वप्नावस्थामें) आप रहते हैं और इनकी अभावावस्थामें (सुषुप्तिमें) आप रहते हैं। आप ये कैसे ? अर्थात् ये आप नहीं हैं।

यहाँ यह प्रश्न लोग करते हैं (और उनमें साधक लोग भी हैं) कि ठीक है, स्त्री-पुत्रादिकी तकलीफको अपनी मानना अध्यास-जन्य हो सकता है, परन्तु अपने शरीरकी तकलीफको 'मनकी तकलीफ' कहकर कैसे अलग रखा जा सकता है। वहाँ तो स्पष्ट 'मैं तकलफमें हूँ' यह वृत्ति उठती है।

आप पहले यह निश्चय कर लो कि तकलीफ सिर्फ मनमें ही होती है, न दूसरेके शरीरमें और न अपने शरीरमें। तकलीफ अनुभवकर्ताके मनकी चीज है, फिर चाहे वह दूसरेके शरीरकी हो या अपने शरीरकी।

पहले हमें यह ख्याल था कि मन तो चैतन्य ही है। फिर उपनिषद् में पढ़ा : **अशितं त्रेधा विभज्यते**। अर्थात् मन अन्नसे बनता है। खायी हुयी चीजके तीन भाग हो जाते हैं : उत्तमांशसे मन, मध्यमांशसे शरीर और स्थविष्ठ अंश मलमूत्रके रूपमें बाहर निकल जाता है। फिर एक प्रमाण और मिला। भाँगसे मन एक ढंगका होता है तो गाँजेसे दूसरे ढंगका। अफीमसे तीसरे ढंगका। इंजेक्शनसे मन सो जाता है और मनके सोनेके साथ तकलीफ भी सो जाती है। अतः अन्वय-व्यतिरेकसे तकलीफ मनमें है।

अब, मन कभी रहता है कभी नहीं रहता परन्तु मैं तो सदा रहता हूँ। मन अभी हँस रहा है तो अगले क्षण ही रोने लगता है। काशीमे पं० मदनमोहन शास्त्री थे। उनके व्याख्यानका यही चमत्कार था कि श्रोता भी अभी हँस रहे हैं तो अगले ही क्षण

जोर-जोरसे रोने लगते थे। इसमें शास्त्रीजीकी प्रशंसा तो इतनी ही है कि वे इस बातको जानते थे कि मानव-मनमें हँसने और रोने दोनोंका सामर्थ्य है। स्वभावसे वह दोनोंसे अलग हैं।

मनका धर्म है: काम, संकल्प, विचिकित्सा, अध्यवसाय आदि। किसी वस्तुकी चाह काम है। वह वस्तु अच्छी है पानेयोग्य है, पाना है—यह संकल्प है। पानेकी विधि विहित है या अविहित—ऐसा द्वन्द्व विचिकित्सा है। पाऊँगा ही यह दृढ़ निश्चय अध्यवसाय है।

आजकल लोग जब बेटोंके भ्रष्ट आचारणके आधार पर मिनिस्टरोंकी आलोचना करते हैं तो कहते हैं: बेटेकी बातका बापकी बातसे क्या सम्बन्ध? माने दोनोंके धर्म अलग-अलग हैं। एकका दूसरेपर आरोप (अध्यास) अनुचित है। परन्तु वे ही लोग वेदान्तके अध्यास सिद्धान्तकी आलोचना भी करते हैं!

मनकी बात मनकी है और आत्माकी बात आत्माकी है। अध्यास मत करो। यह तकलीफ हुयी स्थूल शरीरमें और इसका भान हुआ मनमें। दोनोंको अपना मानते हो इसलिए आप दुःखी होते हैं। परन्तु यह अध्यासजन्य दुःख है। यह भूल मत कर बैठना कि आप यह सोचने लग जायँ कि जब शरीरमे दर्द हो और मनमें व्यथा न हो तब हम सिद्ध होंगे। इस प्रकार जिंदगी भर आप सिद्ध नहीं हो सकते। इसकी भी एक सीमा होती है। आप तकलीफ सहनेकी आदत डाल सकते हैं परन्तु वह भी किसी सीमा तक ही होती है। उसके बाद तकलीफ अनुभव होने लगेगी। लोग जो यह समझते हैं कि अमुक महात्मा हो गये तो उन्हें अब दर्द क्यों होगा, गलत है। शरीरमें दर्द है तो कहीं न कहीं तो अनुभूत होगा ही!

कोई २०-२५ बरस पहलेकी बात है। एक भक्तजी थे। मुझसे

कहने लगे : ब्रह्मज्ञानीको क्यों तकलीफ होनी चाहिए। मैंने कहा : भाई, ब्रह्मज्ञानीके मनमें यदि तकलीफ हो और मैं दुःखी हूँ यह अभिमान भी हो तो भी उसके स्वरूप साक्षी ब्रह्मकी कोई हानि नहीं है। परन्तु आप भक्तराजकी वृत्ति तो भगवदाकार ही रहनी चाहिए, दुःखाकार होनी ही न चाहिए, फिर क्यों आपको तकलीफ होती है ?

असलमें वृत्तिकी कृष्णाकारिताका दुःखाकारितासे विरोध है परन्तु साक्षी तो वृत्तिमात्रका साक्षी है। उसका वृत्तिके किसी आकारके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा मतलब यह नहीं है कि ज्ञानीको दुःखी होना चाहिए या भक्तिमें कोई कमी है। हम सिर्फ यह बताना चाहते हैं कि असलमें जो चीज मनमें है उसे मनमें रहना चाहिए। दर्द स्थूल शरीरमें है और उसकी पीड़ा मनमें अनुभूत होती है। मनमें ही उसकी फलवृत्ति कि 'मैं दुःखी हूं' उदय होती है। दुःखीपनेकी वृत्ति देहमें दर्द होने पर भी होती है और न होनेपर भी होती है। मनके दुःखको अपने ऊपर ओढ़ लेना यह अध्यास है।

अनात्मधर्मोंका अध्यास आत्मामें और आत्मधर्मका अध्यास अनात्मपदार्थोंमें होता है—यह बात सामान्य अनुभवकी हुयी। अब धर्माध्यासके समान ही धर्मीके अध्यासकी बात कहते हैं।

एवम् अहं प्रत्ययिनम्। यह जो अहंप्रत्ययी है जिसका स्वरूप है : मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं विक्षिप्त, मैं वासनावान् इत्यादि इत्याकारक अभिमान सारे अनर्थोंकी जड़ है। जैसे आप पुत्रसे 'अहं पुत्रवान्' और धनसे 'अहं धनवान्' अहंप्रत्ययी बन जाते हैं, परन्तु पुत्र और धनके नष्ट होने पर भी झूठा अहंप्रत्यय शेष रह जाता है। वैसे ही शरीर आपके हाथसे निकल जाता है, बुद्धि

आपको धोखा दे जाती है, तपस्या नष्ट हो जाती है, फिर इनके झूठे प्रत्ययोंको समेटे बैठे रहनेसे क्या लाभ ?

हमको कितने ही समाधिवाले रोते मिले हैं। कहते है 'महाराज ! अब समाधि नहीं लगती, पहिले तो गलती थी !' बोले : भाई, वह तो पराये घरकी औरत थी जो तुमने घरमें रख ली थी। अब चली गयी तो रोते क्यों हो ?

कितने ही भक्तराज कहते हैं : महाराज, पहिले हमें इष्टका दर्शन होता था अब नहीं होता ! बोले : भाई, वह इष्ट किसी दूसरे लोकसे चलकर आया था अब चला गया तो क्यों रोते हो ? अब या तो तुम मरकर वहाँ जाओ या उसे जबरदस्ती यहाँ बुलाओ !

आत्मज्ञानमें तो इस मनको ही छोड़ देना पड़ता है फिर इसके अहं प्रत्ययकी तो बात ही क्या ? अहंप्रत्ययी अर्थात् छोटा मैं। यह जो मैं-मैं-मैं प्रतीत होता रहता है सो अहंप्रत्यय है। एक देहका मैं, स्थूल शरीरका मैं, सूक्ष्म शरीरका मैं, जाग्रत्का मैं, स्वप्नका मैं, सुषुप्तिका मैं, मैं अज्ञानीका मैं—यह सब अहंप्रत्ययी ही है। इसकी न उम्र है, न वजन, न लम्बाई, न चौड़ाई, न शकल न सूरत। यह बिलकुल मिथ्याप्रत्यय है अपने अभावके अधिकरण अखण्ड स्वयंप्रकाश साक्षीमें।

प्रत्यय अर्थात् बाहरसे भीतर ठूंसी गयी प्रतीति जो कभी भासे कभी न भासे। **प्रतीपम् अयनम्। प्रतीपम् अयते।** 'अहं धनवान्' इसमें धन बाहर है। उसके सम्बन्धसे 'धनवान्' प्रत्यय है और 'अहं धनवान्' यह मिथ्या ज्ञान अहंप्रत्ययी है। यह अहंप्रत्यय बाह्य-निमित्तके भाव, अभाव, परिवर्तनसे विकृत या नष्ट हो जाता है। अतः यह मिथ्या है।

अहंप्रत्ययी अलग है और जो साक्षी है सो अलग है। अहं-प्रत्ययी मिथ्या है और साक्षी सत्य है। इसी झूठको सचमें और सचको झूठमें मिला करके यह अध्यास होता है। प्रत्यगात्माको बाह्य शरीरादिमें और साक्षीको दृश्यमें (अन्त:करणादिमें, अहं-प्रत्ययमें) मिलाकर यह अध्यास होता है।

महात्माने कहा : अध्यास होता है तो होने दो। इसे ऐसा जानकर ऐसा ही छोड़ दो। हम लोग जब कहते : महाराज, आज तो बहुत दु:ख है। तो वे कहते : अच्छा तो बेटा, आज इस मनको दु:खी ही हो लेने दो। कह दो 'हे अहंकार! आज तुम २४ घंटे दु:खी ही हो लो। बीचमें छोड़ा तो मार डालेंगे!'

"भाई मेरे! यह अहंकार जो रोनेवाला, सुखी-दु:खी सूक्ष्म शरीरी है वह मैं नहीं हूँ। यह जो बुद्धिवाला, विद्यावाला समाधि-वाला, उपासनावाला, मैं है वह मैं नहीं हूँ। मैं तो अखण्ड ब्रह्म हूँ। जैसे पड़ोसीका नन्हा मुन्ना रोता है, रोने दो इसे। चुप मत कराओ। नहीं तो और रोयेगा। अपने स्व रूपका विचार करो।"

एक आदमी धर्मशालामें ठहरा। वह तो मालिक ही बन गया। बोला : धर्मशालामें यह आवे यह न आवे! इसको मत ठहराओ, उसको मत ठहराओ। सब यात्रियोंको बड़ा कष्ट होवे। आखिर सब बोले : बाबा, तुमको रहना हो रहो जाना हो जाओ। यह तो धर्मशाला है। इसमें हजार आयेंगे, हजार जायेंगे।

यह तन मन अभिमानकी धर्मशाला है। इसके वैकल्य या साकल्यको अपने ऊपर आरोपित मत करो। यह आरोप अध्यास है। जो ये हैं वह तुम नहीं हो और जो तुम हो वह ये नहीं है।

यह जो अहं-प्रत्ययी है और जो 'अशेषस्वप्रचारसाक्षी' है वे अलग-अलग हैं। प्रत्ययके साथ तादात्म्यापन्न चेतन अथवा प्रत्ययका अभिमानी अहंप्रत्ययी है। यह अन्त:करणकी ही एक

वृत्ति है। परन्तु जो साक्षी है वह अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियों और उनके तथा स्वयं अन्तःकरणके भावाभावका साक्षी है। यही अशेषस्वप्रचारसाक्षी है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं और इनकी अवान्तर अवस्थाओंको जो तटस्थ भावसे देखता रहता है, जिसके होनेपर ही ये अवस्थायें दीखती है, जिसमें ये आती जाती हैं वह स्वयंप्रकाश सर्वावभासक सर्वाधिष्ठान अखण्ड अद्वितीय चेतन तत्त्व ही साक्षी है। साक्षी तो अहं-प्रत्ययका साक्षी है। साक्षी देखता भर है वह किसीसे सटता हटता नहीं है, परन्तु अहंप्रत्ययी राग-द्वेष दोनों करता है। अहं-प्रत्ययी क्षणिक-विज्ञान है। वह क्षण भरमें अपनेको दुःखी मान ले और दूसरे ही क्षण सुखी मान ले। अभी घाटेका तार मिला तो दुःखी और दूसरी जगहसे लाभका तार मिला तो सुखी। तो क्षणिक-विज्ञान है अहं-प्रत्ययी और बौद्ध लोग इसको ही आत्मा भी मानते हैं, परन्तु इसका उच्छेद भी मानते हैं। इसके विपरीत वेदान्तोक्त साक्षी इस क्षणिक-विज्ञानवाले और उच्छेद्य अहं-प्रत्ययीका भी साक्षी है। साक्षीकी ज्ञानरूपता अध्याहार (उधार)में नहीं मिली जबकि अहं-प्रत्ययीमें स्पष्टतः प्रत्यय बाहरसे आया है और इसलिये यह अध्यास है। प्रत्ययको प्रत्यक् आत्मा (साक्षी)से और प्रत्यक्को प्रत्ययसे मिला देना—अर्थात् प्रत्ययमें अभिमान करके अहं-प्रत्ययी बन जाना, यही अध्यास है। आत्मामें अन्तःकरणके धर्मोंका और अन्तःकरणमें आत्माके धर्मोंका अध्यारोप होता है, अध्यास होता है :

एवमहंप्रत्ययिनम् अशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण अन्तःकरणादिषु अध्यस्यति।

जीवनमें अहंप्रत्ययी और साक्षीका विवेक कर लेना चाहिये।

आप दिनमें अनेक बार सुखी-दुःखी होते हैं। परन्तु 'मैं दुःखी' इस प्रत्ययके उदयके पहले भी आप थे; इसके चले जानेपर भी आप रहते हैं। इसी प्रकार 'मैं सुखी' इस प्रत्ययके उदयसे पूर्व और अस्तके पश्चात् भी आप रहते हैं। अर्थात् आप ऐसी कोई चीज हैं जो अहंकारके बदलनेसे बदलती नहीं। वही आप हैं।

कोई अच्छा काम कर दिया, तुरन्त मनमें प्रतिक्रिया हुयी : मैं पुण्यात्मा हूँ। कोई बुरा काम हो गया तो मनमें उठा : मैं पापी हूँ। यह सब क्या है ? अहं-प्रत्ययीकी स्वीकृति। सारा वेदान्त यहाँ आकर ही चोट करता है कि तुम जो अपनेको अहं-प्रत्ययी मानकर बैठे हो वह गलत है। यह भूल है। यह भूल नासमझीसे पैदा हुयी है। तनिक विचार करो—सुबहसे शाम तक कितने प्रत्यय आते हैं और जाते हैं; तुम किस-किसको अहं मानते फिरोगे ? यह तो अपने विखण्डनका मार्ग हुआ !

बचपन आया, 'मैं बच्चा' मान लिया; जवानी आयी, 'मैं जवान' मान लिया; बुढापा आया 'मैं बुड्ढा' हो गया। किसी बुड्ढे पुरुष या स्त्रीको कह दो कि 'तुम्हारी उम्र थोड़ी लगती है' तो खुशीसे फूल जायेंगे। यह अहं-प्रत्ययीकी स्वीकृतिका प्रमाण है ! धन आया धनी मान लिया; धन चला गया गरीब मान लिया !

अरे भाई ! इन बाहरी आने जानेवाले प्रत्ययोंके साथ अपनेको क्यों जोड़ते हो ? इन उपाधियोंके राहित्य और साहित्यसे अपना स्वरूप मत बदलो ! इस मनकी गुलामीसे ऊपर उठो।

आप लोगोंने दाल पकती देखी है ? हमने तो विद्यार्थी-अवस्थामें बनायी भी है। उसमें जो दाल चुरनेकी आवाज होती है, बस वैसी ही यह अहं-अहं-अहं वृत्ति है जो अन्तःकरणमें उठती

रहती है। प्रत्येक वृत्तिमें यह अहं अलग-अलग होता है। इन सब अहंमें जो एक है वह चेतन है; वही साक्षी है।

'अशेषस्वप्रचारसाक्षी'में स्वप्रचारमें मजा है। स्वप्रचार अर्थात् अन्तःकरणका व्यवहार। अशेष स्वप्रचार अर्थात् अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ।

आजकल लोग प्रचार करते हैं समाजसुधारका, भक्तिका अथवा वेदान्तका। परन्तु होता तो है वह स्वप्रचार ही। आप समाजमें दोष देखते हैं, लोगोंको अभक्त देखते हैं अथवा अज्ञानी देखते हैं; तब न प्रचारकी वासना जागती है! परन्तु भाई मेरे! जिस तराजू पर आप समाजका दोष, अज्ञान और नास्तिकता तौलते हैं वह तो आपके भीतर ही है। उस तराजू पर तो आपका अहं ही सबसे पहले सदोष सिद्ध होता है! पहले अपने घरकी सफाई करो, फिर दूसरेके घरकी सफाई करना। गंदी झाड़ूसे घर साफ भी नहीं होता। उसी प्रकार गंदे अहंसे दूसरोंका सुधार भी नहीं होता।

साक्षी प्रचारक नहीं है, वह अशेष-प्रचारसाक्षी है। जितने कर्म होते हैं, जितने भोग होते हैं, जितने विषय होते हैं, जितनी वृत्तियाँ होती हैं और जितने अहं होते हैं इनका जो करण-निरपेक्ष साक्षी है वह अशेषस्वप्रचारसाक्षी है।

पश्यति इति द्रष्टा। साक्षात् पश्यति इति साक्षी। इन्द्रिय बिना वृत्ति बिना देशकालादिसम्बन्धं बिना सर्वं पश्यति इति साक्षी।

यह वैयाकरण लोग कितने विवर्तवादी होते हैं, उसका यह नमूना है। धातु है 'दृश्', देखनेके अर्थमें, परन्तु जब देखनेकी क्रिया उसके द्वारा होती है तब 'दृश्' दृश् न रहकर 'पश्' हो जाती है। अर्थात् 'दृश्'में 'पश्' विवर्त है। अस्तु। जब तक देखता है तब तक द्रष्टा। जब साक्षात् देखता है तब साक्षी।

जहाँ तक साक्षीकी रश्मियाँ, प्रकाशनशीलता फैलती हुयी मालूम पड़ती है वह वास्तवमें न फैलती है, न सिकुड़ती है, न बदलती है और न उसमें विषय होता है। कारण कि जब देश भी ज्ञानस्वरूप ही है तो ज्ञानरश्मि फैले सिकुड़े कहाँ? और जब काल भी ज्ञानस्वरूप है तो बदले कैसे? और जब वस्तु भी ज्ञान-मात्र है तब रश्मियोंमें कौन सा अन्य विषय होगा?

ऐसे साक्षीको एक अन्तःकरणमें बैठके, एक अन्तःकरणका अभिमान करके एक अहं-प्रत्ययीके साथ मत जोड़ो।

एकने कहा: महाराज! हमको तो यही लगता है कि हम चित्तवाले हैं। मैं कहता हूँ: आप निश्चय मानो कि 'हम चित्त-वाले हैं' यह प्रत्यय उतना ही सच्चा है जितना 'हम धनवान् हैं' यह प्रत्यय। धन तो अपनेसे साक्षात् पृथक् मालूम पड़ता है परन्तु विचारसे चित्त भी अपनेसे पृथक् मालूम पड़ेगा। हाँ, यह ठीक है कि जैसे धनी 'हम धनी हैं' इस अभिमानको नहीं छोड़ता वैसे ही अविचारी लोग भी 'हम चित्तवाले हैं' इस प्रत्ययको नहीं छोड़ सकते।

एक जादूगर आया। उसने अपने जादूसे एक कच्चा धागा फेंक दिया आसमानमें और वह धागा निराधार खड़ा हो गया। उसके बाद एक सिर आकर उसमें लटक गया। अब जादूगर अपना जादू दिखा रहा है। उस सिरसे वह कहता है: अरे ओ पंडित! श्लोक बोल! और वह सिर श्लोक बोलने लगा—धर्म-क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः इत्यादि।' फिर बोला: अरे ओ भगतजी! बोल, कृष्ण कृष्ण! और वह सिर कृष्ण-कृष्ण बोलने लगा। फिर बोला: अरे ओ मानुस, हँस! और वह सिर खिल-खिलाकर हँसने लगा। ऐसे जादुओंका उल्लेख कोई २५०० बरस पुराने ग्रन्थोंमें भी मिलता है।

इस दृष्टान्तका दार्ष्टान्त क्या है ? जैसे कच्चे धागेका आसमानमें लटकना, उसमें सिरका लटकना, उस सिरका बोलना, हँसना, रोना सब उस मायावीकी मायाकी शक्तिके आश्रित है, उसी प्रकार चिदाकाशमें, अपने अखण्ड अनन्त ब्रह्मस्वरूपमें, इस चिदाभासरूपी धागेमें बँधे हुये ये पिण्ड और ब्रह्माण्ड और ये अलग-अलग दिखाई पड़ते हुये अहंप्रत्यय जैसे 'मैं राजा हूँ', मैं सेठ हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं पति हूँ, मैं पत्नी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि—ये सब मायाके खेल हैं। इनकी प्रतीतिमें कोई तत्त्व नहीं है।

तो 'मैं चित्तवाला' कौन बोलता है ? यह सिर ही बोलता है। सिर अर्थात् मूड़। जो मूड़ है वही मूढ़ है। यह मूढ़ अहङ्कार है जो अपने परिच्छिन्न मैं को ही सब कुछ समझ लेता है।

देखो भाई ! आपमेंसे बहुतसे लोग हिन्दू भाववाले होंगे। और होना भी चाहिये। हिन्दू होना गौरवकी बात है, कोई हानिकी बात नहीं है। परन्तु आपको महात्माओंकी बात सुनाता हूँ। आप नाराज मत होना और न महात्माओंको भारतवर्षसे निकाल देना।

एक महात्मा जंगलमें बैठे हैं। कोई सज्जन उनके पास आकर कहते है : 'महाराज, सब लोग ईसाई हुये जा रहे हैं। हिन्दू धर्मका बहुत ह्रास हो रहा है। कुछ करना चाहिये।' महात्माने कहा : 'अच्छा भैय्या ठीक है ! मनुष्य तो रहेगा न !

अब देखो, उन सज्जनकी दृष्टि कहाँ थी ? धर्म पर। और महात्माकी दृष्टि थी मनुष्य पर—न हिन्दू पर, न ईसाई पर। आप समझो, मनुष्य हो या देवता, जीव है या नहीं ? जीव चाहे चींटी हो या ब्रह्मा, उसमें चैतन्य है या नहीं ? और चैतन्य एक अखण्ड ब्रह्म है।

वेदान्त माने होता है—एक धरतीका नहीं सारे ब्रह्माण्डका, नहीं कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका प्रलय हो जाय, तो भी अपने अनन्त स्वयंप्रकाश ब्रह्ममें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

प्रलयस्यापि हुंकारैः चराचरविचालनैः।
विक्षोभं नैति यस्यान्तः स महात्मेति कथ्यते॥

चराचरको विचलित करनेवाले प्रलयकी हुँकारमें भी जिसका अन्तःकरण विक्षोभको प्राप्त नहीं होता वही महात्मा कहा जाता है। श्री उड़िया बाबाजी महाराज इस श्लोकको हमको कई बार सुनाते थे।

महात्मा किसको कहते हैं? जिसने महान् ब्रह्मसे अपनेको एक कर दिया।

भविष्यं नानुसंधत्ते नातीतं यश्च शोचति।
वर्तमाननिमेषं तु ह्यसंगेनातिवर्तते॥

'जो भविष्यके चिन्तनमें मगन नहीं हो जाता, भविष्यका अनुसंधान नहीं करता। अतीतके लिये जो शोक नहीं करता और जो वर्तमान निमेषको असंगरूपसे बिता रहा है वह महात्मा है।'

सिनेमाके पर्दे पर क्या आया, याद करनेकी कोई जरूरत नहीं; क्या आयेगा इसके ख्यालकी भी कोई जरूरत नहीं है। जो आ रहा है उसे देखते जा रहे हैं!

जैसा सोचते हैं वैसा नहीं होता। जैसा नहीं सोचते वैसा होता जाता है। अनन्त कोटि ब्रह्मांड प्रगट हो रहे हैं, बदल रहे हैं और नष्ट हो रहे हैं। इनमें तुम्हारा 'मैं' कोई नहीं है। पर्दे पर दीखनेवाली छायासे लड़ाई मत करो, ब्याह मत करो, प्यार मत करो, उसके लिये मरो मत!

असलमें वेदान्तका कहना यह है कि जो चित्त है, जो चैत्य है और जो चित्ति है वह तीनों अध्यास हैं। चित्तको जो मालूम पड़ता है, विषय, वह चैत्य है; जो चित्तकी शान्त और उदित वृत्ति है वह चित्त है; जो उस चित्तको मैं माननेवाला है अहं प्रत्ययी, वह चित्ति है। वेदान्त कहता है कि ये तीनों—चित्त, चैत्य और चित्ति, अध्यास हैं और जो प्रत्यगात्मा है, सर्वसाक्षी उसका साक्षिताके विपर्ययसे जड़ अन्तःकरणादिमें अध्यास कर लेते हैं कि अन्तःकरण चेतन है और मैं अन्तःकरणवाला हूँ। ●

(५. ६)

प्रमाण-भाष्यका उपसंहार : २

एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्वप्रवर्त्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

(भाष्य)

अर्थ—निष्कर्ष यह कि इस प्रकारसे अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या ज्ञानरूप तथा आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका प्रवर्तक यह अध्यास सर्वलोकप्रत्यक्ष है। अनर्थके हेतुभूत इस अध्यासकी समूल निवृत्तिके लिए तथा ब्रह्मात्मैकत्वकी प्रतिपत्तिके लिए सारे वेदान्तोंका आरम्भ होता है। सब वेदान्तोंका यह प्रयोजन जिस प्रकारसे सिद्ध होता है उसे उसी प्रकार हम यहाँ शारीरक-मीमांसामें दिखलायेंगे।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यह अध्यास, जिसका लक्षण अतस्मिंस्तद्बुद्धिः किया गया, सर्वलोकप्रत्यक्ष है अर्थात् सब लोग इसको जानते हैं। इसके लिए प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

एकने पूछा : अज्ञान है, इसमें क्या प्रमाण है? हम कहते हैं : अज्ञानके होनेमें प्रमाण पूछना ही अज्ञानमें प्रमाण है। यदि अज्ञान नहीं है तो प्रमाण क्यों पूछते हो? क्या तुमको यह नहीं मालूम पड़ता कि 'मैं यह नहीं जानता' (अहं इदं न जानामि), 'मैं

आत्माको नहीं जानता' (अहम् आत्मानं न जानामि) 'मैं ब्रह्मको नहीं जानता' ? जब तुमको यह प्रत्यक्ष मालूम पड़ता है तब अज्ञानमें प्रमाण क्यों पूछते हो ?

प्रमाण-प्रमेय अज्ञानसे ही सिद्ध होते हैं। अरे, अपना प्रमातापन भी अज्ञानसे ही सिद्ध होता है।

'अहं अज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) यह वृत्ति आपके अन्तःकरणमें क्या प्रत्यक्ष नहीं है ? अपने अज्ञानके साक्षी आप स्वयं हैं। क्या टार्चसे आपका अज्ञान आपको दिखाया जाय ?

वेदान्तकी क्रान्तिकारी बात आपको सुनाते हैं। वेदान्तके मतसे कोई अन्तःकरण सर्वज्ञ नहीं हो सकता चाहे वह सन्त हो, महन्त हो, आचार्य हो या आपके सम्प्रदायका प्रवर्तक हो। अन्तः-करण व्यक्ति है और व्यक्तिकी शक्ति सीमित होती है। वह संसार-के अनुभव करनेमें इन्द्रियों द्वारा परतन्त्र होता है। व्यक्तिरूपसे, अपनेको अन्तःकरणवान् मानकर, कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता और ब्रह्मरूपसे जो सर्वज्ञ है वह बिना अन्तःकरणके ही है। कट गया न सारा अन्धविश्वास !

व्यक्ति माने जो अव्यक्तसे प्रगट हुआ और उसीमें लीन हो जायेगा। व्यक्ति माने व्यंजित (जाहिर प्रगट)। जैसे भोजनमें कोई व्यंजन यदि हमेशा खाया जाय, यदि वह बदले नहीं, तो उसका स्वाद ही मर जायेगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति है वह अव्यक्तसे कुछ जुदा होकर जाहिर होता है। वह पूर्ण नहीं हो सकता।

व्यक्ति एक व्यंजन है। नाकके लिए तरह-तरहके इत्र व्यंजन हैं; जिह्वाके लिए तरह-तरहके स्वाद व्यंजन हैं; आँखके लिए तरह-तरहके रूप व्यंजन हैं इत्यादि। अनेक इत्र, अनेक स्वाद,

अनेक रूप, अनेक स्पर्श, अनेक शब्द—ये सब व्यक्ति हैं। इनका महत्त्व इनके अलगावमें है, इनकी पूर्णतामें नहीं है। ये न पूर्ण हैं और न हो सकते हैं।

वेदान्तमतमें कोई भी व्यक्ति सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता। सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कर्तृत्व किसी भी जीवमें नहीं हो सकता

जगद्व्यापारवर्जं (ब्रह्मसूत्र ४.४.१७)

सम्पूर्ण सृष्टिका संचालन किसी एक व्यक्तिसे नहीं हो सकता। सम्पूर्ण व्यक्तियोंके कर्मका फल देना भी एक व्यक्तिके हाथमें नहीं हो सकता। इसके लिए ब्रह्मसूत्रने कहा : **फलमत उपपत्तेः** (३।२।३८) अर्थात् कर्मफल ईश्वरसे ही सबको प्राप्त होता है।

यह जो वेदान्त-दर्शन है वह व्यक्तित्वका संस्थापक नहीं है, उसका विरोधी है। वेदान्तज्ञान किसी भी आचार्यत्व, महन्तत्व, सन्तत्व अथवा अवधूतत्वका भी प्रवर्तन नहीं करता।

सम्यग् बोधः निवृत्तिरूपमर्दनादिति प्रवृत्तिवत्।

सम्यक् बोध जैसे प्रवृत्तिका उपमर्दन करता है वैसे ही निवृत्तिका भी उपमर्दन करता है, क्योंकि वह भी अन्तःकरणमें ही होती है।

प्रवृत्ति, निवृत्ति, गद्दीधारण, महन्तत्व इत्यादि ये सब अहं-प्रत्ययी बननेके परिणाम हैं। पुरोहित, मौलवी, पादरी, सम्प्रदाय—ये सब अहं-प्रत्ययसे उत्पन्न माया है और इसका परिणाम है राग और द्वेष। वेदान्त इस अध्यास जन्य अहं-प्रत्ययपर ही कुठाराघात करता है। वेदान्त राग-द्वेषकी कहीं स्थापना ही नहीं होने देता। उसकी दृष्टिमें एक अखण्ड परमात्मामें सब ज्योंके-त्यों वर्तमान हैं।

अच्छा, अब यह अध्यास कबसे है, किसने बनाया, कब तक

चलेगा ? भगवान्‌ने कहा : **एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः**…

एवम् अयम् अध्यासः—उपर्युक्त प्रक्रियासे प्रमाणित 'अतस्मिंस्तद्-बुद्धिः' लक्षणवाला यह जो अध्यास है वह **अनादि, अनन्त** और **नैसर्गिक** है।

अनादि अर्थात् जिसकी आदि, शुरूआत न हो। माने हमेशासे चला आनेवाला।

अनन्त : अर्थात् जिसका अन्त, खातमा न हो। माने जो हमेशा चलता रहे। परन्तु यदि अध्यास अनादि और अनन्त हो तो उसके ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त होनेकी आशा भी व्यर्थ है। इसलिए अनादि अनन्तका अर्थ है—कालकी धारामें इसका आदि और अन्त नहीं है परन्तु अधिष्ठानज्ञानसे इसको बाधरूप निवृत्ति शक्य है। यह अर्थ इसके आगे **मिथ्याप्रत्ययरूपः** में से निकल आता है। प्रत्ययके अधिष्ठान-ज्ञानसे प्रत्ययका मिथ्यात्व अनुभवमें आ जाता है। इसी प्रकार यह जो **नैसर्गिक** अर्थात् 'प्राकृत' 'अकृत्रिम' (बनावटहीन) अध्यास है वह **सर्वलोकप्रत्यक्ष** होनेसे प्रत्ययरूप है (अथवा प्रत्ययरूप होनेसे सर्वलोकप्रत्यक्ष है); और जब इस (कालमें) प्रवाहीरूप अनादि अनन्त नैसर्गिक प्रत्ययके अधिष्ठानका ज्ञान हो जाता है तब यह अध्यास **मिथ्या-प्रत्ययरूप** हो जाता है। अतः **अनन्त**का अर्थ है कि अध्यास अधिष्ठान-ज्ञानके बिना निवृत्त नहीं हो सकता।

एक कलक्टर थे। विलायत होकर आये थे। वे कहते थे : आप लोगोंको जिसका पता नहीं चलता उसको आप अनादि बता देते हो ! परन्तु ऐसी बात बिलकुल नहीं है। हम अनादि पदार्थको अनादि-रूपसे जानकर ही अनादि बोलते हैं। हम अज्ञातको अनादि नहीं बोलते; अनादित्वेन ज्ञातको ही हम अनादि बोलते हैं। हमारा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि जब हम कालका

साक्षात्कार करते हैं और उसका आदि अन्त पकड़ने लगते हैं तो बिलकुल अनवस्था प्राप्त होती है। फिर दो अनवस्थाओंके बीचमें जो वर्तमान है वह भी व्यवस्थित कहाँसे होगा; वह भी अनवस्थित ही होगा।

बदलते हुए कालका जो अखण्ड साक्षी है वह कालको देख रहा है और कालका आदि-अन्त नहीं मिलेगा, यह भी देख रहा है; वह कालके मध्यवर्ती रूपको देख रहा है और यह भी देख रहा है कि कालका जो यह मध्यवर्ती चल रूप है वह प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त नित्य चक्र है। इन सबका साक्षात्कार होता है।

आप अध्यासका आदि जानना चाहते हैं? माने आपका प्रश्न यह है कि 'हमारी यह नासमझी कबसे है?' हम आपसे पूछते हैं 'अच्छा जी, आप जो यह नासमझी पूछ रहे हो वह किसी खास चीजके बारेमें नासमझी पूछ रहे हो या सब चीजोंकी नासमझीके बारेमें पूछ रहे हो? आप पूछते हैं नासमझी कबसे? हम पूछते हैं कि आप यह क्यों नहीं पूछते कि 'कबकी अर्थात् कालकी नासमझी (कबका अज्ञान) कबसे?'

अज्ञान कबसे? माने अज्ञान कितने बजकर कितने मिनटसे है, कितने बरससे है, कितने मन्वन्तरसे है, कितने कल्पसे है, कितने महाकल्पसे है? कालके किस हिस्सेमें अज्ञान प्रारम्भ हुआ, यही न पूछ रहे हो? हम कहते हैं: आप यह क्यों नहीं पूछते कि काल कबसे है? आप कहेंगे: यह तो मैं जानता हूँ कि काल हमेशासे है। हम कहते हैं कि 'बस यही अज्ञान है। कालमें जो हमेशापन है वह अज्ञानसे सिद्ध है।'

आकाशके किस हिस्सेमें अज्ञान सबसे पहिले-पहल पैदा हुआ?

अरे बाबा ! प्रश्न भी थोड़ी समझदारी रखकर पूछा जाता है। तुम वास्तवमें यह पूछना चाहते हो कि देश तो हमें पहिलेसे मालूम हो गया था, अब उसके बाद उसके किस हिस्सेमें अज्ञानकी उत्पत्ति हुई ? माने तुम्हारा प्रश्न देशके बारेमें है ही नहीं। देशको तुमने स्वतः सिद्ध पदार्थ मान लिया।

अच्छा, देश है—यह तुमको कबसे मालूम पड़ा ? पहिले देशका ज्ञान हो लेगा, तब न उसमें अज्ञानकी उत्पत्ति होगी ! बोले : यह तो नहीं मालूम। तो कहा : बस यही अज्ञान है।

देश-कालकी उत्पत्तिके पूर्व अज्ञान है, बादमें नहीं। इनकी (देश और कालकी) उत्पत्ति भानात्मक होती है, वस्त्वात्मक नहीं। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये। वृत्तिके उदयके पूर्व काल नहीं है, कालकी उत्पत्ति नहीं है। सन्मात्र काल है। वृत्तिके उदयके पूर्व देश नहीं है, देशकी उत्पत्ति नहीं है। सन्मात्र देश है।

वृत्तिकी उत्पत्तिके समकाल ही देश, काल और वस्तुकी उत्पत्ति होती हैं। अर्थात् वृत्ति और देश-काल-वस्तु समकाल ही उत्पन्न होते हैं। अब आगे विचार करो।

वृत्तिकी उत्पत्तिके पूर्व क्या हैं ? मैं। वृत्तिकी उत्पत्तिके पूर्व 'मैं'का होना जरूरी है। जब वृत्तिकी उत्पत्तिके पूर्व 'मैं'का होना जरूरी है तो ज्ञात देश, ज्ञात काल और ज्ञात द्रव्य जो वृत्ति-समकाल हैं, उन सबसे पूर्व तुम हो।

अब अज्ञान कहाँ है ? अपने स्वरूपको न जाननेके कारण ही देश, काल, द्रव्य, वृत्ति ज्ञातत्वेन उत्पन्न होते हैं और अज्ञातत्वेन अज्ञान है। अधिष्ठानका साक्षात्कार होते ही इनकी ज्ञातता और अज्ञातता दोनों बाधित हो जाती हैं।

एक आदमीने पूछा : यह बेवकूफी हमारे अन्दर कहाँसे आई ?

हमारा मतलव है कि लोक-व्यवहार ऐसा है कि किसीसे कोई गलती हो जाती है तो वह लोगोंको यह समझाता है कि उसने अमुक गलती इस वजहसे की, अथवा उस वजहसे की। अर्थात् वह यह कहना चाहता है कि उसने जो गलतीकी वह सोच विचार करके की! अपनी भूलका कारण वताना भूलका पोषण करना है। जब तुम अपनी भूलको सही सिद्ध करना चाहते हो तभी तुम भूलका कारण वताते हो! असलमें तो भूलका कारण भूल है और उस दूसरी भूलका कारण भी भूल ही है। अब जिससे अनवस्था न होने पाये, इसलिये हमको एक आदि भूल माननी पड़ती है। सबके शुरूमें भूल ही रहती है।

कहो कि: नहीं जी, यह भूल तो मैंने सीखी है देख-देख करके! किससे सीखी है? तो कहा कि गुरुजीसे! भाई मेरे! भूल सीखी नहीं जाती, स्कूलमें पढ़ायी नहीं जाती। भूलका कारण भूल ही होता है।

आप इसको एक लौकिक दृष्टान्तसे समझें! माना आप किसी भाषाको नहीं जानते। कबसे नहीं जानते? कहा: जन्मसे नहीं जानते। जन्मसे पहिले जानते थे? शायद जानते हों। तो वह सीखके जाना या विना सीखे ही जाना? सीखके ही जाना होगा। तो सीखनेके पहिले नहीं जानते होगे तब न सीखोगे! तात्पर्य यह कि जाननेके पहिले अज्ञान होता है। अर्थात् अज्ञान अनादि होता है और जिसका अज्ञान है उसका ज्ञान प्राप्त करके उसे मिटाया जाता है।

वेदान्तमें इसी प्रकार अज्ञानको अनादि परन्तु सान्त (अधिष्ठान-ज्ञानसे निवर्त्य) मानते हैं।

बाबू सम्पूर्णानन्दजीने एक पुस्तक लिखी है 'चिद्विलास।'

उन्होंने आपत्ति उठायी है कि 'जब तुम (वेदान्ती) अविद्याको अनादि मानते हो तो सान्त कैसे मान सकते हो?' उन्होंने वेदान्तके 'सान्त' शब्दको ठीक नहीं समझा। वेदान्तमें सान्तका अर्थ है 'अधिष्ठान ज्ञानके द्वारा निवर्त्य'। अविद्या अनादि है और प्रवाहरूपसे नित्य भी है। भगवान् शङ्कर ने भी 'प्रवाह-रूपसे नित्य परन्तु अधिष्ठान-ज्ञानके द्वारा निवर्त्य' इसी अर्थमें अविद्याको अनन्त कहा है। भामतीकार और विवरणकार दोनोंका सिद्धान्त यही है कि अज्ञान चाहे जबसे चला आ रहा हो परन्तु अज्ञानके आश्रय और विषयकी एकताके ज्ञानसे वह निवृत्त हो जाता है।

'मैं अज्ञानी हूँ, हमें बहुत अज्ञान है' इस प्रकारके अज्ञानके ज्ञानसे अज्ञान नहीं मिटता। साश्रय और सविषय अज्ञानके ज्ञानसे अज्ञान मिटता है। माने अज्ञान जिसके बारेमें है (अज्ञान-का विषय) उसको जब जानोगे तब अज्ञान मिटेगा। अब यदि विषय अपना आपा ही हो तो? जिसको अज्ञान है (अज्ञानका आश्रय) और जिसके बारेमें अज्ञान है (अज्ञानका विषय), दोनों एक हो गये न !

अज्ञान क्या था? अनन्तको सान्त समझ लिया था, आत्माको अनात्मा समझ लिया था, पूर्णको परिच्छिन्न समझ लिया था—यही तो अज्ञान है न ! जब आप अपने आपेको, जिसकी चेतनता साक्षात् अपरोक्ष ही है, देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न अखण्ड अद्वय तत्त्व जान लेंगे और यह जान लेंगे कि जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अखण्ड अद्वय चेतन तत्त्व है वह मैं ही हूँ तब आपके अज्ञानके आश्रय और विषयकी एकताके ज्ञानसे अज्ञान मिट जायेगा। तब आप यह जान लेंगे कि अविद्याका आश्रय जीवत्व और अविद्याका विषय ईश्वरत्व, दोनों एक ही अद्वय ब्रह्ममें

अविद्यासे कल्पित हैं और केवल अखण्ड ब्रह्म सत्य है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानपूर्वक अविद्या सान्त अथवा निवर्त्य है।

अविद्या अनादि अनन्त नैसर्गिक है, यह कहनेका अभिप्राय है कि अविद्या कालकी धारामें हमेशासे चल रही है; चलती रहेगी, और यद्यपि यह व्यक्तिगत दोष नहीं है तथापि व्यक्तिके दुःखका मूलहेतु होनेसे इसकी निवृत्ति वाञ्छनीय है और वह ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त हो जाती है।

जिस चीजका ओर-छोर नहीं होता अर्थात् जिसका देश-कालमें आदि-अन्त नहीं होता उसका साक्षात्कार किसी इन्द्रियसे नहीं हो सकता, न अन्तरिन्द्रियसे और न बहिरिन्द्रियसे। उसका केवल काल्पनिक प्रत्यक्ष होता है। ये अनादित्व, अनन्तत्व और अज्ञातत्व भी ऐसे ही हैं। अनादित्व, अनन्तत्व अथवा अन्यरूपसे अद्वितीयत्व, इनमेंसे किसीका यदि प्रत्यक्ष होगा तो केवल मानस-प्रत्यक्ष होगा। और मनको हम लोग (वेदान्ती) प्रमाण नहीं मानते। मनमें झूठ, सच कुछ भी आ सकता है। इसलिए वेदान्तमें मानस-प्रत्यक्षको प्रत्यक्ष नहीं मानते। वह कल्पना है।

भूतके आदि और भविष्यके अन्तका किसीको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। देशके ओर-छोरका किसीको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। सबका अनुभव ऐसा ही है। देश, काल, कारण, माया—और यहाँ तक कि आत्मासे भिन्न ब्रह्म, आत्मासे भिन्न ईश्वर और आत्मासे अलग जानी हुई कार्य-कारणसमष्टि—ये सब कल्पित-रूपसे ही मनमें दृश्य होते हैं; किसी इन्द्रियके द्वारा इनका प्रत्यक्ष नहीं होता।

वेदान्तके 'कल्पना' शब्द पर कभी विचार करना। यह कोई माननेकी बात नहीं है।

कारणमें ईश्वरत्व कल्पित है, यह बात कही गयी। अब

कार्यमें देखो। जो चीज इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है उसको ईश्वर माननेमें जो ईश्वरत्व है वह भी कल्पितरूपसे ही है। अपने परिच्छिन्न-रूपमें, व्यक्तित्वमें, जो ईश्वरत्व है वह भी कल्पितरूपसे ही है। इस प्रकार कारणमें ईश्वरत्व और कार्यरूप परिच्छिन्न अहंमें और इदंमें ईश्वरत्व, कल्पित है। व्यापकमें जो ईश्वरत्व है वह भी कल्पित है। अनादि-अनन्तमें जो ईश्वरत्व हैं वह भी कल्पित हैं। मायाधिपतित्व और आत्मासे भिन्न ब्रह्मत्वमें भी ईश्वरत्व कल्पित है। क्योंकि जो भूमा है, महानतम है उसको देखनेका सामर्थ्य किसी यन्त्र या इन्द्रियमें है नहीं और बिना देखे यदि मन कल्पना करेगा तो कल्पनाका भाव बना रहेगा और कल्पना कटेगी नहीं, इसलिए ईश्वरको ढूँढनेका सच्चा मार्ग यह है कि इन आने जानेवाली कल्पनाओंका जो स्थिर अचल कूटस्थ साक्षी है उसके स्वरूपको समझा जाय। उससे अभिन्न होने पर ही काल अनादि और अनन्त है, देश व्यापक है, द्रव्य सर्वात्मक है और ब्रह्म अनन्त है। अपने प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न हुए बिना दूसरी कोई वस्तु आत्मलाभ नहीं कर सकतीं।

देशकालादयः मायातदधिष्ठानादयः नात्मनो व्यतिरेकेण आत्मानं लभन्ते।

अपनेसे अलग होकर ये आत्मसत्ताका लाभ नहीं कर सकते। जब काल ही अपने बिना सत्ता-लाभ नहीं करता तो अकाल पुरुषमें भूत-भविष्यका परिच्छेद नहीं हो सकता। जब देश ही अपने बिना सत्ता-लाभ नहीं कर सकता तो अदेश पुरुषमें बाहर-भीतर-का भेद नहीं हो सकता। बृहदारण्यककी श्रुतिने ब्रह्मका वर्णन ऐसे ही किया है:

तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः (बृहदा० २.५.१९)

खोज जितनी होती है वह ऐन्द्रियक अनुभूतिके अनुसार होती है। ऐन्द्रियक विषयानुभूति, उसका संस्कार, उसका प्रवाह, उसको ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः करके तब वेदान्तका अनुसंधान होता है। अस्तु।

अब बताते हैं कि अविद्याका रूप क्या है : **मिथ्याप्रत्ययरूपः।**

मिथ्या ये प्रत्ययाः। ये प्रत्ययाः प्रतीतिकाले सत्यवद् भासन्ते तदनन्तरं च बाध्यन्ते ते मिथ्याप्रत्ययाः।

जो प्रत्यय प्रतीतिकालमें सच्चे मालूम पड़ते हैं परन्तु जो बादमें बाधित हो जाते हैं वे मिथ्याप्रत्यय हैं। मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय: **मिथ्याशब्दो अनिर्वचनीयतावचनः।** वेदान्तमें मिथ्या माने नितान्त असत् नहीं होता बल्कि भासते हुए भी जो न होवे वह मिथ्या होता है। जैसे आपने कहा कि 'हमने १०० हाथ लम्बा शेर देखा है' तो यहाँ आपका कथन (शब्द) मिथ्या नहीं है वरन् आपके कथनका अर्थ मिथ्या है, क्योंकि अर्थ जो शेर है वह १०० हाथ लम्बा नहीं हो सकता। इस प्रकार आपका भाषण 'मिथ्या भाषण' है यह लोकमें भी मिथ्याशब्दका व्यवहार प्रचलित है।

स्वप्नमें पदार्थ भासते हैं परन्तु मिथ्या होते हैं। वहाँ वे प्रत्ययरूप होते हैं। मिथ्याप्रत्ययरूप स्वप्नके पदार्थ हैं। स्वप्नके शत्रु, मित्र, क्रोध, प्रेम सब मिथ्याप्रत्ययरूप हैं।

ये जो जाग्रत्में भी जो आपको शत्रु, मित्र, क्रोध, प्रेम आदि दिखायी देते हैं वे सब मिथ्याप्रत्ययरूप ही होते हैं। आपने जीवनमें न जाने कितनी बार अपनेको पापी समझा है और कितनी बार पुण्यात्मा समझा है! हम जब जो समझते हैं तब उसी समझको सच्चा मानने लग जाते हैं।

हमको एक महात्माने बताया था : जब मनुष्यके मनमें काम आता है तब वह अपने 'मैं' को कामसे मिला देता है। मैंका तादात्म्य कामवृत्तिसे हो जाता है अथवा अहं कामाकार हो जाता है। तब वह कामको ही मैं समझता है और समझता है कि यदि इस कामकी पूर्ति नहीं होगी तो मैं मर जाऊँगा। परन्तु कामका आवेश उतरनेपर अपनी गलतीका एहसास करने लगता है। यही बात क्रोध आदि अन्य आवेशोंकी है।

महत्त्व किसी वस्तुका नहीं होता। महत्त्व उस अहंका होता है जो तदाकाराकारित वृत्तिके साथ तादात्म्यको प्राप्त होता है। यह ऐसा 'अहं' है महाराज कि यदि नरकके साथ जुड़ जाय तो नरक भी महत्त्वपूर्ण हो जाय !

एक आदमी नरकमें गया। वहाँ जाकर कीड़ा हो गया। फिर उसे एक कीड़ी मिल गयो। ब्याह हो गया। तदनन्तर बच्चे भी हो गये। भगवान्‌ने कुछ काल पश्चात् तरस खाकर संदेश भेजा उसके पास : वैकुण्ठमें आ जाओ। बोला : बड़ा सुखो हूँ महाराज। पत्नी है, बच्चे हैं, भोजन है, सब आराम है, फिर वैकुण्ठ क्यों जाऊँ ?

मनुष्य जहाँ रहता है इतना रचपच जाता है, उसके मैं का इतना भयंकर तादात्म्य हो जाता है कि वह उस सबसे तटस्थ होकर अपनी परिस्थिति पर विचार ही नहीं करता कि हम किस कुएँमें गिरे हुए हैं! तुम महानतम, चिदाकाशके वासी, कहाँ इस छोटेसे अन्तःकरणके कुएँमें फँसे हुए हो! सोचो! इसीका नाम अध्यास है।

यह जो सपनेमें देखी हुयी चीजके साथ प्रेम है, आसक्ति है, रोना है, भोगकी इच्छा करना है इसीका नाम मिथ्याप्रत्यय

है। स्वप्नके समान जाग्रत्‌में भी ये सब मानस-प्रत्यय हैं और मिथ्याप्रत्यय हैं।

एक विचार! जाग्रत् अवस्थामें स्वप्नकी स्मृति नहीं आती परन्तु स्वप्नमें जाग्रत्‌की स्मृति होती है, यह सबका अनुभव है। इसका कारण यह है कि स्वप्न-अवस्थाका अभिमानी जो 'तैजस' है वह जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी 'विश्व'में अनुगत रहता है, परन्तु विश्व तैजसमें लीन रहता है। इसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्नमें सुषुप्तिकी स्मृति होनेसे तथा सुषुप्तिमें किसीकी स्मृति न होनेसे यह बात निकलती है कि सुषुप्ति-अवस्थाका जो अभिमानी 'प्राज्ञ' है वह तैजस और विश्वमें अनुगत रहता है जबकि विश्व और तैजस प्राज्ञमें लीन रहते हैं। जो लीन हो जाता है उसकी स्मृति नहीं रहती और जो अनुगत रहता है उसकी स्मृति रहती है।

एक मत ऐसा भी है कि जब हम स्वप्नको याद करने लगते हैं तो हम उस समय सपनेमें ही चले जाते हैं। माने भूतकी याद हम भूत होकर ही करते हैं!

तो यह सब क्या है? ये सब मिथ्याप्रत्यय हैं। मिथ्याप्रत्यय-के साथ तादात्म्य होना अध्यास है। यह अध्यासकी बात बताना बहुत जरूरी है, क्योंकि यदि अध्यास ही न हो तो ब्रह्मविचारकी आवश्यकता ही न हो! मनुष्य जब बेवकूफीसे फँसा होता है तभी वह समझदारीसे बाहर निकल सकता है परन्तु यदि सचमुच फँसा हो तो समझदारीसे नहीं छूट सकता। संसारमें कर्मसे, फलसे ध्यानसे, चैतन्यको बन्धन नहीं है। अपने आपको न जाननेसे ही चैतन्यको बन्धन है। इसलिए अपने आपको जानना ही इससे छूटनेके लिए काफी है।

अब भगवान् शङ्कर बताते हैं कि अध्यासका कार्य क्या है?

कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः। अर्थात् अध्यास कर्तापन और भोक्तापनका प्रवर्तक है।

लोग कहते : महाराज! अब तो हमें ज्ञान हो गया, अध्यास निवृत्त हो गया, अब बताइये क्या करें? परन्तु श्रीमान्जी, यह प्रश्न तो कर्ताका ही है न? अध्यास तो अभी छिपा बैठा है!

कुछ कहते हैं : महाराज! अब तो हमें ज्ञान हो गया, अध्यास निवृत्त हो गया, अब हम सगुण-साकारका मन्त्र न जपें न? मैं कहता हूँ : ठीक है, अब अध्यास नहीं रहा, तो पत्नी-पुत्रके साथ भी व्यवहार मत करो! इसपर वे कहते हैं : नहीं महाराज, इसके बिना कैसे चलेगा? तो मैं कहता हूँ : तो फिर तुम्हारा ईश्वर, मन्त्र, गुरुके बिना कैसे चलेगा?

उक्त प्रश्नमें भी अध्यासजन्य कर्तृत्वका बोध छिपा है। जीवनमें जितना भी और जहाँ भी कर्तापन है वह सब अध्याससे संचालित है। यह ज्ञानी अज्ञानी दोनोंको है। जब ज्ञानी व्यक्ति है और व्यवहार करता है तो उसका भी व्यवहार बिना अध्यास कैसे चल सकता है?

एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराज बैठे थे। मैं भी वहीं बैठा था। एक पण्डितजी श्रीमहाराजजीसे बातें कर रहे थे। पण्डितजी कह रहे थे कि ब्रह्मज्ञान तो किसीको हुआ ही नहीं और होता भी नहीं। यही बात बाबा भी कहते थे, परन्तु दूसरे संदर्भमें। मगर यही बात जब उन्होंने कही (और वह कटाक्षरूपमें थी) तो मुझे अच्छी नहीं लगी। मैं भी तब पण्डित ही था, झट बोल उठा :

मैं : पण्डितजी, आपको पूछना क्या है? ब्रह्मज्ञान मुझे हुआ है।

वे : आप बड़े अभिमानी हैं जी !

मैं : बिना अभिमानके तो कोई कार्य ही नहीं होता।

वे : नहीं। देखो ये जो बाबा हैं, बिना अभिमानके कार्य करते हैं।

मैं : यह तो आपकी श्रद्धा है। आपने इनका दिल खोलकर कहाँ देखा है कि इनमें अभिमान है या नहीं।

वे : आप क्या कहना चाहते हैं ? क्या ज्ञानीको भी अभिमान रहता है ?

मैं : जरूर रहता है, जब ज्ञानीका व्यवहार रहता है तो उसमें किंचित् अभिमान भी जरूर रहता है।

वे : अभिमानका क्या लक्षण है ?

मैं : हम यह फूल उठाते हैं हाथसे, नाकमें ले जाकर सूँघते हैं। खानेकी वस्तु होती तो उठाकर मुँहमें डालते। यदि यह अभिमान न होता कि हाथ मेरा, मुँह मेरा, तो हाथसे भोजन उठाकर दूसरेके मुँहमें डाल देते अथवा यदि यह ज्ञान न होता कि खाया मुँहसे ही जाता है तो भोजन अपने कानमें भी डाल सकते थे। तो जो हाथ और मुँहको अपना समझता है और जो इनके भेदको जानता है वही हाथसे उठाकर भोजनको मुँहमें डालता है। यही अभिमानका लक्षण और प्रमाण है।

तात्पर्य यह कि ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंका व्यवहार अध्यास-पूर्वक ही होता है, अध्यासके विना व्यवहार सम्भव नहीं है। परन्तु ज्ञानीके लिए अभिमान बाधित रहता है और अज्ञानीके लिए अभिमान सत्य रहता है। इस भेदको छोड़कर यदि व्यवहार-का अन्तर होगा कि 'यह करोगे तो फँस जाओगे और यह करोगे तो नहीं फँसोगे' तो वह तो व्यवहारमें सत्यत्व बुद्धिकी ही स्थापना हुयी, इसमें परमार्थ नहीं है।

श्रीरमण महर्षि कहते थे कि व्यवहारमें ज्ञानी-अज्ञानी दोनों समान हैं और परमार्थमें ज्ञानीका अभिमान बाधित रहता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे कि यदि देहाभिमान बिलकुल होगा ही नहीं तो अठारह दिनसे अधिक शरीर नहीं टिकता। परन्तु यदि बाधित देहाभिमान हो तो शरीर ४-६ जन्म भी टिका रहे तो आत्माकी कोई हानि नहीं है—यह वेदान्तका सिद्धान्त है। उदाहरणार्थं वशिष्ठ तत्त्वज्ञ थे परन्तु केवल दो जन्म तक। जो कारक पुरुष होते हैं उनके कई जन्मोंका प्रारब्ध एकमें होता है।

यह जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी प्रतीति हो रही है, अर्थात् 'मैं कर्ता, मैं भोक्ता' यह जो अभिमान प्रतीत हो रहा है और अपनेको ब्रह्म न जाननेके कारण उस अभिमानमें जो सत्यत्व प्रतीत हो रहा है वह सब अध्यासके कारण है। ज्ञानीके लिए ये सब सिनेमाकी तस्वीरके मानिन्द है और अज्ञानियोंके लिये यह सब सत्य लगता है।

ऐसा यह अध्यास **सर्वलोकप्रत्यक्ष** है। माने तुम्हीं अपनी छातीपर हाथ रखकर कह दो न कि अध्यास तो है! हमसे क्या पूछते हो?

अध्यासको प्रमाणित करनेकी क्या आवश्यकता है? यदि मूर्ख अपनी मूर्खताको प्रमाणित कर दे तो वह मूर्खता ही क्या नहीं हुई? असलमें अध्यास तो सबके पीछे ही पड़ा है। पितापना भी अध्यास है और पुत्रपना भी। पिता पिता है और पुत्र पुत्र है। हम पूछते हैं: 'आप किसी पुत्रके पिता हैं तो पिता किसके हैं?—पुत्रके जीवके या शरीरके, उसके अन्तःकरणके या संस्कारोंके, उसके शरीरकी धातुके या उसके काले-गोरे रंगके? यह पितृत्व और पुत्रत्व आध्यसिक है अर्थात् माना हुआ है, झूठा है!

सम्बन्ध सब झूठे, माने हुए हैं। जैसे हम दस अंगूरोंको फैला दें और उनमें कहें कि अमुक अमुकका चाचा, मामा, ताऊ, बाप, बेटा है तो क्या कुछ होता है? संसारमें जितने पिता-पुत्रादि सम्बन्ध हैं, ब्राह्मणत्वादि वर्ण हैं, ब्रह्मचर्यादि आश्रम हैं, मनुष्यत्वादि जातियाँ हैं, प्राणित्व, जीवत्व, ये सभी अध्याससे ही सिद्ध हैं। धार्मिक द्वेष, पन्थ-पन्थाई—सब अहंताममता मूलक अध्यासके ही कारण है।

जब आप विशुद्ध मुक्त चिन्मात्र-सन्मात्र आनन्दमात्र परम तत्त्वके रूपमें अपने आपको जानोगे तो पता चलेगा कि इस स्वरूपको न जाननेके कारण ही हम कोई ग्रन्थि बनाकर बैठ गये थे!

सृष्टिके बारेमें केवल एक बात कही जा सकती है कि ऐसा मालूम पड़ता है। सभी अन्योंके बारेमें भी यही है। 'है' नहीं है, विद्यमान है, अविद्यमान है,' इसमें सबमें 'मुझे ऐसा मालूम पड़ता है' इस प्रतीतिका अनुवाद है। ईश्वरके बारेमें भी ये सब विकल्प अपनी ही प्रतीतिके अनुवादमात्र होते हैं। और अपनी व्यक्तिगत प्रतीतिमें इतना आग्रह कि यही परमसत्य है?

ठीक है आपको ऐसा मालूम पड़ता है। परन्तु इस प्रतीतिकी सत्ता कौन सी है? क्या आपको स्वप्न प्रतीत नहीं होता, सुषुप्ति प्रतीत नहीं होती, स्मृति प्रतीत नहीं होती? आपने सपना देखा और पदार्थ मालूम पड़े, यह सच है। परन्तु स्वप्नके पदार्थ झूठे हैं, यह भी सच है। देखना यह है कि प्रतीतिका ज्ञान तो सच है परन्तु प्रतीतिका विषय मिथ्या है।

जाग्रत्‌में भी ठीक ऐसा ही है। ज्ञानमात्र ही सच्चा है, दीखना सच्चा है, परन्तु ज्ञेय, दृश्य विषय सच्चे नहीं हैं। लड़ाई, झगड़ा, प्रेम, उत्पत्ति, विनाश सब दीख रहे हैं; दीखनेपर कोई आक्षेप

नहीं है। परन्तु जो दीख रहा है वह शरीर अन्तःकरणसे नहीं दीख रहा है, वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म चैतन्य ही चिद्धातुसे दीख रहा है।

अपने बारे 'मैं नहीं हूँ'—यह नहीं कह सकते, और दुनियाके बारेमें यह मालूम पड़ता है,' बस इतना ही कहा जा सकता है। केवल मालूम पड़नेवाली बातके लिये, केवल मालूम पड़नेवाली चीजके लिये दुःखमें पड़ना! असलमें दुःख भी होता नहीं है, मालूम ही पड़ता है। दुःख आता है, जाता है, सपनेकी तरह। जो दुःख बीत गया, जरा उसको बुला तो लाओ! आप घटना, दृश्यको पुनः भले ही बना लो, परन्तु उस घटनाके साथ जो कर्ता-पन, भोक्तापन, सुख अथवा दुःख भूतमें था उसे पुनः वापस नहीं बुला सकते।

यह बात केवल शास्त्रगम्य नहीं है, सब लोगोंके लिये प्रत्यक्ष है। हम किसी कर्मका विधि-निषेध नहीं कर रहे हैं कि इसको करो या मत करो। जो जीवनमें है, हो रहा है, उसे वैसा तुमको बता रहे हैं। हम वस्तुका ज्ञान करा रहे हैं। यह ब्रह्म-विद्या है।

एक देशमें युद्ध हुआ। नेताओंने कहा: 'स्कूल कालिज बन्द करो। सब युवकोंको युद्धमें भेजो।' सब प्रोफेसर विद्वान्, कवि भूखों मरने लगे। उनसे भी नेता लोग बोले: 'तुम भी सब छोड़ो और उठाओ बन्दूक!' उस देशमें एक महात्मा भी थे। उन्होंने नेताओंसे पूछा: 'तुम लोग लड़ किसके लिये रहे हो?' वे बोले: 'धरतीके लिये।' महात्माने कहा: 'तुम बच्चोंकी रक्षाके लिये, विद्याकी रक्षाके लिये, विद्वानोंको रक्षाके लिए लड़ना चाहते हो या नहीं? जब ये ही सब नहीं रहेंगे तो धरतीका राज्य किसके लिये करोगे?'

इसलिये भाई मेरे ! सब लोग कर्ममें ही लग जायँ यह दृष्टि-कोण ठीक नहीं। ये जो विद्याके दुश्मन होते हैं उन्हें विद्या पसन्द नहीं होती। इसलिये वे कहते हैं कि 'चलो सब लड़ाईमें। वेदान्त विचार करनेवालो ! तुम्हारी जो यह पलटनकी पलटन है, सबको (कर्मके) मोर्चेपर भेजो !'

सिरपर बेवकूफी सवार है और कहीं न कहीं आग्रह सबके मनमें दिखाई पड़ता है। बुद्धिमानीका फल तो यह है कि आग्रह न रहे : **बुद्धेः फलमनाग्रहः।** आग्रहसे राग-द्वेष होते हैं। यह दुराग्रह भी अध्यासका घनीभाव है।

वृन्दावनमें हमारे आश्रममें ही एक आदमीने चोरीकी। चोरी पकड़ी गयी। वस्तु भी मिल गयी। हमारी इच्छा थी लोगोंको मालूम न पड़े। अतः हमने उस व्यक्तिसे कहा जिसने चोरीकी थी कि तुम चुपकेसे हरिद्वार चले जाओ। अब उसने तो महाराज अनशन कर दिया कि 'हमको वृन्दावन छोड़कर हरिद्वार जानेको क्यों कहते हैं ?' लोगोंको मालूम पड़ा। पूछा : क्यों तुमको हरिद्वार भेजते हैं ? तब खुद ही उसने बताया कि 'हमने चोरीकी थी।' अब देखो, आश्रमवालोंको घरवालोंको और ग्रामवालोंको सबको ही पता लग गया कि वह चोर है। सब लोग कहने लगे : इसको हरिद्वार जाना ही चाहिये। माने अनशनका उल्टा परिणाम हुआ। फिर हमने कहा : 'जाने दो, इसे वृन्दावन ही रहने दो, कोई चोर-चोर नहीं है।

तो मनुष्य जो चाहता है उस अपने लक्ष्यके विपरीत व्यवहार-में आचरण करता है। क्यों ? क्योंकि उसके मनमें एक आग्रह बन जाता है कि यह तो ऐसे ही होना चाहिये। देखो भाई ! व्यवहार कुछ नहीं मिटना चाहिये। ब्राह्मण ब्राह्मण रहे, क्षत्रिय क्षत्रिय रहे। हिन्दू हिन्दू रहे, मुसलमान मुसलमान रहे। न कोई

म्लेच्छ है न काफिर, दोनों मनुष्य हैं और दोनोंकी आत्मा बिल्कुल एक है। बिना धर्म परिवर्तनके, बिना वर्ण या आश्रम परिवर्तनके, सबका कल्याण हो सकता है। बस यह जो सर्व अनर्थोंका मूल हेतु अध्यास है वह निवृत्त होना चाहिये। वेदान्त (उपनिषद्-विद्या) इसीलिए आरम्भ होता है :

अस्यानर्थहेतोः प्रहणाय...... सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।

अनर्थका हेतु क्या? अध्यास। अर्थात् अपने 'मैं'को किसी भी परिच्छिन्नके साथ जोड़ देना। जो दृश्य है उसमें चेतनको, जो चेतन है उसमें दृश्यको जोड़ देना अध्यास है। यह बात अन्तः-करण पर लागू है। दुनियामें लोग क्यों दुःखी हैं?

राजा दुःखी परजा दुःखी साधुनको दुःख दूना।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, एकहु घर नहिं सूना॥

कुछ धनके लिए दुःखी हैं तो कुछ इज्जतके किए, कुछ व्याहके लिए तो कुछ दीर्घायुके लिए। लोग खाते जाते हैं और रोते भी जाते हैं कि हाय! दस बरस बाद क्या खायेंगे? हमारे बेटे क्या खायेंगे? दस बरस बाद तुम या तुम्हारे बेटे जिन्दा भी रहेंगे, इसीका क्या ठिकाना? और यदि जिन्दा रहेंगे तो अपनी अक्कल खायेंगे। फिक्कर क्या करते हो?

सारा दुःख अध्यास देता है। जो किया सो सपना था। जो होगा सो सपना होगा। परन्तु यह विचार तत्त्वज्ञानपूर्वक होना चाहिये। कोई चीज हो तो रस्सी और आप माला लेकर बैठ जायें और हजार बार करोड़ बार जप करें कि 'यह सर्प है, यह सर्प है, यह सर्प है, तो क्या वह चीज सर्प हो जायेगी? नहीं हो सकती, क्योंकि रस्सी प्रमाणसिद्ध वस्तु है। प्रमाणसिद्ध रस्सी जपसे सर्प

नहीं हो सकती, अपनेको तो परिश्रम ही हाथ लगेगा। इसी प्रकार हजार-हजार प्रत्यय भी आत्माके स्वरूपको बदलनेमें शक्य नहीं हैं। असलमें आत्माकी पहिचान न होना ही सर्वदुःखोंका हेतु है।

विलायतमें एक बहुत बड़े विद्वान् थे। शास्त्रार्थमें उनको कोई पराजित नहीं कर सकता था। एक दिन स्वप्नमें उन्होंने देखा कि विदेशसे कोई विद्वान् आया है और शास्त्रार्थमें उससे वह हार गया है। बड़ा दुःख हुआ। जाग गया। सोचा अब लोगोंको क्या मुँह दिखाऊँगा? मर जाना ही बेहतर है। उठा, स्नानादिसे निवृत्त हुआ। कुछ स्वस्थ हुआ तो सोचने लगा कि वह विजेता विद्वान् कौन था? ख्याल आया कि सपनेमें तो मेरे सिवाय कोई दूसरा था नहीं। मैं ही दो शरीर बना था: एक वह और एक मैं। हमारी बुद्धि ही दो हिस्सोंमें बँट गयी थी। हमारी आत्मा ही दो आत्माओंके रूपमें भासती थी! फिर निर्णय क्या हुआ? 'अरे, तब तो मैं अपनी बुद्धिसे ही हारा, किसी दूसरेकी बुद्धिसे मैं पराजित नहीं हुआ'—यह ख्याल आते ही उस विद्वान्‌का सारा दुःख जाता रहा।

आप देखो सृष्टिमें जो 'यह, मैं, तुम, वह' मालूम पड़ता है वह सब भी स्वप्न सृष्टिकी भाँति एक द्रष्टा चेतन ही है। भूतकी कल्पना मत करो कि यह सृष्टि कैसे हुयी? यह झूठी कल्पना है। किसीने भी सृष्टि बनायी हो और कोई बताये, यह सब झूठी कल्पना है। किसीने भी सृष्टि बनायी हो और कोई बताये, यह सब झूठी कल्पना है। क्योंकि सृष्टिके आदिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसमें किसी आचार्यके नाम लेनेकी भी कोई जरूरत नहीं है कि सृष्टि गणेशसे हुयी, कि देवीसे हुयी, कि बैलसे हुयी या साँपसे हुयी, कि आवाजसे हुयी या रोशनीसे हुयी। क्योंकि ये देखे नहीं जा सकते। अगर देखनेवाला कोई (आचार्य) था

तो उसकी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण सब थे ही। माने सृष्टि तो पहिलेसे थी ही फिर उसका अनादित्व क्या देखा। और यदि देखनेके करण नहीं थे तो निःशेषको देखनेवाला कोई नहीं था। सृष्टिके अन्तमें क्या रहेगा—इसकी भी ऐसी ही बात है। यह सब कल्पना है। जब बुद्धि नहीं थी या नहीं रहेगी तब क्या रहा, इसको देखेगा कौन? सृष्टिका आदि, अन्त देखकर तत्त्व नहीं समझा जाता। सृष्टि इस समय कैसे भास रही है, यह जो भासमान तत्त्व है यही सृष्टिका मूल है। भासमानता ही सृष्टिका मूल है—इदंके रूपमें भासमानता, अहंके रूपमें भासमानता। यह भासमानता (मालूम पड़ना) ही सृष्टि है। आदि, अनादि, सान्त, अनन्त, पापी पुण्यात्मा, कर्ता भोक्ता, सुखी दुःखी, स्वर्ग नरक इत्यादि—यह सब मालूम ही तो पड़ता है। यही भासमानता सृष्टि है।

भासमानता दो प्रकारकी मालूम पड़ती है: (१) बाधित भासमानता, जो बदलती जाती है और (२) अबाधित भास-मानता, जो बदलती नहीं। अबाधित भासमानता सत्य है और बाधित भासमानता मिथ्या है। तत्त्वतः सत्य और मिथ्या दो नहीं होते, क्योंकि मिथ्या सत्यके आश्रित रहता है। इसलिए सत्य अद्वितीय होता है।

अब अपना आत्मा जो है वह अबाधित भासमान है और अपने से जो अन्य है वह बाधित भासमान है। नरक, स्वर्ग, ईश्वर, अनीश्वर, वेद, धर्म, सम्प्रदाय, पंथ, आचार्य—ये सब मिथ्या हैं। बात दो टूक है और एक मिनटमें कहने की है।

मालूम पड़नेके अतिरिक्त न यह है, न मैं हूँ, न तू है, न वह है। न दाहिने, न बाँये, न आगे, न पीछे, न ऊपर, न नीचे। मालूम पड़नेमें अपनपना अबाधित भासमान है और अन्यपना बाधित भासमान है। बाधित माने मिथ्यात्वेन निश्चित। देशकी धारामें

देशके साथ, कालकी धारामें कालके साथ और वस्तुकी धारामें वस्तुके साथ एक बहता हुआ मालूम पड़ रहा है और एक अचल मालूम पड़ रहा है। जो अचल मालूम पड़ रहा है वह आत्मसत्य है और जो चल मालूम पड़ रहा है वह अनात्मसत्य है। पापी-पना, पुण्यात्मापना, सुखीपना, दुखीपना, यह सब बहता हुआ सत्य है—बाधित भासमान, बदलता हुआ। कहीं तुम अभि-मान करके बैठ जाओगे कि 'मैं ऐसा ही, यह ऐसा ही, तो लो, अब उसका दुःख भोगो !

इस प्रकार समस्त अनर्थोंका हेतु यह अध्यास है। सारे वेदान्त अर्थात् उपनिषद् इसी अध्यासका समूल नाश करनेके लिए आरम्भ होते हैं। सो किस प्रकार? **आत्मैकत्वप्रतिपत्ति** के द्वारा। अर्थात् इस बोधोत्पत्तिके द्वारा कि 'सब एक अखण्ड आत्मा ही है और उसी एक अबाधित आत्मसत्यके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।' अतः वेदान्तके आरम्भके दो उद्देश्य हैं—१. अध्यासकी निवृत्तिके लिए : **अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय** तथा २. आत्मैकत्व-विद्याकी प्रतिपत्तिके लिए : **आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये**।

वेदान्तके साथ **सर्व** पद देकर आचार्यने समस्त वेदान्त वाक्योंकी एकवाक्यार्थता प्रगट की है। माने सारी उपनिषदें एक ही लक्ष्यको वेध करती हैं—'अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्व-विद्याप्रतिपत्तये।

वेद दो प्रकारका होता है : १. ज्ञानात्मक वेद जिसका स्वरूप है वृत्तिज्ञान—घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान, ऐन्द्रियक ज्ञान; यह केवल वेद है, वेदन द्वारा वेद्य। २. वेदान्त जिसका स्वरूप है ज्ञप्तिमात्र—ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयकी त्रिपुटीसे रहित, ज्ञानस्वरूप, वेदज्ञानकी निषेधावधि। इन्हींके अनुसार वेद जो शब्दराशि है उसका विभाजन किया गया है। वेदका वह भाग जिसका सम्बन्ध

विश्वसृष्टि, जीव, ईश्वर, स्वर्ग, नरक, भूत, भविष्य, उत्पत्ति, प्रलय से है; वह वेद है और वह भाग जिसका सम्बन्ध सच्चिदानन्द अद्वय आत्मासे है; वह है वेदान्त।

यहाँ वेदान्तका प्रयोजन अध्यास-निवृत्ति तथा आत्मैकत्व-विद्याकी प्रतिपत्ति बताया है। वेदका प्रयोजन मनुष्यके जीवनमें धर्म और उपासना द्वारा उसका ऐहलौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष तथा वेदान्तविद्याके अधिकार सम्पादनमें है।

सब वेदान्तोंका यही उक्त प्रयोजन है यह भगवान् श्री शंकरकी प्रतिज्ञा है। इस प्रतिज्ञाकी पूर्ति कैसे होगी वही वे अपने इस ब्रह्मसूत्रके शारीरक भाष्यमें दिखलायेंगे :

यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

इस भाष्यको शारीरकमीमांसा क्यों कहते हैं? शरीरकका अर्थ है देह और शरीरमें जो रहता है उस जीवात्माका नाम शारीरक है। जीवका ब्रह्मरूपसे जो विचार है वह शारीरकमीमांसा है। ब्रह्मात्मैक्यविचारसे ही अविद्याका नाश, अध्यासकी निवृत्ति एवं समस्त अनर्थोंका समूल नाश सम्भव है। अतः यह विचार प्रशंसनीय एवं पूजित है। विचारको ही मीमांसा बोलते हैं। भगवान् शङ्करने अपने इस सूत्रभाष्यमें यही मीमांसा प्रस्तुत की है। इसलिए इस सूत्रभाष्यको शारीरकभाष्य या शारीरकमीमांसा कहते हैं। इसी बातको संक्षेपमें भामतीकार यों कहते हैं :

शरीरमेव शरीरकं तत्र निवासी शारीरको जीवात्मा, तस्य त्वंपदाभिधेयस्य तत्पदाभिधेयपरमात्मरूपतामीमांसा या सा तथोक्ता। (भामती)

शीर्यत इति शरीरम्—जो सड़ जाय, नष्ट हो जाय सो शरीर। न्याय-निर्णयकारने कहा कि एक तरहसे देखो तो इस शरीरमें

गन्दी-गन्दी चीजें भरी हुयी हैं। हर समय यह फूटता ही रहता है। इसमेंसे गन्ध भी निकलती है तो दुर्गंध ही। एक सज्जनका दावा था कि उनका शरीर दिव्य हो चुका है, इसलिए मरने पर उसमेंसे सुगन्ध निकलेगी। मगर जब मरे तो ५।६ घंटे वाद ही वह दुर्गन्ध फैली कि पूछो मत। तो इसका नाम शरीर है। इससे पानी निकले तो दुर्गन्धयुक्त, वायु निकले तो दुर्गन्धयुक्त। परन्तु आश्चर्य यह है कि इस शरीरमें जो रहनेवाला जीवात्मा है, त्वंपदाभिधेय, वह तत्पदार्थसे बिलकुल एक है।

ब्रह्मविचार शरीर-विचारसे ही प्रारम्भ होता है, क्योंकि तुम शरीरमें ही तो बैठे हो। वेदान्त वहाँसे प्रारम्भ होता है जहाँ तुम हो, वहाँसे नहीं जहाँ तुम्हें पहुँचना है। 'मैं शरीर हूँ' यह अज्ञानमयी वृत्ति प्रारम्भ है और 'मैं ब्रह्म हूँ' यहाँ उसका अन्त है। जीवनमें भी यात्राका यही क्रम स्वीकार्य होता है। मंजिलसे विचार करके क्या हाथ लगेगा? कोरी कल्पना, क्योंकि तुम वहाँसे देख रहो जहाँ तुम नहीं हो।

पहले अपने मैं को वहाँसे निकालो जहाँ यह गिरा हुआ है— शरीरमें, प्राणमें, मनमें, विज्ञानमें, सुखमें और फिर उस मैंकी ब्रह्मरूपताका विचार करो। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' में यही संकेत है अर्थात् 'अनात्मा ना द्रष्टव्यः आत्मा वा द्रष्टव्यः।' पहले जो तुम नहीं हो (अपने विचारसे) उसको देखना वन्द करो। कैसे वन्द करें? जितनी तुम्हारी अक्ल है उतना और वैसे ही।

जो लोग कहते हैं कि हमको तो आखिरी वात सुनाओ, पहली या वीचकी नहीं, वे लक्ष्य पर कैसे पहुँचेंगे?

तो इस शरीरमें जो जीवात्मा वैठा हुआ है, त्वंपदवाच्यार्थ, उसका तत्पदार्थसे ऐक्य बोधन करनेके लिए यह शारीरक-मीमांसा है।

इस बातको याद कर लो कि यह जो तुम्हारा जीवात्मा है वह आनन्दघन है। दुःख तुम दूसरेसे उधार लेते हो। यदि आपका दूसरेके साथ सम्बन्ध न जुड़े—देहसे, मनसे, धनसे, स्त्रीसे, पुत्रसे, मकानसे—तो आपके जीवनमें दुःख न आये। यह दुःख अपना नहीं है, दूसरेसे लिया गया है।

वेदान्त कहता है तुम आनन्दघन हो, किसी वस्तुसे तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है। जो कर्म तुम करते हो, जो भोग तुम भोगते हो, वह स्थान जहाँ तुम आते जाते हो, वह काल जो बहता चला जा रहा है—किसीका सम्बन्ध तुम्हारे साथ नहीं है। भूत यदि तुम्हारा होता तो छूटता? जैसे भूत छूट गया वैसे ही वर्तमान भी छूट रहा है। जब चलते हो तो स्थान छोड़ते चलते हो; कोई स्थान तुम्हें नहीं बाँध पाता। यदि कहो : सड़क छोड़ सकते हैं परन्तु मकान नहीं; तो हम कहते हैं, मकान भी तुम उसी तरह छोड़ सकते हो। कौन-सी ऐसी देश, काल और वस्तु है जो छूट न रही हो अथवा जिसे तुम न छोड़ सकते हो। वेदान्त कहता है 'तुममें कोई प्रपंच नहीं है और न किसी प्रतीयमान प्रपंचसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध है!

निष्प्रपञ्च एकः प्रत्यगात्माऽवगम्यते। (भामती)

यह प्रपंच तो देह-मन-इन्द्रियोंका विस्तार है, अनात्म-विलास है, आत्मा एकदम निष्प्रपंच, सर्वथा अकेला है।

एक महात्मा थे जनकपुरके, महात्मा प्रागदास। उनका श्रीराम-सीताके प्रति बहिनोई-बहिनका भाव था। जब उन्होंने सुना कि सीतारामको बनवास हो गया तो प्रागदासजीको बहुत दुःख हुआ। वे सिर पर पलंग-बिस्तर, तोषक-तकिया लिए वनकी ओर चल पड़े, इस आशामें कि कहीं तो वे अपने प्रभुको पायेंगे। वहीं उन्हें विश्रामके लिये वे पलंगादि अर्पित कर देंगे। भ्रमण

करते-करते वे हरिद्वार कुम्भमें आये। अब जहाँ वे जायें वहीं सब लोग टोकें। उनके भावभक्तिको न जानकर उनको दुत्कार दें। तो प्रागदासजीने कहा, यह सब मेला बेकार है, जहाँ रघुनाथ जीका कोई आदर नहीं है :

मुड़ियोंने परपंच रचाया क्या रखा है मेले में।
प्रागदास राघवको लेके पड़े रहेंगे ढेले में॥

यह प्रपंच जीवरचित है। आत्मा निष्प्रपंच है।

प्रश्न—यदि आत्मा निष्प्रपंच है और उपनिषद्का लक्ष्य आत्मबोध है तो सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका वर्णन वेदान्त शास्त्रमें नहीं होना चाहिये। परन्तु वह तो बहुत विस्तारसे है।

उत्तर—ठीक है, सिद्धान्ततः नहीं होना चाहिये, परन्तु आत्माके अद्वितीयत्व-बोधके लिए यह वर्णन भी आवश्यक है। निष्प्रपंच ब्रह्ममें पहिले प्रपंचकी कारणताका अध्यारोप किया जाता है। इसका फल होता है कार्यमें कारणकी अनुवृत्ति (व्यापकत्व)का ज्ञान। इस ज्ञानका फल है कार्यकी कारणसे अभिन्नता। जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा। चेतन ब्रह्मसे उत्पन्न सृष्टि जड़ कैसे हो सकती है ? वह तो चेतन ही होगी। इस अध्यारोपमें उपनिषद्की विशेषता यह है कि वह ब्रह्मको उत्पत्ति-स्थान, स्थिति-स्थान और प्रलय-स्थान सभी कुछ मानता है। इसका अर्थ है कि प्रपंच अपने कारण चेतन ब्रह्मसे जुदा नहीं है। और इसलिए चेतन ब्रह्ममें यह प्रपञ्च स्वप्नवत् प्रतीत होता है, यह सिद्ध होता है। माने सृष्टि प्रत्ययमात्र है और चेतन ब्रह्म अद्वितीय है।

चेतनमें सृष्टिकी उपमा क्या है ? जैसे स्वप्नद्रष्टामें स्वप्न, सूर्यमें इन्द्रधनुष, आकाशमें नीलिमा। यह चैतन्यकी अन्यथा

प्रतीतिमात्र है, विवर्त हैं। चैतन्यमें परिणाम नहीं होता। परिणामका साक्षी चैतन्य होता है।

ये स्वप्नादिके दृष्टान्त भी झूठे ही हैं, केवल समझानेके लिये हैं। उपनिषद्में कई दृष्टान्त दिये हैं: मिट्टीसे घड़ा, यह पृथ्वीका दृष्टान्त है; जलमें तरंग, यह जलका दृष्टान्त है; अग्निसे चिंगारी, यह अग्निका दृष्टान्त है; व्यापक प्राणसे प्राण वायु, यह वायुका दृष्टान्त है; महाकाशसे घटाकाश, यह आकाशका दृष्टान्त है; स्वप्न द्रष्टासे स्वप्न, यह मनका दृष्टान्त है; रज्जुसे सर्प, शुक्तिसे रजत, ये बुद्धिस्थ भ्रमके दृष्टान्त हैं। सबका तात्पर्य है कि आत्मामें सृष्टि प्रतीयमान होते हुये भी आत्मा अद्वितीय है।

योगी आत्माको केवल समाधिमें अद्वितीय मानते हैं, व्यवहारमें नहीं। भक्त लोग वैकुण्ठादि लोकोंमें आत्माका अद्वितीयत्व मानते हैं, इस लोकमें नहीं। भौतिकवादी वस्तुके प्रागभाव प्रध्वंसाभावमें ही अद्वितीयत्व मानते हैं वस्तुकालमें नहीं। परन्तु वेदान्तका सिद्धान्त यह है कि व्यवहारकालमें ही, समाधि या लोकान्तर या द्रव्यान्तरमात्रमें ही नहीं, आत्मा अद्वितीय है।

प्रश्न०—उपनिषदोंमें तो सगुण परमेश्वरका बहुत वर्णन है तथा उनकी अनेकानेक उपासनाओंका वर्णन है, उसकी क्या संगति है?

उत्तर०—ठीक है। जहाँ उपनिषदोंमें बहुत-सी उपासनाओंका उल्लेख है वहाँ उनके तात्कालिक फलोंका भी उल्लेख है। जैसे 'अन्नं ब्रह्म' (अन्न ब्रह्म है, इस भावसे उपासना करे) की उपासना का फल बताया गया है कि 'उपासकको चाहे वह कहीं भी रहे कभी अन्नकी कमी नहीं रहेगी।' इसी प्रकार 'नामेति ब्रह्म' (नाम ब्रह्म है), 'मन ब्रह्म है', 'विज्ञान ब्रह्म है', 'आनन्द ब्रह्म है', 'ॐ यह अक्षर ब्रह्म है' इत्यादि उपासनाओंका वर्णन

है। उनका तात्कालिक फल भी वहाँ बताया गया है। उन-उन उपासनाओंका वह-वह फल अवश्य होता है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु उनके फलोंमें न्यूनाधिक्यका तारतम्य यह प्रगट करता है कि अन्ततः वे फल नष्ट होनेवाले हैं और व्यक्तित्वके पोषक हैं, जीवत्वकी पुष्टिमें ही सहायक हैं।

वहाँ जिज्ञासुके लिये विवेकका स्थल श्रुति प्रस्तुत करती है। विवेक यह है कि सभी उपासनाओंमें—

(१) उपास्य परोक्ष रहता है और प्रत्यक्षके सहारे परोक्षको हृदयमें लाते हैं। अर्थात् उपास्यकी प्रतीकोपासना आवश्यक है।

(२) उपासनामें वर्तमानमें श्रद्धाका होना आवश्यक है। अश्रद्धासे उपासना नहीं होती।

(३) उपासनामें दोहराना (अथवा अभ्यास) आवश्यक है।

(४) दोहरानेकी क्रियाका कर्ता उपासकका अहं होता है।

(५) वृत्तिकी तदाकार अवस्थामें फलका साक्षात् होगा।

(६) अभ्यास छूटनेपर न तदाकारवृत्ति होगी न फल मिलेगा।

(७) तदाकार वृत्ति पहिले नहीं थी, बादमें भी नहीं रहेगी। वर्तमानमें भी करनेसे होती है और इसलिए जन्यफल (उत्पाद्य-फल)को देनेवाली है।

अतएव उपासना ज्ञान नहीं होती।

हेतुविरोधात् फलविरोधात् स्वरूपविरोधाच्च उपासना ज्ञानं न भवति।

उपनिषदोंमें प्राणोपासना, उद्गीथ-उपासना, दहर-उपासना, शाण्डिल्य विद्या इत्यादि अनेक उपासनाएँ हैं। ठीक है, परन्तु इन सब उपासनाओंका अन्तिम तात्पर्य किस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य-

बोधमें है यह बात भगवान् श्रीशङ्कराचार्य अपनी इस शारीरक मीमांसा*में दिखलायेंगे।

इस प्रकार यहाँ अध्यास-भाष्यकी व्याख्या समाप्त होती है।

यह ब्रह्मविचार माला लेकर जपनेकी चीज नहीं है। यह तुमको मरनेके बाद भी सुखी करनेकी विद्या नहीं है। यह तो तुम्हारे जीवनमें अपने स्वरूपको न जाननेके कारण और अनात्माको आत्मा और आत्माको अनात्मा जाननेके कारण अर्थात् अध्यासके कारण जो दुःखकी सृष्टि हो गयी है और भूत, भविष्य, वर्तमानके दुःखों और सुखोंकी भयावनी सृष्टि हो गयी है उसका समूल नाश करनेके लिए अब वेदान्तविचारका प्रारम्भ करते हैं। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

---

* वेदमें भी मीमांसा शब्दका प्रयोग हुआ है।

तत्र एषा आनन्दस्य मीमांसा भवति।

तत्र ब्राह्मणाः मीमांसन्ते। (ऋग्वेद)

मीमांसा = वस्तुनिष्ठ विचार, पूजित विचार, निर्मल विचार, बेलाग-लपटका विचार। जहाँ वक्ताकी प्रधानता नहीं, अपितु तत्त्वकी प्रधानता है।

सत्साहित्य प्रकाशन (पब्लिकेशन) ट्रस्ट

संस्थापक

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

उद्देश्य :—भौतिक सुख-समृद्धिके साथ ही आध्यात्मिक और आधिदैविक उन्नतिकी दिशामें मानवजाति अग्रसर हो, जिससे राग और विरागका, भोग और योगका, विज्ञान और ज्ञानका सन्तुलन बना रहे। बहिर्मुखतामें भी अन्तर्मुखता न छूटे। अपने ऐश्वर्यमें भी ईश्वरका ऐश्वर्य न भूले। मानवजातिकी चारित्रिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक उन्नति हो इसी उद्देश्यसे परमपूज्य **अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज**की प्रेरणा एवं उनके आशीर्वादसे इस संस्थाकी स्थापना सन् १९६१ में हुई।

योजना :—परमपूज्य स्वामीजी एक उच्चकोटिके सन्त, तत्त्ववेत्ता, मनीषी एवं स्वतन्त्र विचारक हैं। आपकी भगवद्भक्ति एवं ब्रह्मानुभूतिका प्रसाद जनता-जनार्दनतक पहुँचाने हेतु ट्रस्ट प्रधानतः तीन रूपोंमें कार्य करता है—

(१) भिन्न-भिन्न स्थलों एवं अवसरोंपर कथा और सत्सङ्गके आयोजन।

(२) परमपूज्य स्वामीजीके धार्मिक व आध्यात्मिक प्रवचनों और ग्रन्थोंका प्रकाशन ।

(३) दर्शन, भक्ति, धर्म, संस्कृति, सदाचार, कला, चरित्र-विषयक भारतके सभी प्रान्तोंके मूर्धन्य विद्वानों व महात्माओंके लेख, दृष्टान्तादिसे पूर्ण, जीवनके लिए सर्वाङ्गीण परमोपयोगी पाथेयको 'सत्यं शिवं-सुन्दरम्'के रूपमें प्रस्तुत करनेवाली त्रैमासिक पत्रिका **'चिन्तामणि'**का नियमित प्रकाशन ।

साधन :—योजनाको उत्कृष्ट रूपमें साकार, कार्यक्षम एवं चिरंजीवी बनानेके लिए सदस्यता-श्रेणियाँ बनायी गयी हैं—

	सदस्यता-श्रेणी	सदस्यता-शुल्क	सदस्योंको-उपलब्धि
(क)	(१) संरक्षक (विशेष)	७०१ रु०	संस्थाके आज तकके प्रत्येक उपलब्ध प्रकाशन भेंट-स्वरूप ।
	(२) संरक्षक	५०१ रु०	प्रत्येक आगामी प्रकाशन भेंट-स्वरूप ।
	(३) आजीवन	२५१.०० रु०	५०% प्रतिशत छूट
	(४) मानद	१०१.०० रु०	३०% प्रतिशत छूट

संस्थाकी ओरसे सदस्योंको सदस्यता ग्रहण करनेकी तिथिसे ट्रस्टके आगामी प्रकाशनोंकी केवल एक-एक प्रति केवल एक बार उपरोक्त प्रकारसे आजीवन दी जायेंगी ।

(ख)	(१) साधारण सदस्य (प्रकाशन विभाग-बम्बई) (वर्षावधि १ जुलाईसे ३० जून)	५ रु० (वार्षिक)	२५% छूट (वर्षावधिमें प्रकाशित पुस्तकोंपर)
	(२) **चिन्तामणि** (त्रैमासिक प्रकाशन)	[illegible] रु० (वार्षिक)	पत्रिका नवम्बर, फरवरी, मई और अगस्तमें साधारण डाकसे भेजी जाती है।

इसके अतिरिक्त संस्थाकी प्रत्येक प्रवृत्ति तथा उसके द्वारा होनेवाले आयोजनों तथा प्रकाशनोंकी सामयिक सूचना भी प्रत्येक सदस्यको दी जायगी।

सहयोग :—(१) आपसे अनुरोध है कि आप अपने सामर्थ्य और औदार्यको लक्ष्यमें रखकर ट्रस्टके किसी भी श्रेणीके सदस्य बनकर संस्थाको अधिक कार्यक्षम बनाइये।

(२) इतने उच्चकोटिसे दार्शनिक और आध्यात्मिक साहित्यके प्रचार-प्रसारमें आप इस प्रकार भी सहयोग दे सकते हैं :—

(क) पुस्तकें खरीदकर पढ़िये और पढ़ाइये।

(ख) पुस्तकें खरीदकर पुस्तकालयों, विद्वानों, महात्माओं एवं अपने मित्रोंको उपहारमें दीजिये।

(ग) त्रैमासिक **'चिन्तामणि'**के ग्राहक बनिये और औरोंको बनाइये।

(घ) त्रैमासिक **'चिन्तामणि'**में विज्ञापन द्वारा आर्थिक सहयोग प्राप्त किया जाता है। आप भी अपना विज्ञापन प्रकाशित करवाइये। विज्ञापन चार अंकोंमें प्रकाशित किया जाता है। विवरण निम्नलिखित हैं :—

विवरण			रुपये
(i) विशेष पृष्ठ साइज $५\frac{१}{२}'' \times ८\frac{१}{२}''$		...	१२००.००
(ii) कवर अन्तिम (चौथा) पृष्ठ		...	१०००.००
(iii) कवर दूसरा पृष्ठ	...	...	७५०.००
(iv) कवर तीसरा पृष्ठ	...	...	७५०.००
(v) पूरा पृष्ठ	....	...	५००.००
(vi) आधा पृष्ठ $५\frac{१}{२}'' \times ४''$	....	....	३००.००

(३) ऐसा करनेके लिए अपने मित्रोंको प्रेरित कीजिये।

(४) सत्सङ्ग-कार्यक्रमोंमें पधारिये और परिचितोंको साथ लाइये।

स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(५) सत्सङ्ग-आयोजनों तथा प्रकाशनोंमें आर्थिक सहयोग सहर्ष स्वीकारा जाता है। आप अपनी श्रद्धा और रुचिके अनुसार एक अथवा सभी कार्योंमें उत्साह बढ़ाइये।

निवेदन

'चिन्तामणि' एवं संस्थाके प्रकाशनोंको आप अपने मित्रों-परिचितोंमें विविध प्रकारसे प्रसारित कर सहयोग दें।

पुस्तकें वी० पी० पी० से मँगवानेके बजाय स्थानीय पुस्तक-विक्रेतासे प्राप्त कीजिये। यदि आपके शहरमें संस्थाके प्रकाशन उपलब्ध नहीं होते तो पुस्तक-विक्रेताको प्रोत्साहित कीजिये। वी० पी० से पुस्तकें मँगवानेसे वी० पी० पोस्टेज ग्राहकोंसे लिया जाता है।

सूचीमें अंकित (   ) प्रकाशनोंका नवीन संस्करण होना है अतः उपलब्ध नहीं हैं। कृपया आर्डर न भेजें।

पुस्तकोंकी प्राप्तिके लिए तथा पत्रव्यवहारके लिए निम्नलिखित पतेका ही प्रयोग करें :

—: प्रधान कार्यालय :—

सत्साहित्य-प्रकाशन (पब्लिकेशन) ट्रस्ट

'विपुल', २८/१६, बी. जी. खेर मार्ग, मलाबार हिल, बम्बई–४०० ००६

फोन : ३६७९७६

—: शाखा कार्यालय :—

आनन्द-कानन

सी-के० ३६/२०, ढुण्ढिराज,

वाराणसी–२२१००१

फोन : ६२६८३

श्रीकृष्णाश्रम

दावानलकुण्ड-वृन्दावन

(मथुरा)

फोन : ४४

❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

पूज्यपाद स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

द्वारा विरचित

वेदान्त-उपनिषद् :

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम-प्रकरण)	१०.००
२. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (वैतथ्य-प्रकरण)	७.५०
३. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (अद्वैत-प्रकरण)	४.५०
४. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (अलातशान्ति-प्रकरण)	( )
५. कठोपनिषद्-प्रवचन, भाग १	९.००
६. कठोपनिषद्-प्रवचन, भाग २	१२.००
७. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६.००
८. मुण्डक-सुधा	३.७५
९. ब्रह्मसूत्र प्रवचन—१	१०.००
१०. ईशावास्य-प्रवचन	( )
११. स्पन्द-तत्त्व	० ४५

गीता :

१. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
२. कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
३. ध्यानयोग (छठा अध्याय)	६.००

४. ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय) ६.००
५. विभूतियोग (दसवाँ अध्याय) ५.२५
६. भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय) ६.००
७. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (तेरहवाँ अध्याय) ९.७५
८. पुरुषोत्तम योग (पन्द्रहवाँ अध्याय) (   )

साधना-सम्बन्धी :

१. साधना और ब्रह्मानुभूति ५.२५
२. श्री उड़िया बाबा और मोकलपुरके बाबा ०.३०
३. चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान (मराठी) १.५०
४. आत्मबोध ३.००
५. आनन्दवाणी, भाग ३ और ४ (दूसरा संस्करण) १.५०
६. आनन्दवाणी, भाग ६ (   )
७. आनन्दवाणी, भाग ५ (गुजराती) २.२५

भक्ति-भागवत :

१. नारद-भक्तिदर्शन ९.००
२. भक्ति-सर्वस्व ७.५०
३. गोपीगीत (   )
४. वेणुगीत ३.००
५. गोपियोंके पाँच प्रेमगीत (तीसरा संस्करण) ०.४०
६. श्रीभक्तिरसायनम् (संस्कृत) १२.००
७. श्रीभक्तिरसायनम्-प्रपा (संस्कृत) ३.००
८. श्रीमद्भागवत-रहस्य ३.७५
९. श्रीमद्भागवत-रहस्य (सिन्धी) (   )
१०. मानव-जीवन और भागवत-धर्म ४.५०
११. व्यवहार और परमार्थ ३.७५
१२. कपिलोपदेश ३.७५

१३. भागवत-विचार-दोहन (दूसरा संस्करण)	३.००
१४. भगवान्‌के पाँच अवतार	( )
१५. मोहनकी मोहिनी (गुजराती)	( )
१६. आनन्दवाणी, भाग ७	१.५०
१७. ज्ञान-निर्झर (तीसरा संस्करण)	०.५५
१८. माधुर्य-लहरी (स्वामी सनातन देव जी विरचित)	२.००
१९. माधुर्य-मंजूषा ” ” ”	३.००
२०. माधुर्य-मयंक ” ” ”	( )
२१. माधुर्य-मकरन्द ” ” ”	( )
२२. भगवन्नाम-कौमुदी और कुछ निष्कर्ष (दूसरा संस्करण)	( )
२३. आनन्दवाणी—भाग १०	( )
२४. राम शताब्दी-स्मृति	२०.००
२५. महाराजश्री : एक परिचय	१.००
२६. दिव्य-जीवन : एक झांकी (गुजराती)	१.९०
२७. महाराजश्री : एक परिचय (सिन्धी)	( )
२८. Glimpses of life Divine	1.50
२९. An introduction to a realised Soul	0.40
३०. Ideal and Truth	5.25
३१. Import of the Impersonal	0.30